॥ श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रंथाः ॥

(विविधटीकोपेताः)

प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट,
वैभव को-ओपरेटिव्ह सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र.

संकलनकार : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : वि.सं.२०७१, शरत्पूर्णिमा.

प्रति : ५००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक :
रमा आर्ट्स,
४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.
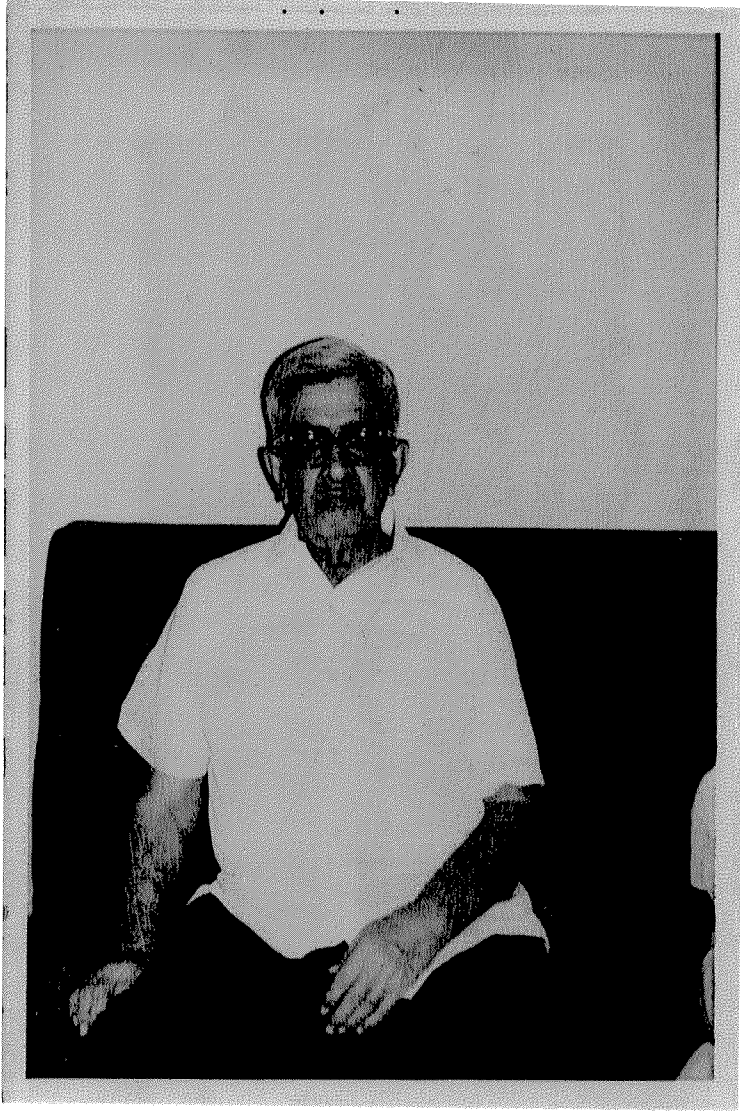
डॉ.परमानन्द छतपर

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्राक्कथन

अनन्यवल्लभा काचिद् गतिर्वाङ्मनसो ध्रुवा॥
श्रीकृष्णं वल्लभं कृत्वा वल्लभोऽभावयत् सृतिम्॥ १॥
पितृ-प्रवर्तित-पथ-प्रचार-सुविचारकः॥
चकार विट्ठलो वर्त्म तद् हरेः प्रियम् अद्भुतम्॥ २॥
तत्प्रियाः पुष्टिजीवाः वै पुष्टिजीवप्रियो हरिः॥
द्वावप्येतौ प्रियौ याभ्यां तौ ह्येतौ जनकात्मजौ!॥ ३॥
पुष्टिमार्गप्रियोऽहञ्च जातो हि यदनुग्रहात्॥
तस्य पादतलं वन्दे दीक्षितस्य पितुर्मम॥ ४॥

(श्रीमत्प्रभुचरणविट्ठलनाथगोस्वामी)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणका प्राकट्य वि.सं.१५७२ में पौषकृष्णा ९मी हस्तनक्षत्र शुक्रवारको, गंगाको उत्तरवाहिनी बनानेवाले, चरणाद्रिकी उपत्यकामें महाप्रभुके निवासके समय हुवा. जन्मोत्सवके समय ही किसी रामानुजब्राह्मणने अपने आराध्य पांडुरंग श्रीविट्ठलनाथका देवविग्रह महाप्रभुको सोंपना चाहा सो अपने आत्मजका भी 'विट्ठलनाथ' ही नाम निर्धारित किया गया.

आपका बालकाल्य और विद्यार्जन प्रयागराजमें त्रिवेणीसंगमसे पूर्व यमुनातटपर अवस्थित 'अडैल' नामक ग्राममें हुवा. आपने विद्याध्ययन केवलाद्वैतके प्रमुख स्तम्भोपम विद्वान् श्रीमधुसूदन सरस्वतीके पास किया ऐसा उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है. अतएव श्रीमधुसूदन सरस्वतीके स्वहस्ताक्षरोंमें लिखित मूलहस्तप्रतिको देखनेका सौभाग्य साम्प्रदायिक ग्रन्थागारमें प्रस्तुत लेखकको द्वितीयपीठाधीशके सौजन्यवश प्राप्त हुवा. श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके विभिन्न चरित्रग्रन्थोंके अनुसार मोगलोंके उत्तरभारतमें पदाक्रमणके समय उक्त अडैलसे गढ़ा (जबलपुर), बादमें वहां गढ़ापर भी बादशाह अक़बरके आक्रमण और महारानी दुर्गावतीके साथ युद्धकी सम्भावनाके वश पुनः अडैल आगमन. वहांसे पुनः गढ़ाकी महारानी दुर्गावतीद्वारा बनवाये गये सतघरा (मथुरा) में कुछ कालके लिये निवासके इतिवृत्तकी

तरह, अन्तमें गोकुलमें स्थायिरूपेण बस जानेके कारण इनके चरित्रेतिहासके चार कालखंड बनते हैं. वैसे इन स्थानोंपर गृहविधानसे निवास करते हुवे भी, भारतवर्षके सभी प्रदेशोंमें निरन्तर यात्राद्वारा महाप्रभुके साकारब्रह्मवादी चिन्तनपर अवलम्बित पुष्टिभक्ति-प्रपत्तिका प्रचार-प्रसार सुदीर्घ ७२ वर्ष पर्यन्त प्रभुचरणने किया था. अतएव आपके पंचमात्मज श्रीरघुनाथजी 'नामरत्नस्तोत्र'में **''पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः''** (नाम.स्तो.१२) नामसे प्रभुचरणका वर्णन करते हैं. वैसे महाप्रभुकी भारतयात्राके अन्तर्गत ८४ बैठकों(स्वल्पकालिक अस्थायी निवास)की तुलनामें प्रभुचरणकी बैठकोंकी संख्या २८ ही हैं, जिनमें १६ तो स्वयं व्रजभूमिमें ही हैं. यमुनातटपर, नामशः, एक सन्ध्यावन्दनकी आपके आराध्य विग्रह श्रीनवनीतप्रियके मन्दिरमें और दूसरी श्रीनवनीतप्रियजीको पालनेमें झुलानेकी यों दो बैठक तो गोकुलमें ही हैं. एतावता धर्मोपदेशार्थ या उसके प्रचार-प्रसारार्थ प्रभुचरणने परिभ्रमण कम नहीं किया था. द्वारकापुरी और जगन्नाथपुरी की अनेक यात्राके भी वृत्तान्त मिलते हैं. वाल्लभ सम्प्रदायके दार्शनिक धार्मिक या साहित्य ही नहीं; अपितु, भक्तिमार्गीय संगीत काव्य चित्र चरित्राख्यान पाककला साजसज्जा पुष्पमाला वस्त्राभूषण आदि अनेक ललितकलागत जो पुष्टिसम्प्रदायका साधारणेतर सर्वानुकरणीय वैशिष्ट्य आजतक दृष्टिगत होता है, वह सभी कुछ प्रभुचरणके स्वयं अनुष्ठानान्वित एवं अन्योंसे अनुष्ठापित करवानेके कारण है. कृष्णसेवारते श्रीमद्विट्ठलेशे हि गोकुले तदन्तेवासिनो मुक्ताः मुक्त्याकांक्षाविसर्जनात्! जैसे व्याकरणशास्त्र 'त्रिमुनि' माना गया है वैसे वाल्लभ सम्प्रदायको भी द्व्याचार्यक मानना अतिशयोक्ति नहीं है.

काशीस्थ श्रीविश्वनाथ भट्टकी आत्मजा श्रीरुक्मिणीजीके साथ वि.सं.१५८८ में ज्येष्ठबन्धुद्वारा करवाये गये प्रथमविवाहके बाद वि.सं.१६१९ पर्यन्त आपको छह पुत्रसन्तती और चार पुत्रिसन्तती हुयी. गढ़ाकी महारानी दुर्गावतीके श्रद्धानुरोधवशात् श्रीरुक्मिणीजीके भगवल्लीलाप्रवेशके बाद द्वितीय विवाह वहींकी श्रीपद्मावतीजीके साथ हुवा. इनसे सातवें पुत्र श्रीघनश्यामजीका प्राकट्य हुवा. आठवें धर्मपुत्र अपने सात आत्मजोंके साथ प्रभुचरणके घरमें पालित-लालित श्रीतुलसीदास लालजी 'लालदास' थे. ये अपने धर्मपिताकी आज्ञा पा कर सिन्धप्रदेशमें भक्तिमार्गके प्रचार-प्रसारार्थ जा बसे थे.

प्रभुचरणके द्वारा विरचित साहित्यका विभाजन मौलिक और व्याख्यारूप यों दो प्रकारसे करनेपर उसका विहंगावलोकन अधोनिर्दिष्ट सारणीके आधारपर किया जा सकता है :
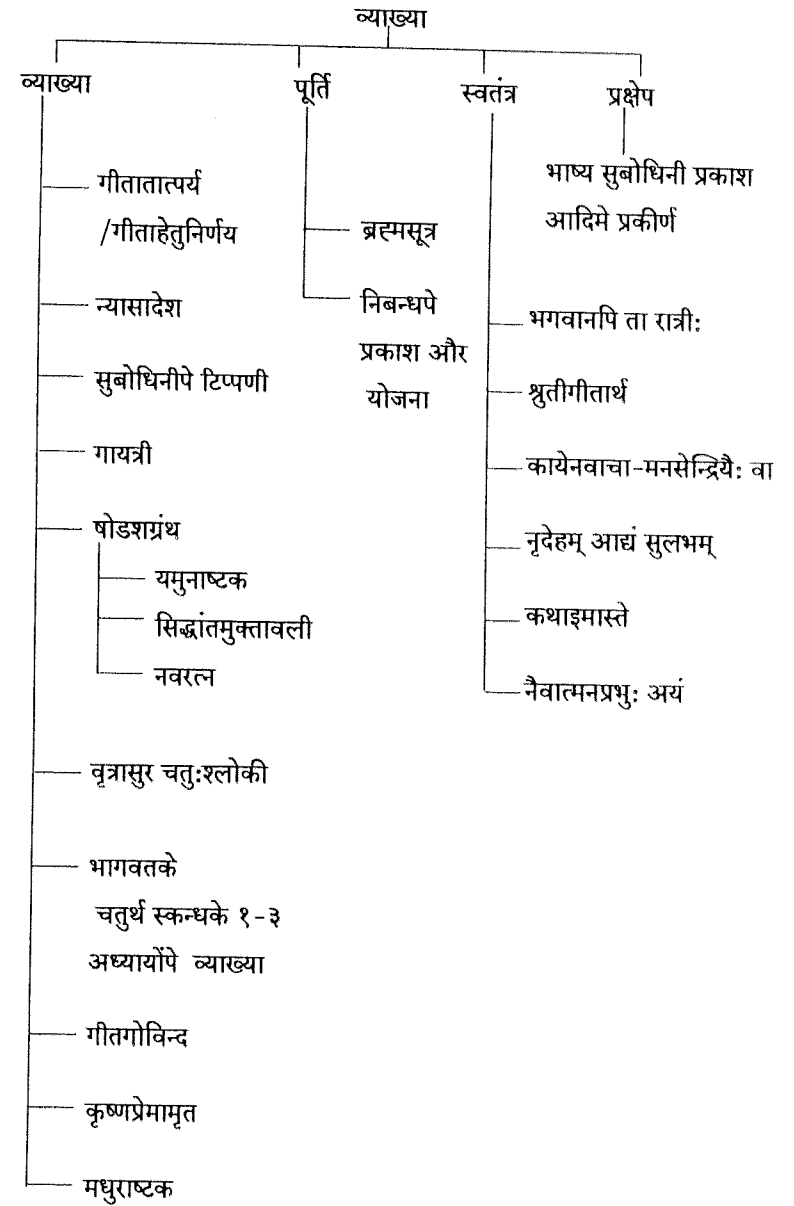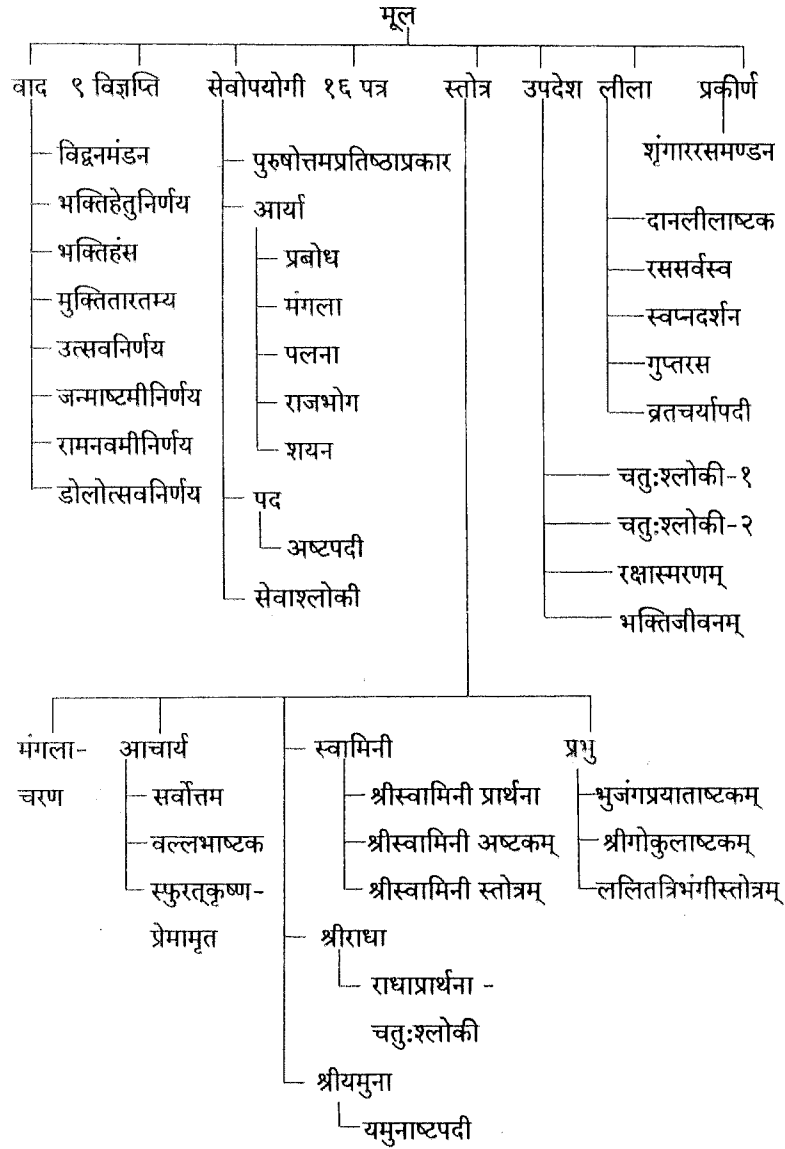
वि.सं.२०३५ में श्रीवल्लभपंचशताब्दिको उत्सवतया मनानेके संकल्प या मनोरथ के रूपमें महाप्रभुके सभी ग्रन्थोंका प्रकाशन सोचा गया था. वह तो अभी तक पूर्ण न हो पाया. इस बीचमें वि.सं.२०७१ वें वर्षमें श्रीविठ्ठलपंचशताब्दि भी आ गइ है!

यद्यपि कुछ दु:साध्य होनेपर भी महाप्रभुकी कतिपय आज्ञा अध्ययन-प्रवचनादिके कारण बुद्धि और हृदय में तो भलीभांति आरूढ़ हैं ही, चाहें व्यवहारमें कभी-कभाक निभ न पाती हों! मेरे फलितज्योतिषके गुरुजीद्वारा मेरे आयुयोगके ७२ वर्ष तो दो वर्ष पूर्व मिथ्यापित कर चुका हुं. फलितज्योतिषमें, वैसे तो मुझे, न अब रुचि है और न श्रद्धा ही! फिरभी महाप्रभुके—

"त्रिदु:खसहनं धैर्यम् आमृते: सर्वत: सदा".
"चित्तोद्वेगं विधायापि हरि: यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीला इति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्".
"अशक्ये हरिरेव अस्ति मोहं मा गा: कथञ्चन".

इन वचनोंमें श्रद्धा रखनेपर भी पुष्टिप्रभुकी वैसी कृपाका मैं अधिकारी पात्र हुं या नहीं निर्णय न हो पानेके कारण बहुधा एक विचार हृदयमें कौंध जाता है : इन पिता-पुत्रका सकल साहित्य मेरे जीवनकालमें प्रकाशित हो पायेगा कि नहीं! और तब अदम्य अधीरता प्रकट हो जाती है. कुछ ऐसी ही अधीरता बरतते हुवे प्रभुचरणके साहित्यमें भगवत्सेवोपयोगी रचनाओं तथा अन्य भी कतिपय लघुग्रन्थों को प्रकाशित कर देनेका यह मेरा साहस या उद्यम है. मुझे मालूम है कि यहां सुनियोजित शैलीका निर्वाह हो नहीं पाया है. फिरभी *"यत् शक्यं तत् कुर्यात्!"* नीतिका अनुसरण करना चाहा है. सो जिस भाषामें मुझसे या प्राचीन विद्वानोंके द्वारा लिखित प्रभुचरणके सेवोपयोगी ग्रन्थोंपर जो भी साहित्य उपलब्ध हुवा या तैयार हो पाया वह संकलित हुवा है. इन्हें श्रीविठ्ठलपंचशताब्दिकी पूर्तिमें प्रभुचरणके अभिवन्दनतया और अस्मदीयोंके अभिनन्दनतया प्रकाशित कर देना उचित लग रहा है!

[प्रस्तुत संकलनमें प्रकाश्यमान साहित्य]

अतएव प्रभुचरणके जिन ग्रन्थोंपर प्राचीन महानुभावोंके संस्कृत या व्रजभाषा में व्याख्यान मिले नहीं तो स्वयं मेरे ही संस्कृत हिन्दी या व्रजभाषा में लिखित व्याख्यान या ग्रन्थपरिचयों को भी यहां संकलित कर लिया है. यथा—

(१.श्रीयमुनाष्टपदी सव्याख्या)

यह अष्टपदी स्वमार्गीय सेवाप्रणालीके अनुसार ज्येष्ठशुक्ला पूर्णिमाके दिन शृंगारदर्शनमें सम्मुखमें गायी जाती है. बड़ोंके मुखसे ऐसा भी सुना है कि भगवान्की झारी भरते समय इसके आद्यश्लोकका पाठ करना चाहिये. वैसे प्राय: यमुनाष्टक या अन्य कुछ दोहराते हुवे लोगोंको देखा है. इस ग्रन्थपर श्रीरघुनाथजीकृत विवरण पहले भी प्रकाशित हो चुका है. प्रस्तुत संस्करणमें, परन्तु, छह मातृकाओंके आधारपर पाठसंशोधन किया गया है. इनका विवरण ग्रन्थान्तमें संलग्न है. जिन्हें उपलब्ध करानेवाले सभी महानुभावोंके हम हार्दिक कृतज्ञ हैं.

(२.प्रबोध: सान्वय:)

यह प्रबोध चम्पुशैलीमें सेव्यप्रभुके जागरणार्थ मधुरोद्बोधनके रूपमें रचा गया है. मूलरूपमें 'बृहत्स्तोत्रसरित्सागर'में पहले भी एकाधिक बार यह प्रकाशित हुवा ही है. प्रस्तुत संस्करण अन्य ३ हस्तलिखित मातृकाओंके आधारपर मोटा मन्दिरके चि.मन्दारबावाके सौजन्यवश संशोधित पाठवाला है. इसके साथ जो 'प्रबोधपद्यान्वय' प्रकाशित हो रहा है वह श्रीगोकुलोत्सवजीकृत है. इसकी हस्तलिखित मातृका मांडवी और कामवन से प्राप्त हुई. इन श्रीगोकुलोत्सवजीके द्वारा लिखा गया अन्य भी व्याख्यासाहित्य विपुल है.

(३.मंगलारार्तिकार्या व्याख्याचतुष्टयोपेता)

प्रभुचरणद्वारा विरचित मंगलारार्तिकार्याका स्वमार्गीय सेवाप्रणालीमें असाधारण महत्त्व है. जैसे 'पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार' ग्रन्थके अनुसार पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवार्थ मूर्तिमें पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा विहित थी, वैसे ही वचनविहित न होनेपर भी सेव्यप्रभुकी नित्यसेवामें तथा जन्माष्टमीसे प्रारम्भ होनेवाली

वार्षिकी सेवामें भी व्रजलीलाकी प्रतिष्ठाके प्रयोजनवश इस ग्रन्थकी रचना हुयी लगती है. इसके अलावा सेव्यप्रभुकी प्रातःकालीन मंगलाकी आरती भी इसके उपांशु उच्चारणके साथ करनेकी परिपाटी है. मुझे भ्रान्ति थी इसपर कोई व्याख्यासाहित्य निर्मित नहीं हुवा. सो यथामति लिखनेका प्रयास किया. तभी महानुभाव श्रीहरिरायजीके नामसे लिखित श्रीगोकुलनाथजीकी संस्कृतव्याख्याका व्रजभाषानुवाद प्रिय श्रीबालकृष्णभाई (पार्ला-मुंबई) के व्यक्तिगत संग्रहमें से उनके उदारभाववश मुझे उपलब्ध हो गया. इससे उत्साहित हो कर खोजबीन करनेपर दो अन्य एक व्रजभाषा और संस्कृत के व्याख्यान भी अज्ञातकर्तृक और उपलब्ध हुवे. सब मिला कर अब दो संस्कृत और दो व्रजभाषा में लिखित यों चार व्याख्याओंके साथ यह प्रकाशित हो रहा है. इनमें प्रस्तुत लेखककी जो 'वर्तिकाद्युति' व्याख्या सम्मिलित है.

(४.'विधुमधुरानन मानद'पदव्याख्याद्वयी)

प्रस्तुत प्रभुचरणविरचित संस्कृतभाषामें रचित पद वैसे तो शृंगाररसमण्डनके अन्तर्गत योजित है. फिरभी स्वमार्गीय सेवाप्रणालीमें इसे व्रतचर्याके पदोंके गानके प्रारम्भमें शीतकालमें मंगलादर्शनमें गाये जानेकी परिपाटी है. उसी प्रयोजनवश व्रजगोपकुमारिकाओंके मुखोद्‌गत गीतके रूपमें यह निर्मित भी हुवा है. इसपर दो व्याख्या उपलब्ध हैं : एक श्रीरघुनाथजीकी और दूसरी श्रीबालकृष्णजीके पौत्र श्रीद्वारकेशात्मज श्रीगिरिधरजीकी. ये दोनों इदम्प्रथमतया प्रकाशित हो रही हैं.

(५.प्रेंखपर्यंकषट्पदीविवृत्तिः संस्कृतव्रजभाषाद्वयोपेता)

प्रस्तुत पद्य प्रभुचरणद्वारा विरचित है. जिन घरोंकी भगवत्सेवाप्रणालीमें प्रतिदिन भगवान्‌को पालनेमें झुलाया जाता है वहां यह प्रतिदिन गाया जाता है. जिन घरोंमें जन्माष्टमी या जन्माष्टमीसे राधाष्टमी पर्यन्त पालनेमें झुलानेकी परिपाटी है, वहां वैसे गाया जाता पद्य है. यह मूलमात्र तो अनेकधा प्रकाशित होता ही रहता है. परन्तु इसपर दो व्याख्या एक संस्कृत और दूसरी व्रजभाषा में जो उपलब्ध हैं, उनके साथ यहां प्रकाशित किया जा रहा है. इनमें संस्कृतव्याख्या अस्सी-नब्भे वर्षपूर्व भी 'वेणुनाद' मासिकपत्रिकामें प्रकाशित हुयी थी. यहां, परन्तु, उस पाठको अन्य भी कोटा आदिके ग्रन्थागारोंमें उपलब्ध मातृकाओंके

आधारपर तुलनात्मकरीतिसे संशोधित किया गया है.

(६.श्रीप्रभुचरणकृत-'लालयति'पदमूलमात्रम्)

यह लघुपद्य 'बृहत्स्तोत्रसरित्सागर' और अनेकानेक कीर्तनकी पुस्तकों में अनेकधा प्रकाशित है. इसपर कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं होती.

(७.राजभोगारात्रिकार्यावर्तिकादीप्तिः)

प्रस्तुत राजभोगारार्तिकार्याकी रचना कहा जाता है कि प्रभुचरणने अपने जनक महाप्रभुकी विद्यमानतामें की थी. इसपर कोई व्याख्या उपलब्ध न होनेसे प्रस्तुत लेखकने एक 'वर्तिकादीप्ति' विस्तृत व्याख्या लिखी है. वैसे व्याख्या उतनी विस्तृत नहीं जितना कि उपोद्‌घात विस्तृत है. यह प्रस्तुत लेखककी स्वभावगत विवशता है, जिसपर संयम दुष्कर है! अतः इसके औचित्यानौचित्यका विमर्श करने भी मैं स्वयं न तो उद्यत हूं और न उसका कोई औचित्य भी लगता है *"स्वभावो दुरतिक्रमः!"*.

(८.वसन्त-अष्टपदीकी व्रजभाषा)

इसपर एक व्रजभाषाकी व्याख्या अज्ञातकर्तृक उपलब्ध होती है. शेष कुछ भी जानकारी इस बारेमें उपलब्ध नहीं. वैसे प्रस्तुत लेखकके पिता गोस्वामिश्रीदीक्षितजीकी एक प्रति व्याख्या हस्तलिखित मेरे संग्रहमें तो थी पर न जाने कहां वो खो गयी. स्वनामधन्य श्रीवाडीलाल नगीनदास शाह एड्वोकेट या श्रीनाथालाल शाह जो मेरे पिताजी मित्रगणोंमें अन्यतम थे, सम्भवतः इन दोमें से किसी एकने लिपिबद्ध की थी. उसमें श्रुतिवचनोंके साथ पदमें आनेवाले वचनोंका समन्वय दरसाया गया था. ऐसा स्वयं पिताजीके मुखसे भी अनेक बार सुना था.

(९.शयनारार्तिकार्यादीपशीखा)

इस शयनारार्तिकार्या पर प्रस्तुत लेखककी व्याख्या इदम्प्रथमतया प्रकाशित हो रही है. यह भी पुनः उपोद्‌घातव्याख्यानशौर्यरूपा है. शेष जैसा कि व्याख्यामें स्वीकार ही लिया गया है : सुबोधिनीके अवगाहनद्वारा अवलोकनीय है.

प्रसंगोपात्त यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि एक अन्य जो 'सन्ध्यारार्तिकार्या' नाम्ना प्रभुचरणद्वारा विरचित मानी जाती है, वह भाषा और भाव दोनोंके अवलोकन करनेमात्रसे, नि:सन्दिग्धतया स्वयं प्रभुचरणकी स्तुतिके रूपमें विरचित लगती है. अत: यह न तो सन्ध्यारार्तिकार्या है और न प्रभुचरणद्वारा रचित ही.

(१०.चतुश्श्लोकी)

यह प्रस्तुत लेखकद्वारा रचित प्रागूरूप और भावानुवाद के साथ प्रकाशित हो रही है. महाप्रभुविरचित चतुश्लोकीसे इसका पार्थक्य या वैशिष्ट्य है. वह यह कि प्रथम पुष्टिभक्तिके आदर्शरूप धर्मार्थकाममोक्षके निरूपणार्थ है जबकि यह आधुनिक पुष्टिजीवोंके धर्मार्थकाममोक्षके विवेचनार्थ है.

(११.रक्षास्मरणम्)

यह 'रक्षास्मरण' नामक लघुग्रन्थ भाषा और भाव को निहारनेपर नि:सन्दिग्तया किसी स्वकीयको प्रभुचरणद्वारा लिखा गया पत्र ही सिद्ध होता है. फिरभी इसमें कुछ अतीव महत्त्वपूर्ण उपदेश जो अन्यत्र कहीं नहीं ऐसे इसमें पढ़े जा सकते है. अत: यहां संकलन वांछनीय लग रहा है. यद्यपि इसपर व्याख्या लिखनेको मन अतिशय लालायित है परन्तु एक अन्य 'श्रीविट्ठलनाथलिखितपत्रसंग्रह' नामक आगामी वर्षमें प्रकाश्य होनेसे प्रभुकृपया शक्य हुवा तो लिखना ही है. तब मनोरथसंपूर्ति हो जायेगी. अभी तो मूलमात्र यहां प्रकाशित हो रहा है.

(१२.श्रीगीतात्पर्यम्)

श्रीमद्भगवद्गीतापर प्रभुचरणद्वारा कोष्ठक (   ) के जैसे दो ग्रन्थ रचे गये हैं. उनमें कोष्ठकादिरूप यह 'श्रीगीतातात्पर्य' है और कोष्ठकान्तरूप 'न्यासादेशविवरणम्' है. यह पहले भी अनेक बार प्रकाशित हो चुका है फिरभी भगवद्गीताके साकारब्रह्मवादमूलक पुष्टिमार्गीय सन्दर्भको हृद्गत करनेमें उपकारक होनेसे यहां संकलित किया गया है.

(१३.मुक्तितारतम्यनिर्णय:)

यह ग्रन्थ ई.स.१९१४ में अर्थात् ठीक सौ वर्ष पूर्व श्रीगट्टुलालाजीकी ग्रन्थागारीया मासिकपत्रिका 'पुष्टिभक्तिसुधा' वर्ष ३ अंक १२ में प्रकाशित हुवा था. उसे चिरञ्जीवी गोस्वामी श्रीशरद् द्वारा आयोजित साम्प्रदायिक विचारसंगोष्ठीमें प्रस्तुत करनेको विभिन्न ग्रन्थागारोंमें उपलब्ध होती मातृकाओंके तुलनात्मक पाठनिर्धारण, भावानुवाद तथा आलेखपत्र के साथ प्रस्तुत सम्पादक-लेखकने तैयार किया था. उसे पुन: यहां संकलित किया जा रहा है. इसकी विभिन्न मातृकाओंका विवरण ग्रन्थान्तमें संलग्न है.

(१४.भक्तिजीवनम्)

जैसे महाप्रभुरचित 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थ मार्गत्रयीके मौलिक प्रमाण प्रमेयरूप मार्गस्वरूप, उनके जीव-देह-क्रियाप्रभेद और फलोंके निरूपणार्थ है, वैसे ही प्रस्तुत प्रभुचरणकृत यह 'भक्तिजीवनम्' आधुनिक स्थितिके वर्णनार्थ है. यह भी प्रथम तो पूर्वोक्त 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिकके ३रे वर्षके १२वें अंकमें वि.सं.१९१७ में श्रीवाडीलालने प्रकाशित करवाया था श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित करवा कर. इसे पुन: मूल, भावानुवाद तथा प्रस्तुत लेखकके सम्पादकीय के साथ यहां योजित किया जा रहा है.

(१५.'अस्मत्कुलं निष्कलंकं' सव्याख्यम्)

षोडशग्रन्थान्तर्गत 'सिद्धान्तरहस्य'में महाप्रभुद्वारा निजकण्ठोक्त "**साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तद् अक्षरश: उच्यते : ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयो: सर्वदोषनिवृत्ति:**"पर अखण्ड श्रद्धा-विश्वास-निष्ठाके वश प्रभुचरण सर्वोत्तमस्तोत्रमें नि:संकोच "**स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य:**" निजजनकका नाम घोषित कर पाये! उसमें हेतुतया प्रस्तुत 'अस्मत्कुलं निष्कलंकम्'की रचना की गयी हो यह सहज सम्भव लगता है. इस निष्कलंकतामें हेतु भी स्वयं ग्रन्थकारने सुस्पष्ट शब्दोंमें दिया ही है "**नम: पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात्... श्रीकृष्णेन आत्मसात् कृतम्**"! यह कैसा हमारा दुर्भाग्य है कि प्रतिज्ञावचन याद रह गया और हेतुवचन भुला दिया गया! स्वसम्प्रदायमें आधुनिक अन्धानुगान्ध हम सभीको स्ववंशमें अशेषमाहात्म्यकी स्थापना और निष्कलंकता तो याद रह गयी परन्तु ब्रह्मसम्बन्धोत्तर लाभपूजाकी मनोवृत्तिसे रहित भगवत्सेवामय निष्कलंक समर्पितजीवन जीनेकी

कोई आवश्यकता अनुभूत ही नहीं होती! यह तो शिरश्छेदनोत्तरोष्णिग्धारणमोहकी ही विडम्बना है! अत: यह ग्रन्थ एक सनदी महत्त्वका ग्रन्थ लगता है. अन्यथा प्रस्तुत ग्रन्थमें निर्दिष्ट भगवच्चरणचिन्ह जो भगवदनुभाव प्रकट कर रहे हैं उनका अवान्तरव्यापार हमारे भीतर प्रकट न होता हो तो हम महाप्रभूपदिष्ट शिक्षाश्लोकीके ही अधिकारी बच जाते हैं सर्वोत्तमस्तोत्र या अस्मत्कुलं के वर्ण्यविषयके वर्तुलसे बहिर्भूत ही. जैसा कि सर्वोत्तमस्तोत्रके प्राचीन व्याख्याकारोंने स्वीकारा भी है और जैसा कि प्रस्तुत 'अस्मत्कुलं...' के व्याख्याकार भी स्वीकारते ही हैं. यह मूलमात्र 'ललितत्रिभंगस्तोत्र' नाम्ना पूर्वोक्त 'बृहत्स्तोत्रसरित्सागर'में एकाधिक बार प्रकाशित हो ही चुका है. यहां परन्तु मांडवी कोटा कामवन के ग्रन्थागारोंमें उपलब्ध व्याख्याकी मातृकाकी प्रतियोंके साथ संवादित करके प्रकाशित किया जा रहा है.

(१६.श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणप्रकटितसेवाश्लोका:)

पूर्वमीमांसाके महर्षिजैमिनिसूत्रोंमें **''विधिमन्त्रयो: ऐकार्थ्यम् ऐकशब्द्यात्, अपिवा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रो अभिधानवाची स्यात्, तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मणशब्द:''** (जैमि.सू.२।१।३०-३३) ऐसा पृथक्करण वेदके मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग के बीच दरसाया गया है. ऐसा परन्तु तैत्तिरीय शाखामें सुस्पष्ट विभाजन उपलब्ध नहीं होता. कर्मके स्वरूपबोधक मन्त्र तथा कर्मके कर्तव्यताके विधायक आदेश परस्पर संकीर्ण ही उपलब्ध होते हैं.

कुछ अपनी शाखाकीय शैलीके अनुरूप प्रभुचरण भी भगवत्सेवारूप कर्मके स्वरूपबोधक श्लोक तथा कर्तव्यबोधक विधायक वचन एकहेलया इस ग्रन्थमें प्रकट कर रहे हैं.

यहां उल्लेखनीय हो जाता है कि श्रौत कर्मोमें जैसे मन्त्ररहित कर्मानुष्ठान अद्विजोंको अनुमत होनेपर भी द्विजोंके लिये कर्मवैयर्थ्यापादक हो जाता है. ऐसी मन्त्र और विधि के बन्धनवाली धर्मरूपता पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें भी स्वीकारनेपर तो **''सेवा मुख्या नतु पूजेति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद् इति आशयेन आह 'स्वयं परिचरेद् भक्त्या' इति. धर्मार्थतां व्यावर्तयति 'भक्त्या' इति''** (त.दी.नि.२।२३७) महाप्रभुद्वारा उपदिष्ट आदर्शका

निर्वाह शक्य नहीं रह जायेगा. ऐसी स्थितिमें प्रस्तुत सेवाश्लोकोंमें उपदिष्ट तत्तत्सेवाके बारेमें जो भाव उपदिष्ट हुवे हैं उनके भावन-उच्चारणमें 'अकरणे प्रत्यवाय'न्याय स्वीकारते हैं तो इनमें यमुनाष्टपदी प्रबोध मंगलारार्तिकार्या आदि पद्योंका मन्त्रात्मक अंगतया निरूपण न होनेसे अनुच्चारणीय या अगेय मानना पड़ेगा. अन्यथा अन्य सेवाकर्ता, अन्य पदगायक अन्य श्लोकोच्चारणकर्ता अन्य तथा विधिवचनोद्बोधक (Director or Conductor) कोई अन्य यों याजक ऋत्विजोंमें जैसे अध्वर्यु होता उद्गाता प्रस्तोता ब्रह्मा और यजमान आदिके अनेक प्रभेद होते हैं वैसे पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाको भी अनेक कर्ताओंद्वारा सम्पन्न हो पानेवाली क्रिया माननी पड़ेगी! ऐसी स्थितिमें **''भार्यादि: अनुकूल: चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् उदासीने स्वयं कुर्याद्''** (त.दी.नि.२।२३१) आदेश तो अशक्योपदेश ही सिद्ध हो जायेगा.

पुष्टिमार्गमें तनुवित्तजा भगवत्सेवाके तनुजा वित्तजा और मानसी रूप वानरेष्ट प्रभेदत्रयी ही नहीं प्रत्युत तनुजाके अन्तर्गत मुखजा नेत्रजा कर्णजा करजा चरणजा प्रभेद; और, वित्तजाके अन्तर्गत स्ववित्तजा परवित्तजा उत्तमर्णजा अधमर्णजा न्यासजा उत्कोचजा आदि अनेकविध हास्यास्पद प्रभेद खड़े हो जायेंगे! अन्तमें ऐसे प्रभेद भगवत्सेवाको भक्तिभावजा तो रहने ही न देंगे!

एक सामुदायिक अनुष्ठान बन कर केवल सामुदायिक धर्मरूपता इसकी प्रकट हो जायेगी!

अतएव इस ग्रन्थमें उपदिष्ट विधिवचनों और भाववचनों को न तो अपूर्वविधि और न नियमविधि के रूपमें ही लेना आवश्यक लगता है. उपलक्षणविधिसे यथाधिकार लेना ही अभिप्रेत लगता है. अतएव स्वयं गुरुगृहोंमें भी सदाचारपरम्परया इनकी अपरिहार्यता नहीं रही. अतएव इनसे स्वतन्त्र भी सेवाश्लोक तथा सेवाभाव परवर्ती महानुभाव श्रीगोकुलनाथजी श्रीहरिरायजी श्रीपुरुषोत्तमजी प्रभृति आचार्योंके उपलब्ध होते ही हैं. एतावता इतिकर्तव्यताके उपलक्षणतया उपदेशमें इनका महत्त्व लेशत: भी न्यून नहीं माना जा सकता. रश्मिकार गोपेश्वरजीने रश्मिपरिशिष्टमें इनपर जो व्याख्या प्रकट की है वह तो अणुभाष्यके साथ प्रकाशित

होनेके कारण यहां संकलित नहीं करते हैं. इन श्लोकोंमें पाठभेद भी अत्यधिक प्रमादापतित हो गये. इन्हें ग्रन्थान्तमें सूचित किया गया है.

[परिशिष्ट]

(१.श्रीवल्लभार्य-विरचित तेलगुपद)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचित उनकी मातृभाषामें लिखे तेलगुपद पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं यह तो नितान्त सौभाग्याभिनन्दनकी बात प्रस्तुत सम्पादकके लिये है. दुर्भाग्यवश केवल मातृभाषा ही नहीं आती अन्यथा तो कई सारी भाषाओंका न्यूनाधिक ज्ञान तो है ही. सो इसे हैदराबादस्थित परम सज्जन श्री बी.वी.एस.आर.मूर्तिजीके उदारमना सहयोग तथा अनुरोध वश प्राध्यापक श्रीवेतुरी आनन्दमूर्तिजीसे पढ़वा कर हिन्दी भावानुवादके साथ हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं. इनका सहयोग सदा अविस्मरणीय रहेगा! वैसे सोलह गीतोंका उल्लेख मातृकाओंमें मिलता है परन्तु तेलगु न जाननेवाले किन्हीं लिपिकर्ताओंद्वारा देवनागरीमें ये पद लिखे हुवे मिलते होनेसे आनन्दमूर्तिजी भी भलीभांति पढ़ नहीं पाये. सो जैसा जितना वे पढ़ पाये उसे अपनी हार्दिक कृतज्ञताज्ञापनके साथ यहां प्रकाशित कर रहे हैं. इन्होंने तेलगु और अंग्रेजी में इस विषयमें लिखित सामग्री भेजी है उसे भी परिशिष्टमें प्रकाशित कर रहे हैं.

(२.श्रीमत्प्रभुचरणस्वरूपनिर्णयव्याख्यानम्)

काफी अरसेसे मेरे संग्रहमें यह हस्तलिखित मातृका उपलब्ध थी. प्रभुचरणके ध्यानार्थ जो सम्प्रदायमें मंगलाचरणके रूपमें सभी पाठ करते हैं, यह प्रभुचरणके पंचमात्मज श्रीरघुनाथजीकी रचना है ऐसा व्याख्याकारने प्रतिपादित किया है. चिरकालवशात् प्रस्तुत लेखकके प्रमादजन्य विस्मरण कहांसे मिली वह भी स्मृतिपथमें नहीं आता होनेसे जिनके उदारसहयोगवश प्राप्त हुयी उनसे हार्दिक क्षमायाचना करते हुवे इसे यहां प्रकाशित रहे हैं.

(डॉ.श्रीपरमानन्द)

डॉ.परमानन्दके साथ मेरा परिचय अत्यल्प रहा फिरभी मेरे मनपर

उनकी एक अमिट छाप अद्यावधि है. ई.स.१९५५ और ६० के बीच कभी, बराबर याद नहीं, हमारे बड़े मन्दिरमें मेरे पिता गोस्वामिश्रीदीक्षितजी महाराजके प्रवचनमें एक बार सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंके निरन्तर अवगाहनमें उपस्थित रहनेवाले वरिष्ठ श्रोता और वक्ता गो.श्रीदी.महा.के बीच एक विवाद उठ खड़ा हुवा कि पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी पुष्टिभक्ति करनेवालोंके लिये नारायणकी भक्ति अन्याश्रय होती है या नहीं. उस वख्त डॉ.परमानन्द भी सभामें तो मौनसेवी रहे. एक दिन, परन्तु, हमारे यहां बिराजमान श्रीबलरामके विग्रहकी सन्ध्या-आरती करके जब मैं बाहर आया तो डॉ.परमानन्दने मुझे पकड़ लिया. पूछा कि *"दाउजीकी सेवाभक्ति क्या अन्याश्रय नहीं है?"* और फिर तो सुबोधिनीके वचनोंकी भरमार मेरे सामने लगा दी कि श्रीबलराम आवेशावतार हैं पूर्णावतार नहीं. सो विभूतिरूप होनेसे उनकी सेवाभक्ति अन्याश्रय नहीं तो अन्यान्य विभूतिरूप देवताओंकी भी भक्तिको या तो अन्याश्रय नहीं मानना चाहिये या फिर श्रीबलरामकी सेवाभक्ति भी अन्याश्रय होनी चाहिये. मैं तो हतप्रभ हो गया! क्योंकि उस अन्याश्रयके विवादमें अपनी अल्पमतिके अनुसार प्रवचनोत्तर-चर्चामें मैं भी कुछ-कुछ हिस्सा तो लेता रहता था. परन्तु अध्ययन मेरा तो नाममात्रका था. बादमें पूछपाछ करनेपर ज्ञात हुवा कि डॉ.परमानन्द तो सुबोधिनीके गंभीर अध्येता थे! सो एक बार उनके बुलानेपर मुंबईके नेप्यन्सी (जे.एम.मेहता) रोडवाले फ्लेटमें मिलने भी गया था. बस.

डॉ.परमानन्दके बारेमें उनके परिचित सत्संगिओंसे मिली जानकारी देना यहां इसलिये प्रासंगिक हो जाता है क्योंकि प्रभुचरणविरचित ग्रन्थोंका जब संकलन प्रकाशन हो तब डॉ.परमानन्दकी स्मृतिमें प्रकाशित हो एतदर्थ सन् अस्सीके दशक उनकी अमरीकानिवासी पुत्री श्रीमती जमना और ज्येष्ठात्मज श्रीचन्द्रसेन द्वारा द्रव्यराशी और दिवंगत पिताका चित्र मुझे सोंपा गया था! उसे स्वीकार तो कर लिया परन्तु कर्तव्यनिर्वाहके अव्यवस्थित उत्तरदायित्वके कारण किसी ग्रन्थके भीतर सुरक्षित कर मैं भूल गया! अब सहसा उपलब्ध होनेपर उत्तरदायितत्वके भानसे रहित होनेके अपराधकी क्षमायाचनाके साथ यह संकलन डॉ.परमानन्दकी स्मृतिमें भी प्रकाशित करना उचित लग रहा है!

डॉ.परमानन्द छतपारका परिवार, प्राय: मथुरायात्राके कारण पुष्टिमार्गकी उपशाखा रमणपंथका अनुगामी हुवा करता था. ये स्वयं विभाजनपूर्व सिन्धप्रदेशमें करांचीके सरकारी नेत्रहस्पतालमें चिकित्सक होनेका कार्यभार सम्हालते थे. देशविभाजनसे पहले भी ये गोस्वामितिलकायित श्रीदामोदरलालजीके सुबोधिनी-प्रवचनके श्रवणार्थ यदाकदा नाथद्वारा आवागमन करते रहे. सो उनके शिष्य हो गये. गुरुशिष्य दोनों ही एकदूसरेके साथ क्रिकेट खेलनेमें भी साथी थे! वैसे स्वयं भी नियमित श्रीमद्भागवतसुबोधिनीका निरन्तर अवगाहन और सत्संग इनकी प्रमुखरुचिसे कहीं अधिक जीवनशैली ही बन गयी थी. अतएव गो.श्रीदामोदरलालजी अपरशिष्य श्रीगोपीलालजी जतिपुरानिवासी श्रीगोकुलदासजी तथा चन्द्रसरोवरनिवासी सर्वोत्तमस्तोत्रानन्दी श्रीचिमनलाल के साथ भी सत्संग इनका बहुत रहा. अन्यथा सर्वथा एकान्तप्रिय भगवत्सेवापरायण रहे. विभाजनके बाद मुंबई आये तो निवासार्थ घर मिलनेकी समस्या भीषण थी. किसी धनिक वैष्णवके बंगलामें किरायेपर व्यवस्था हो सकती है ऐसा समाचार जान कर उससे मिलने गये. और *"वैसे तो अपरिचितको देना उचित नहीं पर तुम वैष्णव हो अत: अवश्य देना चाहूंगा!"* इतना सुनते उसे शालीनतासे *"और भी एकाद जगह खोज लूं बादमें विचारूंगा"* कह कर खड़े पग लौट गये! डॉ.परमानन्दने अपने यहांके परिचितोंको बताया *"मुझे अपनी वैष्णवता बेच कर घर नहीं लेना है!"*.

इनके पांच सन्ततियोंमें प्रथम पुत्र श्रीचन्द्रसेन तथा श्रीमती जमना का परिवार अब अमरीकामें बस गया है. शेष दो पुत्री श्रीमती मालती और सुश्री भक्ति यहीं रहीं. एक कनिष्ठ पुत्र लाल भी यहीं रहे पर उनके साथ सम्पर्कसूत्र टूट जानेके कारण कोई भी वृत्तान्त पता नहीं है. अपनी हार्दिक कृतज्ञताके ज्ञापनपूर्वक यह ग्रन्थ उनकी स्मृतिके रूपमें भी प्रकाशित होने जा रहा है.

(कृतज्ञताज्ञापन)

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें सहयोग प्रदान करनेवालोंमें विभिन्न ग्रन्थागारोंमें हस्तलिखित मातृका खोजनेवाले, उनकी प्रतिलिपि प्रदान करनेवाले ग्रन्थागार या अधिकारी सज्जन, उनके पाठभेदोंको निर्धारित करने सहवाचनमें

सहयोग प्रदान करनेवाले, कंप्युटरमें फीड करनेवाले, प्रूफरीडिंग करनेवाले तथा मुद्रणोपयोगी उत्तरदायित्व सम्हालनेवाले कितने सारे महानुभावोंका सहयोग मुझे परमदयालु प्रभुचरणकी कृपासे मिला है कि मेरे पास अपने पुरुषार्थका दावा करने लायक कुछ भी बच नहीं जाता है! फिरभी कुछ नाम ऐसे हैं जिन्हें यहां प्रकट करना अपरिहार्य लगता होनेसे कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर लेना चाहूंगा : नि.ली.गोस्वामी श्रीप्रथमेशजी(कोटा-मुंबई), गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्रजी(जुनागढ़), नि.ली.-श्रीगिरिधरबावा (कामवन), चिरंजीवी गोस्वामी श्रीशरद् (मांडवी) तथा चिरंजीवी श्रीमन्दार (बड़ामन्दिर मुंबई), श्रीधर्मेन्द्र-श्रीमती पद्मिनी झाला, श्रीअनिल भाटिया, श्रीजगदीश शेठ, श्रीपरेश-श्रीमती मनीषा शाह, श्रीमनीष बाराई ये सभी सर्वदा स्वमार्गीय ग्रन्थोंके प्रकाशनादि कार्योंमें मेरे अथक सहयोगी रहे हैं और महाप्रभु-प्रभुचरण सर्वदा इनकी निष्ठा और उमंग ऐसी ही निभाये ऐसी मंगलकामनाके साथ...

शरत्पूर्णिमा वि.सं.२०७१. **गोस्वामी श्याम मनोहर**
मुंबई.

विषयानुक्रमणिका

ग्रंथक्रमः	पृष्ठक्रमः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीयमुनाष्टपदी ॥

श्रीमत्प्रभुचरणप्रणीता श्रीयमुनाष्टपदी

श्रीमद्रघुनाथकृत श्रीयमुनाष्टपदी विवरणम्

यो गिरीन्द्रमवष्टभ्य स्थितो भक्तरिरक्षया
सप्ताहमवमन्येन्द्रं तं वन्दे वल्लभात्मजम् ॥१॥
या कलिन्दाचले चारु पतन्ती सङ्गता भुवि
स्वभर्तृभक्तदीनार्थं कालिन्दीं प्रणमामि ताम् ॥२॥
यस्याः सुशीतलतरङ्गित-वारिसङ्गात्-
त्यक्त्वान्तकादपि भयं सुखिताश्चरन्ति ॥
निर्धूयकर्णकलुषं हरिभक्तिभाजः
सा मां पुनातु यमुना निखिलार्थदात्री ॥३॥
यत्पयः पानतः प्रीतः प्रयच्छति परं पदम्
गोपिका प्रेमसुप्रीतः पतिस्तां यमुनां भजे ॥४॥
जयन्ति गोकुलेशस्य गवाह्वानोचितागिरः
नाना वर्णाभिधागोप्यो याः श्रुत्वा मुहुर्मुहुर्भृशम् ॥५॥

[१]अष्टपदीगीतेन यमुनां प्रार्थयितुं स्तोतुं च आदौ नमस्यन्ति **नमो देवि यमुने** इति.

नमो देवि यमुने! नमो देवि यमुने!
हरकृष्ण - मिलनान्तरायम्
निजनाथ - मार्गदायिनि कुमारी -
कामपूरके कुरु भक्तिरायम् ॥ ध्रुव. ॥

हे **देवि!** द्योतमाने श्रीकृष्णस्वरूपानन्देन स्वच्छन्दं क्रीडां कुर्वाणे वा. [२]यमु नियच्छति निवर्तयति त्रिविधतापम् इति यमुना. एतेन [३]प्रार्थनोद्यमः

सफलः इति सूचितम्. तुभ्यं नमस्करोमि इति अर्थः. नमस्कृत्य प्रार्थयन्ति **हरकृष्ण-मिलनान्तरायम्** इति. कृष्णस्य मिलने सर्वमोहन - त्रिभङ्गललित - रासमण्डलमण्डन - स्वरूपस्य साक्षाद्भजनलक्षणसम्बन्धे जनयितव्ये सति यद् अत्र दुरितम् [४]अन्तरायितं तद् हर नाशय इति अर्थः.

न केवलम् अन्तरायापायसम्पादकत्वं किन्तु साक्षात् तत्पदवीप्रदर्शकत्व-मपि [५]इत्यतः आहुः **निजनाथ**इति. हे **निजनाथमार्गदायिनि!** हे **कुमारिकाम**[६]**पूरके!** भक्तिरूपं रायं धनं कुरु मयि सम्पादय इति अर्थः.

निजः असाधारणः स्वकीयो **नाथः** श्रीकृष्णः तस्य **मार्गदायिनी** मार्गदानस्वभावे. तच्च, मथुरातो गोकुलागमने प्रसिद्धमेव. अतएव उक्तं **''मघोनि वर्षति असकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला, भयानकावर्त्त-शताकुलानदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः''**(भाग.पुरा.१०।३।५०) इति. अन्यदापि व्रजसुन्दरीभिः सह क्रीडायां पारावार[७]गमनाय इति ज्ञापयितुं तत्स्वभावत्वम् उक्तम्.

यद्वा निजनाथमार्गः तत्प्राप्त्युपायः तत्सम्पादकत्वमेव तदुपासकानाम् इति. **कुमारीणाम्**इति नन्दव्रजकुमारीणां, कामो **'नन्दसुतः पतिः भूयाद्'** इति इच्छा, तं पूरयति [८]समर्द्धयति कामपूरः, तादृशं कं जलं यस्याः सा कामपूरका.

यद्वा, पूरणं पूरः. तासां [९]कामपूरेण कं सुखं यस्याः सा. कामान् पूरयति इति पक्षे कामपूरिकेति [१०]ईत्वविशिष्टं पठनीयम्. तदुक्तम् **''मार्गे व्रजन्त्यो निजमण्डलौघमध्ये स्थितं ताः सखि मन्यमानाः. अन्योऽन्यसम्बद्धभुजा विशङ्का जगुः प्रियं तद्रसभावमत्ताः''**.(भाग.पुरा.) **''आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्याः, कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्''** (भाग.पुरा.१-०।१९।२-६) इति. यद्वा, **'कुमारि'**इति सम्बुध्यन्तं ह्रस्वान्तं पृथक् पदम्.

सभ्रमरां कमलसम्पत्तिम् उत्प्रेक्ष्य वर्णयन्ति **मधुपकुल** इति.

मधुपकुल - कलित - कमलावली - व्यपदेश -
धारितश्रीकृष्ण[११] - निजभक्तहृदये।
सततमतिशयित - हरिभावना -
जात - तत्सारूप्य - गदित[१२]हृदये॥१॥

मधुपानां कुलं समूहः तेन कलिता अन्तर्बहिः व्याप्ता या कमलावली कमलपङ्क्तिः तद्व्यपदेशेन तदुद्भवमिषेण **धारितानि** स्थापितानि श्रीकृष्णस्य निजा अनन्या ये भक्ताः. **'श्रीकृष्णयुतभक्ते'**ति पाठेऽपि अयमेव अर्थः. तेषां हृदयानि हृदयकमलानि यया यस्यां इति वा. यस्याम् इति पक्षे श्रीकृष्णेन इति कर्तृपदं ज्ञेयम्. अत्र अयं भावः यथा श्रीकृष्णभक्तानां हृदये घनश्यामावदातं रूपं निरन्तरं तिष्ठति तद्रसानुभवार्थम् भावभरेण बहिरपि अनुग्रहीतुं तिष्ठति एवम् अत्रापि बहिरन्तःभ्रमद्भ्रमरैः भगवद्विशिष्टभक्तहृदयकमलान्येव धृतवती. कालिन्दीजलं भगवद्रसैकपूर्णमिति भक्ताअपि स्वहृदयानि तद्रसानुभवार्थं तस्यां स्थापयन्ति. इयमपि स्वान्तःस्थित - रसामृत - तरङ्गैः तद्हृदयानि शिशिरयितुम् आप्लावयति इति. अतो युक्तमेव अन्योन्यसापेक्षत्वम् इति.

भक्तानां हृदये भगवदुपलब्धिः त्वयि तु सर्वत्रापि इति आहुः **सततम्** इति. सततं निरन्तरम् **अतिशयिता** अत्युत्कटा या हरेः सर्वदुःखहरणशीलस्य **भावना** चिन्तनं तया जातं सम्पन्नं तस्य हरेः सारूप्यम् असितवर्णत्वम्. न केवलं रूपसाम्यं किन्तु दुःखहरणत्वादिगुणसाम्यमपि तेनैव **गदितं** प्रख्यापितं **निजहृदयं** स्वान्तःकरणं यया यस्या इति वा. अतिशुद्धस्फटिककाचादौ अन्तःस्थितनीलपीतादिकं बहिः भासते यथा तथा भगवानपि अन्तःस्थित्वा बहिरपि नैर्मल्यवशाद् भासते इति भावः. एतेन [१३]एतत्सेविनां भगवान् सुलभः इति ज्ञेयम्॥१॥

सप्रसूननीरशोभाम् उत्प्रेक्षन्ते **निजकूलइति.**

निजकूल - भव - विविध - तरुकुसुमयुत -

नीरशोभया विलसदलिवृन्दे।
स्मारयसि गोपीवृन्द - पूजित -
सरसमीशवपुरानन्दकन्दे॥२॥

निजे स्वकीये **कूले** तीरे **भवा** उत्पन्ना ये **विविधाः** नानाजातीयाः **तरवः** कुरबकाशोकादिवृक्षाः तेषां कुसुमैः निरन्तरं स्वयमेवापचीयमानैः **युतं** मिश्रितं यन् नीलनीरं तस्य शोभया सादृश्याद् ईशस्य श्रीकृष्णस्य वपुः आनन्दघनविग्रहं **स्मारयसि** तस्मिन् नीरे. किं विशिष्टे **विलसदलिवृन्दे.** तत्तत्कुसुममकरन्द[१४]वशात् तत्र तत्र विलसन्ति क्रीडन्ति अलीनां वृन्दानि यस्मिन्. किं विशिष्टम् ईशवपुः? **गोपीनां वृन्दैः** समूहैः **पूजितम्** अर्चितं तदेव **सरसं** भक्तेषु सार्द्रम्. **हे आनन्दकन्दे!** आनन्दघने यमुने त्वम् एवं भूतासि इति अर्थः. यद्वा, **विलसदलिवृन्दे** इत्यन्तं कालिन्दी विशेषणम्. तदा सप्तम्यन्तं नीरविशेषणम् आनन्दकन्द इति ज्ञेयम्.॥२॥

पद्मपरागयुतवारिशोभां वर्णयन्ति **उपरिवलद्**इति.

उपरि[१५]चलदमल - कमलारुण - द्युति -
रेणुपरिमलित - जलभरेणामुना
व्रजयुवति - कुचकुम्भकुङ्कुमारुणमुरः
स्मारयसि मारपितुरधुना॥३॥

उपरि ऊर्ध्वं [१६]चलन्ति वेष्टयन्ति यानि **अमलानि कमलानि** तेषां **यो अरुणद्युतिः** काश्मीरगौरवरागः तस्य **परिमलः** सुगन्धः संजातो यस्मिन् तादृशो यो **जलभरः** प्रवाहः तेन अमुना त्वं **मारपितुः** कामजनकस्य **उरः** श्रियैकरमणं वक्षस्थलं **स्मारयसि** अभिज्ञापयसि. किं विशिष्टं वक्षः? व्रजयुवतीनां कुचकुम्भेषु यत् लिप्तं [१७]तत्र परिरम्भात् लग्नेन अरुणम्. अत्र **'मारपितृ'**पदेन कामिभावापन्नानामेव एतत्स्मारकत्वं ज्ञेयम्. अत्यन्तरङ्गभक्तानां वा. **'अधुना'**इति वर्त्तमानप्रयोगो वक्त्रनुभावाभिप्रायेण [१८]ज्ञेयः. **उपरिचलद्**

इति पाठोपि॥३॥

उत्फुल्लकैरवसम्पदं वर्णयन्ति **अधिरजनि** इति.

अधिरजनि हरिविहृतिमीक्षितुं
कुवलयाभिध - सुभगनयनान्युशति तनुषे।
नयनयुगमल्पमिति बहुतराणि च तानि
रसिकतानिधितया कुरुषे॥४॥

रागजनकत्वाद् रजनी रात्रिः रजन्याम् अधिकृत्वा अधिरजनि रात्रौ इति अर्थः. तदानीं हरेः **विहृतिं** विहारम् **ईक्षितुं** नयनपथं कर्तुं **कुवलयम्** उत्पलं तद् **अभिधानि** तन्नामकानि यानि पुष्पाणि तान्येव **सुभगानि** सुन्दराणि **नयनानि** एव **तनुषे** तद्रूपेण आविष्करोषि. हे **उशति!** कमनीये! [१९]आधारविशेषणं वा सप्तम्यन्तं ज्ञेयम्. त्वत्स्वरूपानभिज्ञानां पुरुषत्वेन व्यवहारो न तु अभिज्ञानाम् इति भावः. तर्हि नयनानां द्वित्वं त्रित्वं वा [२०]दृष्टचरम्. पुष्पाणाम् अनन्तत्वात् कथं सर्वेषां [२१]तद्रूपत्वम्? इत्यत आहुः **नयनयुगम्** इति. चक्षुः युगलम् अनन्तलीलास्वरूपं विषयीकर्तुं युगपद् असमर्थम् अतः **तानि** नयनानि **बहुतराणि** अत्यन्तं बहून्येव करोषि युगपद् रसानुभवार्थम्. **च**काराद् अतिपुष्टान्यपि इति ज्ञेयम्. एवं करणे हेतुः **रसिकता** इति. रसाभिज्ञाः रसिकाः तेषां भावो रसिकता तस्याः **निधिः** अक्षयकोषः तस्य भावाद् एवं कुरुषे. आत्मनेपदप्रयोगात् स्वार्थमेव करणम्॥४॥

रात्रौ प्रफुल्लकैरवाणां[२२] नेत्रत्वम् उक्तं दिवा प्रफुल्लकमलानां नेत्रत्वम् आहुः **रजनिजागर**इति.

रजनि-जागर-जनित-रागरञ्जित-
नयन - पङ्कजैरहनि हरिमीक्षसे।
मकरन्दभर - मिषेणानन्दपूरिता

सततमिह हर्षाश्रु मुञ्चसे॥५॥

रात्रौ अनिमिषदृग्भिः विहारवीक्षणाद् रजन्यां जागरात् जनितो यो रागो रक्तता तद्रञ्जितैः आरुण्यगुणयुक्तैः नयनकमलैः **अहनि** दिवसे **हरिम्**[२३] **ईक्षसे** तद्विकासमिषेण पश्यसि इति अर्थः. किञ्च, तत्पुष्पेभ्यो गलन्मकरन्दस्य भरेण अतिशयेन तद्रूप**मिषेण** व्याजेन **सततं** निरन्तरम् **इह** अस्मिन् प्रवाहे लीलावसरे वा **हर्षाश्रु** आनन्दाश्रु **मुञ्चसे** त्यजसि इति अर्थः॥५॥

ऐश्वर्यं सूचयन्ति **तटगत** इति.

तटगतानेक - शुकसारिका - मुनिगण -
स्तुत - विविधगुण[२४] - सीधुसागरे।
सङ्गता सततमिह भक्तजन - तापहृति
राजसे रास - रस - सागरे॥६॥

पारावारमध्यतटेषु **गताः** स्थिता **अनेके** बहवो ये **शुकसारिकारूपा मुनिगणाः** मुनीनां सङ्घाः. शुकसारिका इति उपलक्षणम्. विहङ्गमात्रमपि तथैव. अतएव उक्तं **"प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्याः"** (भाग.पुरा.१०।१२।६), **"प्रायो बताम्बविहगा मुनयः"** (भाग.पुरा.१०।१८।१४) इत्यादिषु तैः स्तुतो नानागुणरूपामृतसागरो यस्याः सा. किञ्च, एवंविधा त्वं भक्तजनानां **तापहृति** तापहारके श्रीकृष्णे जलविहारादौ **सङ्गता** मिलिता सती **राजसे** दीप्यसे शोभसे इति अर्थः. **सततम्** अविच्छेदेन **इह** वृन्दावने श्रीगोकुलादौ. किं विशिष्टे श्रीकृष्णे? **रासरससागरे** रासोत्सव - महासौख्यस्य समुद्रे, अपारतद्रसे.॥६॥

अतिरहस्यलीलाधारत्वं वर्णयन्ति **रतिभर** इति.

रतिभर - श्रमजलोदित - कमल - परिमल -

व्रजयुवतिजन - विहृति मोदे।
ताटङ्कवलन - सुनिरस्त - सङ्गीतयुत -
मदमुदित - मधुपकृत - विनोदे॥७॥

रतिभरा[२५]धारत्वं यत् श्रमजलं तस्माद् **उदितः** प्रकटीभूतो यः **कमलपरिमलः** पद्मिनीनां तादृशस्वेदत्वं शास्त्रसिद्धम्. यद्वा, वनस्थलरमणस्य भरेण अतिशयेन यः श्रमः तस्मात् यज्जलं स्वेदः तस्य उदितम् उदयो येषु कमलेषु तत्परिमलो यासु व्रजयुवतिषु तत्कृतजल - विहृते विहारस्य मोदो हर्षो यस्याः सा. अतएव उक्तं **''ताभिः युतः श्रममपोहितुम्''** (भाग.पुरा.१०।३०।२३) इत्यादि.

यद्वा रतिभर - श्रमजलेन, उदितानि अवाच्यशोभातिशयेन प्रकाशितानि, यानि मुखकमलानि,. रतिभर - श्रमजलाय मुखस्थितमार्जनाय[२६], उदितं प्रकाशितं प्रसारितं यत्पाणिकमलं तत्परिमलो यासु, इति वा. **''तासां [२७]रतिभरेण श्रान्तानाम्''** (भाग.पुरा.१०।३०।२१) इति उक्तत्वात्. किञ्च, क्रीडन्तीनां **ताटङ्कस्य** कर्णभूषणस्य चालनेनैव **सुनिरस्ताः** सम्यक् तिरस्कृताः **सङ्गीतयुतमदेन मुदिताः** हृष्टाः ये **मधुपा** गन्धलुब्धाः तत्कृतो **विनोदो** दर्शनीय उत्सवः कौतुकं वा यस्यां. **''गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत''** (भाग.पुरा.१०।३०।-२३) इति उक्तत्वात् मधुपाः स्वयं गायकाभिमानेन स्वगुणप्रदर्शनाय तासां श्रवणसमीपम् आगत्य गुञ्जारवं कुर्वाणा निवृत्ता न भवन्ति तदा भगवद्वचनश्रवणान्तरायत्वात् [२८]ताटङ्कमात्रेणैव सुनिरस्ताः कुतः ताटङ्का न गन्धोऽपि इति तात्पर्यम्॥७॥.

निजप्रार्थनाम् आहुः **निज** इति.

निज - व्रजजनावनात्त - गोवर्धने
राधिका - हृदयगत - हृद्य - करकमले
रतिमतिशयितरस - विट्ठलस्याशु

कुरु वेणुनिनदाह्वान - सरले[२९]॥८॥

''तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्'' (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इति उक्तत्वात्. **निजा** अनन्या ये **व्रजजना** इति उपलक्षणं गवादिकम् अपि ज्ञेयम्. तेषाम् **अवनाय** रक्षणाय **आत्तः** उद्ध्र्वं छत्रीकृतो **गोवर्द्धनो** येन तादृशे श्रीगोवर्द्धनेशे **श्रीविट्ठलस्य** अज्ञानुग्राहकस्य **रतिम्** अभिमतां प्रीतिं **कुरु सम्पादय. किं विशिष्टे ईशे? राधिका - हृदयगत - हृद्यकरकमले** राधिकाया हृदये उरसि गतं प्रविष्टं हृद्यं सकलतापनाशकम् अभिमतम् एतादृशं करकमलं यस्य तस्मिन्. किं विशिष्टस्य **विट्ठलस्य? अतिशयितरसस्य** अतिशयित उत्कटो रसो यस्मिन्. **अतिशयितरसस्य विट्ठलस्य** इति कर्मधारयः. पुनः किं विशिष्टे ईशे? **वेणुनिनदाह्वानसरसे** वेणोः निनदेन तत्कृतगीतेन आह्वानं भक्तानाम् आकारणं सरसं कर्णे[३०] रसोत्पादकं यस्य. यद्वा, वेणुः निनदः आह्वानं च. एतत्त्रयं सरसं यस्य.॥८॥

श्लोकाभ्यां प्रार्थनाम् आहुः **व्रजपरिवृढवल्लभे** इति.

व्रज - परिवृढ - वल्लभे! कदा
त्वच्चरण - सरोरुहमीक्षणास्पदं मे
तव तटगत - वालुकाः कदाहं
सकल - निजाङ्ग - गता मुदा करिष्ये॥९॥

हे व्रजपतिप्रिये! तव चरणकमलं **मे** मम **ईक्षणास्पदं** दृग्गोचरं, **कदा** भविष्यति? इति शेषः. किञ्च, **तव** तीरस्थिता **वालुकाः** अहं **निजाङ्ग**लग्नाः स्वदेहगताः[३१]. निरन्तरं त्वत्तीरस्थितौ इदं भवति इति सूचितम्.॥ ९ ॥

वृन्दावनइति.

वृन्दावने चारुबृहद्वने मन्मनोरथं पूरय सूरसूते

दृग्गोचरः कृष्णविहारएव स्थितिस्त्वदीये तटएव भूयात्॥१०॥

वृन्दावने चारुबृहद्वने सकलशोभाढ्ये महावने यद् यद् मम अभीष्टं तद् तद् **पूरय** सम्पादय. हे **सूरसूते**! शरणस्वभावतनये! अनेन इष्टप्राप्तिः ज्ञापिता. अभीष्टं यत् तदाहुः **दृग्गोचरः** दर्शनविषयः **कृष्णविहारएव** अस्तु सपरिकरस्याऽपि मम त्वत्तीरएव **स्थितिः** अस्तु॥१०॥

यत्पयः पानतः स्वान्ते हरिताङ्कुर - सम्भवः।
भव - ताप - निवृत्तिश्च कालिन्दीं तामुपास्महे.॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतं
श्रीयमुनाष्टपदीविवरणं सम्पूर्णम्.

॥ पाठभेदः॥

१. ''प्रभवस्तावत् अष्टपदीगीतेन'' इति च पाठः.
२. ''यमुने यच्छति'' इति ग - घ पाठौ. ङ पाठे 'ने' 'नि' इति द्वावपि पाठौ स्तः.
३. ''प्रार्थनोद्यामाः सफला इति निरूपितम्'' इति च पाठः.
४. ''दुरितम् अन्तरायम्'' इति ग - ख पाठौ.
५. ''इति आशयेन आहुः'' इति ख पाठः.
६. 'कामपूरिके' इति ग पाठः.
७. 'पारावाराऽऽगमनाय' इति ङ पाठः.
८. 'समृद्धयति' इति ङ पाठः. 'समर्द्धयति इति' इति च पाठः.
९. 'कामपूरणेन' इति ख - घ पाठः.
१०. 'क' पुस्तकस्य मार्जिने— ''तथा च 'कामपूरके' इति 'कामपूरिके' इति च पाठद्वयं सिद्धम्. द्वितीयपक्षे इत्वविशिष्टं तथा पक्षद्वयार्थे सम्मतिं तदुक्तम् इति.''
११. 'श्रीकृष्णयुतभक्तहृदये' इति शेषमातृकापाठः.
१२. 'गदितहृदये' इति क ख घ च पाठाः.
१३. 'एतत्सेवितानाम्' इति ङ पाठः.

१४. 'मकरन्तवत्' इति ग पाठः.
१५. 'वलद्' इति ख घ ङ च पाठाः.
१६. उर्ध्वं वलन्ति' इति ख घ ङ च पाठाः.
१७. ''तेन परिरम्भात्'' इति ग पाठः.
१८. 'ज्ञेयम्' इति ङ पाठः.
१९. इदं विशेषणं सप्तम्यन्तं वा ज्ञेयम्'' इति ख पाठः.
२०. 'दृष्टचरम्' इति घ पाठः. 'दृष्टिचरम्' इति ङ पाठः.
२२. 'दृष्टचरपुष्पाणाम्' इति ख पाठः.
२१. 'तद्हृदयत्वम्' इति च पाठः.
२२. 'प्रफुल्लकुवलयानाम्' इति ङ पाठः.
२३. ''हरि ईक्ष्यसे'' इति ङ पाठः.
२४. 'सिन्धुसागरे' इति ख पाठः.
२५. 'रतिभराद्यच्छ्रमजलम्' इति शेषमातृकापाठः.
२६. 'मार्जनाद् उदितम्' इति ख घ पाठौ.
२७. 'रतिविहारेण' इति शेषमातृकापाठः.
२८. 'ताटङ्कचालनमात्रेणैव' इति ग ङ च पाठाः. 'ताटङ्कचलनमात्रेणैव' इति ख घ पाठौ.
२९. 'वेणुनिनदाह्वानसरसे' इति ख पाठः. 'वेणुनिनादाह्वानसरसे' इति ङ पाठः.
३०. 'करणे' इति मुद्रितपाठः.
३१. ''मुदा कदा करिष्य इति सम्बन्धः'' इति ङ पाठे अधिकः उपलभ्यते.

क = जूनागढ, ख = जूनागढ, ग = माण्डवी १८५२, घ = माण्डवी (पञ्चनदीगोपीनाथभट्टात्मजलक्ष्मीनाथभट्टस्य), ङ = माण्डवी, च = माण्डवी (अपूर्ण).

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ प्रबोधः ॥

(गोस्वामिश्रीविट्ठलेशप्रभुचरणविरचितः)

जयजय तुहिनकरकर - निकर -
कुड्मलित - कमलावली - निलीनतया
निवृत्तमधुकरनिकर - मधुरतरोद्घोष
घोषविहितनिद्र ! भद्र ! सुभद्राग्रज ! ॥१॥

जयजय निजमुखकमलामल - परिमलाघ्राण -
जनितसुखातिशयेनेव[१] सुखसञ्जात[२] - निद्राविद्रावणभियेव
नयनयुगलखञ्जरीटोन्मीलनभियेव झङ्काररहितैरलिभिरिव
अलकशतैः परिवृतवदनारविन्द ! गोविन्द !॥२॥

जयजय निशाकरकर - विकचकुवलय - कोश
निर्यातदिवाकर - निकरकुञ्चित -
कुवलयावलिकोश - स्थितिजनित -
मधुरमधुपानोन्मदमुदित[३] - भृङ्गाङ्गनारब्ध - मधुरतरोद्घोष -
विद्रावितनिद्र - निखिलगोपीजन - जनितनिजाधार -
हिन्दोलान्दोलन -चलदमल - [४]सुभगवलयझणत्कारेण
मधुरतरनिनद - वीणागीतादिभिः
उन्निद्र - नयनखञ्जरीटयुगल ! ॥३॥

जयजय ततः किञ्चिद् उन्मीलनोन्नतभ्रूलता -
समशर[५] - शरासनच्युतकुसुम - विशिखद्वयेनेव
गोपीजन - वदनशरदिन्दु - विभ्रमसञ्चरत्खञ्जनयुगलेनेव
हिन्दोलान्दोलन - चलदमल - सुभगवल्लवी - गण्डमण्डलस्फुरत्

ताटङ्कमार्तण्ड - भ्रमविकसित - कमलद्वयेनेव
अरुणतरामल - राधादरदीधिति - किर्मीरित-
दरहसनप्रकटरदनावली - तुहिनकरप्रतिभटप्रभाजनित-
शारदशर्वरीपत्युदयभ्रमविकसितकुमुदद्वयेनेव[६]
प्रकटितनयनयुगेन ईक्षितनिखिलनितम्बिनीवृन्द ! ॥४॥

जयजय निजदृगन्तपात - सोपानसमारूढ - मकरकेतुभिर्
निजवदनशरदिन्दु - सम्फुल्लातिलोल - लोचन - कुवलयाभिः
अनल्पाकल्पभूषिताभिर्[७] निजनितम्बबिम्बालंकृत -
सुधाकरकर - धवलविशदसुभग - तल्पाभिः[८]
हरिकरकमलनखशरसम्पात - पराजितानङ्ग - पृतनाभिरिव
विगलित - कञ्चुकाञ्चल नितम्बाम्बर - भूषाभिः
अतिसुभगविशदजघनकनकासनोपवेशित - प्रियाभिः
निजनखरदृगन्त[९] - विविधप्रसूनार्चित - वल्लभाभिः
सुरतविद्याविनोदचतुराभिः भावाधिगमसमये
[१०]अग्रिमवियोगशङ्कयान्तर्नयनद्वारप्रवेश्य
पिहितकपाटाभिरिव निमीलितनयनाभिः क्रीड़ित ! ॥५॥

जयजय पुनरतिनिर्वृतिविहितनिद्र ! जागृहि ! जागृहि !
न यावदेष कुङ्कुमारुणांशुः इन्दिरापते
पुरन्दरीयदिङ्मुखं समेति तावदुत्थितः
प्रमार्जय आननाम्बुजं निजाधरं च सुन्दरी-
कदम्ब - शोभितान्तर - स्वतल्प - मन्मथोदय ! ॥६॥

न चेदमी शमीतरुप्रसूनतुल्यकक्षकं[११]
नखक्षतं च मेचकाधरं सकुङ्कुमं[१२] मुखम् ॥
विलोक्य नागरा जनाः तरामिमां[१३] तव स्थितिं

प्रभो सभासु भाषितुं समुज्झितोक्तयो नहि॥७॥

स्फुरत्त्वन्मुखाम्भोज - शोभानिवृत्त -
स्वसौन्दर्यगर्वाचलः शर्वरीशः
ह्रिया मज्जति क्षारवारान्निधौ त्वन्
नखालिच्छटाभिश्च तुच्छीकृतोऽयम्॥८॥

दिवाकरोऽयमुत्करस्त्वदङ्घ्रिपङ्कजार्हणं
विधातुमागतोम्बुजैस्तदर्हणं सभाजय॥
कलिन्दजा त्वदाननावलोकनाय दृक्सरो-
जनूंषि सम्प्रसारयत्यनङ्गकोटिसुन्दर॥९॥

स्फुरत्सरोजनिर्गतद्विरेफयूथगायकाः
यशो वितन्वते दिशां शुभाय दर्शनार्थिनः॥
जगद्विलोचने हरे कुरुष्व सार्थजन्मके[१४]
कृपां कुरुष्व विट्ठले स्वपादपद्मसेवके॥१०॥

इति श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणविरचितः प्रबोधः सम्पूर्णः

॥ पाठभेदः ॥

१. नैव इति ४.पाठः. २.संजातसुख इति ४.पाठः. ३. पानोन्मोदमुदित इति ४ पाठः. ५. सुभग इति ४.पाठे नास्ति. ५. शर इति ४.पाठे नास्ति. ६. नेव इति ४.पाठे नास्ति. ७. भूषिताभिर् इति ४.पाठः. ८. सुभगाद् वितल्पाभि इति ४.पाठे नास्ति. ९. नखर इति ४.पाठे नास्ति. १०. प्रियवियोग इति ४.पाठः. ११. तल्पकंचुकम् इति ४.पाठः. १२. सुकुंकुम इति १,२,३, पाठेषु. १३. जनास्तईदृशीम् इति ४.पाठः. १४. जन्मनि इति १,२,३, पाठेषु.

१ , २ , ३ = मोटामंदिर (मुंबई) , ४ = बृहत्स्तोत्रसरित्सागरः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ प्रबोधः ॥

(श्रीगोकुलोत्सवेन विरचितः प्रबोधान्वयः)

नुमस्तानाचार्यान् निजमहिमनिर्द्धूततमसः
सुरेन्द्रा यद्रूपं कलितुमपि नैव स्वमनसा
अपि स्वल्पीयांसः सपदि विवरीतुं खलु सकृत्
पटीयांसः पीत्वा प्रभुचरणसीधुं मधुवहम् ॥१॥
वन्दारुजनमन्दारं श्रीमद्वल्लभनन्दनम्
वन्दामहे सदानन्दस्वरूपं नन्दनं मुदा ॥२॥

अथ "**जय जय जह्यजाम् अजित!**" (भाग.पुरा.१०।८४।१४) इति '**जय**'शब्दालङ्कृतश्रुतिगणकलितनुतिम् अनुसन्दधतः श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणाः तद्भावभावितत्वं च[१] बोधयन्तः कमलासनप्रभृतिगीर्वाणवर्गाभिसम्प्रार्थ्यातिसुभगपादपद्मरजः श्रीमद्व्रजवरवधूपरिवृढं श्रीमन्नन्दराजकुमारं '**जय**'शब्दाङ्कितपद्यैः प्रबोधयन्ति "**जय जय...**" इत्यादिभिः.

जयजय तुहिनकरकर - निकर -
कुड्मलित - कमलावली - निलीनतया
निवृत्तमधुकरनिकर - मधुरतरोद्घोष
घोषविहितनिद्र! भद्र! सुभद्राग्रज! ॥१॥

हे **भद्र**=कल्याणस्वरूप! हे सुभद्राग्रज! त्वं **जय जय** सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्व. पुनः सम्बोधयन्ति **तुहिनकर** इति. **तुहिनकरः** चन्द्रमा तस्य **कराः** किरणाः तेषां **निकरः** समूहः तेन **कुड्मलितानि** सङ्कुचितानि यानि कमलानि तेषाम् **आवलिः** पङ्क्तिः तस्यां[२] **निलीनता** आवृतत्वं प्रवेश (आच्छन्नत्वं प्रविष्टत्वं) इति यावत्. तया कृत्वा निवृत्तो यो **मधुकरनिकरमधुरतरोद्घोषः**.

मधुकराणां भ्रमराणां **निकरः** तस्य **मधुरतरो** अत्यन्तमधुरो यः **उद्घोषः** झंकृतिः कोलाहलः तेन हेतुना[३] (कर्त्रा वा) **घोषे** वृजे **विहिता** कृता सम्पादिता वा **निद्रा** येन यस्य वा तत्सम्बोधनम् एतत् ॥१॥

जयजय निजमुखकमलामल - परिमलाघ्राणजनित -
सुखातिशयेनेव सुखसञ्जात - निद्राविद्रावणभियेव
नयनयुगलखञ्जरीटोन्मीलनभियेव झङ्काररहितैरलिभिरिव
अलकशतैः परिवृतवदनारविन्द! गोविन्द! ॥२॥

जयजय निज इति. हे **अलकशतैः परिवृतवदनारविन्द! अलकानां शतैः परिवृतं वदनारविन्दं** मुखकमलं यस्य तत्सम्बोधनम्. तथा हे **गोविन्द!** त्वं **जय जय**. किंभूतैः **अलकशतैः? अलिभिरिव** भ्रमरसदृशैः इति अर्थः. किंभूतैः अलिभिः? **झङ्काररहितैः** शब्दम् अकुर्वाणैः. ननु किम् इति झङ्काररहिता? इति आकाङ्क्षायां झङ्काराराहित्ये हेतुत्रयम् आहुः **निजमुख** इत्यादिना. **निजस्य** भगवतो यन् **मुखकमलं** तस्य **अमलो** अनिर्वचनीयो यः **परिमलः** सुगन्धः तस्य **आघ्राणं** शिंघनं तेन **जनितः** उत्पादितः **सुखातिशयः** तेन हेतुनेव **झङ्काररहितैः** इति अर्थः. द्वितीयम् आहुः **सुख...** इति. सुखेन सुखं यथा स्यात् तथा वा **सञ्जाता** या **निद्रा** तस्या **विद्रावणं** दूरीभवनं तस्य तस्माद् वा.**भीः** भयं तेन हेतुनैव **झङ्काररहितैः** इति अर्थः. [४]तृतीयं हेतुम् आहुः **नयन...** इति. **नयने खञ्जरीटाविव** इति. ("**एते अलिनः तव यशो अखिललोकतीर्थम्**" भाग.पुरा.१०।१२।६). **नयनखञ्जरीटौ** व्याघ्रादेः आकृतिगणत्वात् समासः. तद्युगलस्य **उन्मीलनम्** उद्घाटनं तद्भिया इति अर्थः. नयनएव खञ्जरीटौ पक्षिविशेषौ तयोः युगलं द्वयं तस्य यद् उन्मीलनं जागरणं तद्भियैव झङ्काररहितैः भ्रमराणां हि नयनयोः खञ्जरीटभ्रान्तिः. तथा च तज्जागरणे सति अस्माकं तत्र स्थितिः दुर्घटेति **मुखकमलपरिमलाघ्राण**-मपि न भविष्यतीति तल्लोभेनैव झङ्कारशून्यैः इति भावः ॥२॥

जयजय निशाकरकर - विकचकुवलय - कोशनिर्यात -

दिवाकर - निकरकुञ्चित - कुवलयावलिकोश - स्थितिजनित -
मधुरमधुपानोन्मोदमुदित - भृङ्गाङ्गनारब्ध - मधुरतरोद्घोष -
विद्रावितनिद्र - निखिलगोपीजन - जनितनिजाधार -
हिन्दोलान्दोलन -चलदमल - सुभगवलयझणत्कारेण
मधुरतरनिनद - वीणागीतादिभिः
उन्निद्र - नयनखञ्जरीटयुगल ! ।।३।।

जयजय निशा... इति हे **उन्निद्रनयनखञ्जरीटयुगल!** त्वं **जयजय. उन्निद्रं** गतनिद्रं **नयनखञ्जरीटयुगलं** यस्य इति. उन्निद्रत्वे हेतुद्वयम् आहुः **निखिल...** इत्यादिना. **निखिलाः** सर्वे ये **गोपीजनाः** व्रजवल्लव्यः तैः **जनितम्** उत्पादितं कृतम् इति यावत् यत् स्वाधारभूतस्य **हिन्दोलस्य** हिन्दोलशय्यायाः **आन्दोलनं** चलनं (चालनं) तेन कृत्वा चलन्तो ये **अमलवलयाः** स्फुरत्करभूषणानि तेषां **झणत्कारेण** करणभूतेन **उन्निद्रनयनखञ्ज-रीटयुगल!** इति अर्थः. द्वितीयं हेतुम् आहुः **मधुर...** इति. **मधुरतरो निनदः** शब्दो येषाम् एतादृशा ये वीणागीतादयः तैश्च **उन्निद्रनयनखञ्जरीटयुगल** इति अर्थः. पुनः सम्बोधयन्ति **निशाकर..** इति. **निशाकरः** चन्द्रः तस्य **कराः** किरणाः तैः कृत्वा **विकचाः** प्रफुल्लिता ये **कुवलयकोशाः** कुमुदिनी कुड्मलानि, तासां रात्रिविकासित्वात्. तेभ्यो **निर्याता** निर्गताः या **दिवाकरकरनिकरकुञ्चित- कुवलयावलीकोशस्थितिजनितमधुरमधुपानोन्मदमु-दितभृङ्गागना. दिवाकरः** सूर्यः तस्य कराः तेषां निकरः तेन **कुञ्चिता** सङ्कुचिता या **कुवलयावल्ल्यः** कुमुदिनीपङ्क्तयः तासां **कोशा** मध्यानि तेषु या स्थितिः तया करणभूतया अलिभिः **जनितम्** उत्पादितं (समुत्पादितं) कृतं यन्मधुरस्य मधुनो मकरन्दस्य पानेन (पानं तेन) यः **उन्मद** उत्कटमदः तेन **मुदिता** हृष्टा या **भृङ्गानाम् अङ्गनाः**. अत्र **'अङ्गना'**पदं शब्दे अत्यन्तम्[५] आह्लादकारित्वं द्योतयति (व्यज्यते). ताभिः **आरब्धो** यो **मधुरतरउद्घोषः** शब्दातिशयः तेन **विद्राविता** दूरीकृता **निद्रा** यस्येति तत्सम्बोधनं तथा. अत्र उद्घोषे **मधुरतर** इति विशेषणेन निद्राविद्रावणेऽपि सुखातिशयएव ध्वन्यते ।।३।।

जयजय ततः किञ्चिद् उन्मीलनोन्नतभ्रूलता - समशर -
शरासनच्युतकुसुम - विशिखद्वयेनेव गोपीजनवदन -
शरदिन्दु - विभ्रमसञ्चरत्खञ्जनयुगलेनेव हिन्दोलान्दोलन -
चलदमल - सुभगवल्लवी - गण्डमण्डलस्फुरत्
ताटङ्कमार्तण्ड - भ्रमविकसित - कमलद्वयेनेव
अरुणतरामल - राधाधरदीधिति - किर्मीरित - दरहसन-
प्रकटरदावली-तुहिनकर - प्रतिभट - प्रभा - जनित -
शारदशर्वरीपत्युदयभ्रमविकसितकुमुदद्वयेनेव
प्रकटितनयनयुगेन ईक्षितनिखिलनितम्बिनीवृन्द ! ।।४।।

जयजय तत इति. हे **ईक्षितनिखिलनितम्बिनीवृन्द!** त्वं **जयजय. ईक्षितः निखिलानां नितम्बिनीनां** वृजरत्नानां **वृन्दः** समूहो येन तत् सम्बोधनेति[६] तथा. केन [७]करणेन? इत्यपेक्षायाम् आहुः **प्रकटितनयनयुगेन** इति. नयनयुगं विशिंशन्ति ततः **''किञ्चिद्...''** इत्यादिविशेषणत्रयेण. ततो निद्राविद्रवानन्तरं **किञ्चिद्** ईषद् **उन्मीलनेन** नेत्रप्रकाशनेन **उन्नता** उर्ध्वं वक्रीभूता या भ्रूलता सैव **असमशरस्य** पञ्चबाणस्य कन्दर्पस्य **शरासनं** धनुः तस्मात् **च्युतं** निःसृतं यत् **कुसुमविशिखयोः** पुष्पबाणयोः **द्वयं** तेनेव तत्सदृशेन इति अर्थः. पुनः किंभूतेन? **गोपीजनानां वदनान्येव शरत्**कालीना इन्दवः तेषां **विभ्रमेण सञ्चरत्** चलायमानं **खञ्जनयोः** पक्षिविशेषयोः **युगलं** द्वयं तेनेव तत्सदृशेन इति अर्थः. शरत्कालीना अनेकचन्द्रतज्ज्योत्स्नादिदर्शनेन खञ्जनस्य भ्रमस्वभावचपलत्वाद् इति भावः. (अत्र **'खञ्जन'**पदं लक्षणया चकोरवाचकं तथाच इंदुदर्शनजनिताह्लादेन गतिविशेषशालित्वं चकोरे प्रसिद्धमिति तत्समानधर्मेण इदं तत्सदृशम् इत्यर्थः. यद्वा **खञ्जनाख्य** पक्षिविशेषस्य स्वभावचंचलत्वात् तद्वद् चाकचिक्यदर्शनेन गतिविशेषशालित्वं यथा तथा एतद्वयस्य. पुनः कीदृशेन? **हिन्दोलस्य आन्दोलनेन चलन्तः** चलायमाना **अमला** अत्यन्तं स्वच्छाः **सुभगाः** मनोहारिणो ये **वल्लवीनां** गोपवधूटीनां **गण्डमण्डलेषु** मण्डलाकारकपोलेषु **स्फुरन्तः** देदीप्यमानाः **ताटङ्काः** कर्णाभरणानि तेषु **मार्तण्डस्य** यो **भ्रमः** तेन **विकसितं कमलयोः** यद् **द्वयं** तेनेव

तत्सदृशेन इति अर्थः. पुनः किंभूतेन? **अरुणतरो** अत्यन्तम् आरक्तो यो **राधायाः अधरः** तस्य या **दीधितिः** किरणः तेन **किर्मीरीता** मिलिता या **दरहसन - प्रकटरदावली - तुहिनकर - प्रतिभट - प्रभा. दरहसनेन** ईषद्‌हसनेन **प्रकटा** या **रदावल्या** दन्तपङ्क्तेः या **तुहिनकरस्य** चन्द्रमसः **प्रतिभटा** प्रतिस्पर्द्धिनी **प्रभा** तया **जनितः** उत्पादितो यो **शारदस्य** शरत्कालीनस्य **शर्वरीपतेः** रजनिपतेः चन्द्रस्य **उदयस्य भ्रमः** तेन **विकसितं कुमुदद्वयं** तेनेव तत्सदृशेन इति अर्थः. आरक्ताधरकिरणमिश्रितरदावलीकिरणानां दर्शनेन हि चन्द्रोदयभ्रमो जन्यतएव, उदयकालीनचन्द्रकिरणानाम् आरक्तत्वाद् इति भावः (इत्यादि तथोक्तेः). ॥४॥

जयजय निजदृगन्तपात - सोपानसमारूढ - मकरकेतुभिर्
निजवदनशरदिन्दु - सम्फुल्लातिलोल - लोचनकुवलयाभिः
अनल्पाकल्पभूषिताभिर् निजनितम्बबिम्बालंकृत -
सुधाकरकरधवलविशदसुभगतल्पाभिः हरिकरकमलनखश-
रसम्पात- पराजितानङ्ग - पृतनाभिरिव विगलित -
कञ्चुकाञ्चल - नितम्बाम्बर - भूषाभिः अतिसुभगविशद-
जघनकनकासनोपवेशित- प्रियाभिः निजनखरदृगन्त -
विविधप्रसूनार्चित - वल्लभाभिः सुरतविद्याविनोदचतुराभिः
भावाधिगमसमये अग्रिमवियोगशङ्कया अन्तर्नयनद्वारि प्रवेश्य
पिहितकपाटाभिरिव निमीलितनयनाभिः क्रीड़ित!॥५॥

जयजय निजदृगन्त... इति. हे **निमीलितनयनाभिः** वल्लवीभिः **क्रीडित!** त्वं **जयजय. निमीलितानि नयनानि** यासां याभिः वा ताभिः इति तथा. ननु किमिति **निमीलितनयना** जाता इति आशङ्कायां हेतुगर्भितं विशेषणम् आहुः **भावाधिगम**...इत्यादि. कोटिकन्दर्पलावण्यतद्रूपदर्शनादिना यो **भावो** रत्याख्यः स्थायिभावः तस्य **अधिगमः** प्राप्तिः **तत्समये** या **अग्रिमवियोगस्य शङ्का** तादृशभगवत्स्वरूपदर्शनेन भावोदये सति क्रीडोपरमे च तादृशदर्शनाभावात् तत् न भविष्यतीति **अग्रिमवियोगशङ्का** इति अर्थः. तया हेतुभूतया **नयनएव**

द्वारौ यस्य एतादृशे (तादृशे) अन्तर्हृदये प्रवेश्य तत्स्वरूपं प्रवेशयित्वा **पिहितकपाटाभिरिव पिहिते** दत्ते **कपाटे** याभिः तथाभूताभिरिव इति अर्थः. तथाच **अग्रिमवियोगशङ्कया निमीलितनयनत्वम्** इति भावः[८]. '**अग्रिमे**'ति तृतीयान्तं **निमीलिता** इत्यनेन वा अन्वेयम्. '**भावे**'ति सप्तम्यन्तञ्च ल्यबन्तेन. यद्वा[९], भावेत्यादिनिमीलितेत्यन्तेनअन्वेयम्. अर्थस्तु उक्तएव इति. (भावाधिगमसमये निमीलितनयनाभिः क्रीडित इति योजनीय शेषं पूर्ववत्.) पुनः विशंशन्ति **निज...** इति. **निजस्य** भगवतो **दृगन्तानां** कटाक्षाणां ये पाताः तएव **सोपानानि** निःश्रेणयः तैः साधनभूतैः **समारूढो** अधिरूढो **मकरकेतुः** मकरध्वजः कन्दर्पो यासां ताभिः इति अर्थः. भगवद्‌दृगन्तया तेन उत्पन्नकामा सञ्जाता इति भावः. पुनः विशंशन्ति **निज...** इति. **निजस्य** भगवतो **वदनमेव शरदिन्दुः** तेन **सम्फुल्लानि** अतिलोलानि चञ्चलानि **लोचनान्येव कुवलयानि** यासां ताभिः इति अर्थः. पुनः किंभूताभिः? **अनल्पाकल्पभूषिताभिः. अनल्पाः** ये **आकल्पाः** भूषणानि तैः **भूषिताभिः** इति अर्थः. किञ्च, **निज**...इति **निजानां** स्वानां ये **नितम्बाः** तएव **बिम्बाः** चन्द्रगोलकाकाराः तैः कृत्वा **अलङ्कृताः** भूषिताः चन्द्रकिरणाइव **धवला** विशदा विस्तीर्णा **सुभगा** कोमला तल्पा याभिः इति तथा. किञ्च, **हरिः**...इति **हरेः करकमलं** तस्य ये **नखरा** नखाः तएव **शराः** तेषां **सम्पातः** तेन **पराजितानङ्गपृतना** याभिः इति तथा. अपरञ्च, **विगलित...** इति. **विगलितानि** स्वस्वस्थानाच्च्युता **कञ्चुकाञ्चलानि नितम्बाम्बराणि भूषाः** भूषणानि च यासां ताभिः इति तथा. किञ्च, **विशदानि जघनान्येव कनकासनानि** तेषु **उपवेशितः प्रियो** याभिः इति तथा. पुनः किंभूताभिः? **निज...** इति. **निजानां** ये **नखराः दृगन्ताश्च** तएव **विविधप्रसूनानि** पुष्पाणि तैः **अर्चितो वल्लभः** प्रियो याभिः इति तथा. पुनः किं विधाभिः? **सुरतविद्याविनोदचतुराभिः** सुरतविद्यासम्बन्धिक्रीडाभिज्ञाभिः इति अर्थः.॥५॥

जयजय पुनरतिनिर्वृतिविहितनिद्र! जागृहि जागृहि॥
न यावदेष कुङ्कुमारुणांशुः इन्दिरापते
पुरन्दरीयदिङ्मुखं समेति तावदुत्थितः॥

प्रमार्जय आननाम्बुजं निजाधरं च सुन्दरी-
कदम्ब - शोभितान्तर - स्वतल्प - मन्मथोदय !॥६॥

पुनः विशेषयन्ति **जयजय पुनः** इति. अत्र हि पूर्वं निवृत्तमधुकरनिकरमधुरत-रोद्घोषेण घोषविहितनिद्रत्वम् उक्तम्. ततश्च वीणागीतादिभिः उन्निद्रत्वं च कथितम् अतः अत्र **'पुनः'**पदोपादानम् इति ध्येयम्. **पुनः** क्रीड़ादिना **निर्वृत्त्या** अतिशयितसुखेन **विहिता** कृता **निद्रा** येन इति तथा. त्वं **जागृहि** निद्रां जहि. हे राजीवलोचनकमलनयन! **जागृहि.** अत्यादरे वीप्सायां[१०] (वीप्सायां नित्यवीप्सयोर्) सर्वत्र द्विर्वचनम्. इदानीं सूर्योदयात् प्रागेव उत्थानं सम्प्रार्थयन्ति **न यावद् एषः** इति. तदुदय[११]शङ्कितचेतस्त्वात् सूर्यस्य बुद्धिस्थत्वेन **एषः** इति अङ्गुल्या निर्देशः. हे **इन्दिरापते!** लक्ष्मीपते. **यावद् एष कुङ्कुम**वद् **अरुणा अंशवः** करा यस्य इति सूर्यः **पुरन्दरीया** इन्द्रसम्बन्धिनी या दिक् प्राचि इति अर्थः. तस्याः मुखं न **समेति** आगच्छति तावत् त्वम् उत्थितः सन् **आननाम्बुजं** मुखकमलं **निजाधरं** स्वीयम् ओष्ठं च **प्रमार्ज्जय** प्रक्षालय प्रोञ्छ इति वा. विशंशन्ति **सुन्दरी...**त्यनेन. **सुन्दरीणां** व्रजवधूनां **कदम्बः** समूहः तेन **शोभितम् अन्तरं** मध्यं यस्य एतादृशे **स्वतल्पे मन्मथस्य उदयो** यस्य इति. **स्वतल्पे मन्मथं** तासु **उदयति** इति वा. अन्तर्भावितण्यर्थो अत्र आयाति॥६॥

ननु किमिति उदयात् पूर्वमेव जागरणं प्रार्थ्यते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **न चेद्** इति.

न चेदमी शमी - तरु - प्रसून - तुल्यकक्षकं
नखक्षतं च मेचकाधरं सकुङ्कुमं मुखम्॥
विलोक्य नागरा जनाः तरामिमां तव स्थितिं
प्रभो सभासु भाषितुं समुज्झितोक्तयो नहि॥७॥

चेत् यदि उदयात् प्रागेव न उत्थास्यसि तदा **अमी नागरा** नगरवासिनो

जना शमीतरुप्रसूनैः तुल्या समा **कक्षा** यस्य एतादृशं नखक्षतम्. च पुनः **मेचकाधरं** श्यामतायुक्तम् **अधरं सकुङ्कुमं मुखं च विलोक्य** हे **प्रभो! इमां** पूर्वोक्तां **तव तरां** चञ्चलां **स्थितिम्** अवस्थितिं **सभासु** जनसमाजे **समुज्झिता** सम्यक्त्यक्ता अनुच्चारिता इति यावत् **उक्तयो** वचांसि यैः एतादृशा न भविष्यन्ति किन्तु तव चिह्नादिकथां वदिष्यन्त्येव इति अर्थः॥७॥

इदानीं भगवन्मुखकमलशोभया तिरस्कृतत्वं चन्द्रस्य वदन्तः प्रभातं द्योतयन्ति **स्फुरद्** इति.

स्फुरत्त्वन्मुखाम्भोज - शोभानिवृत्त -
स्वसौन्दर्यगर्वाचलः शर्वरीशः॥
ह्रिया मज्जति क्षारवारान्निधौ त्वन् -
नखालिच्छटाभिश्च तुच्छीकृतोऽयम्॥८॥

स्फुरन्ती शतचन्द्रापेक्षयापि अधिकं प्रसृता या **त्वन्मुखाम्भोजशोभा** मुखकमलद्युतिः तया **निवृत्तः स्वसौन्दर्य्य**स्य स्वशोभाया **गर्वो** अभिमानएव **अचलो** यस्य एतादृशो अयं **शर्वरीशः** चन्द्रो **ह्रिया** लज्जया **क्षारवारान्निधौ** क्षारसमुद्रे **मज्जति** प्रविशति. पुनः कीदृशः? **त्वद्** इति. **त्वन्नखालिः** त्वन्नखपङ्क्तेः **छटाभिः तुच्छीकृतः** अल्पीकृतः इति अर्थः॥८॥

अतः परम् उत्करदिवाकरेण कृतम् अर्हणं वदन्तएव उषः कालं ज्ञापयन्ति **दिवाकर...** इति.

दिवाकरोऽयमुत्करस्त्वदङ्घ्रिपङ्कजार्हणं
विधातुमागतोम्बुजैस्तदर्हणं सभाजय॥
कलिन्दजा त्वदाननावलोकनाय दृक्सरो-
जनूंषि सम्प्रसारयत्यनङ्गकोटिसुन्दर!॥९॥

अयं **दिवाकरः** सूर्यः **उत्करः. उत् ऊर्ध्वं करा** यस्य इति तथा सन् **अम्बुजैः** पूजासाधनैः **त्वदङ्घ्रिपङ्कजार्हणं** त्वच्चरणकमलपूजां **विधातुं** कर्तुम् **आगतः** आगतो अस्ति, कमलानां दिवा विकासितत्वाद् इति भावः. **तदर्हणं** तत्कृतपूजां **सभाजय** अङ्गीकारेण सत्कृतां कुरु इति अर्थः. अधुना कलिन्दजाया दिदृक्षां कथयन्तएव[१२] तत्समयं ज्ञापयन्ति अर्द्धेन **कलिन्दजा** इति. हे अनङ्गकोटिसुन्दर **कलिन्दजा!** यमुना **तदाननावलोकनाय** त्वन्मुखाम्बुजावलोकनं कर्तुं **दृक्सरोजनूंषि**. जनुः जन्मः सरसि जनुः येषां तानि **सरोजनूंषि** कमलानि. दृशो नेत्राणि **सरोजनूंषी** वा इति **''उपमितं व्याघ्रादिभिः''**(पाणि.सू. २।१।५६) इति समासः. तानि सम्प्रसारयति, प्रत्यूषे तद्विकासाद् इति आशयः॥९॥

पुनः तत्समयं प्रकारान्तरेण द्योतयन्तः कृपां च प्रार्थयन्ति **स्फुरद्...** इत्यादिना.

> **स्फु र त्स रो ज नि र्ग त द्वि रे फ यू थ गा य का**
> **यशो वितन्वते दिशां शुभाय दर्शनार्थिनः ॥**
> **जगद्विलोचने हरे कुरुष्व सार्थजन्मके**
> **कृपां कुरुष्व विट्ठले स्वपादपद्मसेवके॥१०॥**

इति श्रीगोपीजनवल्लभचरणैकतान्
श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितः प्रबोधः सम्पूर्णः

स्फुरत्पद्मसरोजेभ्यो निर्गता ये **द्विरेफाणां** भ्रमराणां **यूथाएव गायकाः दिशां शुभाय** कल्याणाय ते **यशो वितन्वते** विस्तारयन्ति. ननु गायन्तु द्विरेफाः किं तेन? इत्यतः आहुः **दर्शनार्थिनः** इति. ते हि दर्शनाकाङ्क्षिणो तत उत्थाय तेषां दर्शनं देहि इति भावः सूचितः. किञ्च, हे **हरेः!** **जगद्विलोचने** जगन्नेत्रे **सार्थं** सार्थकं **जन्म** ययोः एतादृशे कुरुष्व. तथा च त्वज्जागरणमन्तरेण दर्शनाभावे तत्कृतार्थतापि न भविष्यतीति जागृहि इति भावः. **स्वपादपद्मसेवके विट्ठले कृपां कुरुष्व.** अत्र 'जगत्'पदेन

लीलास्थाएव उच्यन्ते इति सङ्क्षेपः॥१०॥

> जानन्तएव जानन्ति चाधिकं भावमद्भुतम्।
> तस्मादन्वयमात्रं वै रूपितं चार्थबुद्धये॥१॥
> अयोग्येन मया चाऽस्मिन् यदुक्तं विठ्ठलेश्वराः।
> तत्क्षमन्तु कृपावन्तो मन्तुर्ज्जन्तुं न वै स्पृशेत्॥२॥

इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणारविन्दैकदासेन गोकुलोत्सवेन
(हरिधनचरणरजोधनिना) विरचितोऽयं
प्रबोधपद्यान्वयः

---

१. **''च स्वस्मिन् बोधयन्तः''** इति माण्डवी पाठः.
२. **''तस्या निलीनता आच्छिन्नत्वं प्रविष्टत्वेति यावत्''** इति माण्डवी पाठः.
३. **''हेतुना कर्त्रा वा घोषे''** इति माण्डवी पाठः.

४. अ.

माण्डवी पाठे ईदृशः क्रमः दृश्यते: **''तृतीयं हेतुम् आहुः नयन''** इति. नयनएव खञ्जरीटौ पक्षिविशेषौ तयोः युगलं द्वयं तस्य यद् उन्मीलनं जागरणं तद्भियैव झङ्काररहितैः भ्रमराणां हि नयनयोः खञ्जरीटभ्रान्तिः. तथा च तज्जागरणे सति अस्माकं तत्र स्थितिः दुर्घटेति मुखकलपरिमलाघ्राणमपि न भविष्यतीति तल्लोभेनैव झङ्कारशून्यैः इति भावः. यद्वा, नयने खञ्जरीटौ इति नयनखञ्जरीटौ व्याघ्रादेः आकृतिगणत्वात् समासः. तद्युगलस्य उन्मीलनम् उद्घाटनं तद्भिया इति अर्थः. **''एते अलिनः तव यशो अखिललोकतीर्थम्''** (भाग.पुरा.१०।१२।६) इति वाक्याद् भक्तत्वेन एतेषां भगवन्निद्राविरोधित्वात् च झङ्कारस्य तमकुर्वाणाएव परिमलं जिघ्रन्ति इति भावः॥२॥

४.आ.

कामवन पुस्तक खण्डित है. आरम्भके १ तथा २ पृष्ठ

नहीं हैं. जहांसुं प्रारम्भ होवे है वो या तेरहसुं है. ...गतासु **"स्वागतं वो महाभागाः"** (भाग.पुरा.१०।२६।१८) इत्यादि श्रीमन्मुखोत्थवाक्यैः उपरितो गमनं श्लिष्टपदैः स्थितिं च याचितवान्. ताभिश्च तदनन्तरं भगवद्वाक्यानुसारेण उत्तरं दत्तवतीभिः **"भजस्व दुरवग्रह"** (तत्रैव श्लोक ३१) इत्यादिभिः स्वजनं(?) **"तन्नः प्रसीद"** (तत्रैव श्लोक ३८) इत्यादिभिः सेक(?) **"यर्ह्यम्बुजाक्ष"** (तत्रैव श्लोक ३६) इत्यादिभिः अन्यत्रस्थित्यभावः **"तन्नः प्रसीद व्रजिनार्दन"** (तत्रैव श्लोक ३८) इत्यादिना दास्यम् **"व्यक्तं भवान्"** (तत्रैव श्लोक ४१) इत्यनेन आत्ममूर्द्धनि च करकमलस्थापनं च याचितानि. ततश्च भगवता तन्मनोरथे पूरिते तासां मदमानयोः जनितयोः अन्तर्धानेन मदमानाभावो याचितः इति याञ्चोपदेन(?) प्रथमाध्यायार्थः. उपपदेन सामीप्यर्थे न द्वितीयार्थः. तत्र हि हृदये स्थितिबोधके केन(?) **'अन्तर्हित'**पदेन **"बाहुप्रियांस उपधाय"** (तत्रैव १०।२७।१२) इत्यनेन **"कुन्दस्रजः कुलपतेरिहवाति गन्धः"** (तत्रैव.श्लोक ११) इत्यादिना च सामीप्यमेव बोध्यते, बहिःस्थित्यपेक्षया अन्तःस्थितौ सामिप्यात्. **'ताप'**शब्देन तृतीयार्थः स्फुटः. तत्राऽपि **"तव कथामृतं तप्तजीवनम्"** (तत्रैव.१०।२८।९) **"कलिलतां मनः कान्तगच्छति"** (तत्रैव श्लोक ११) इत्यादि पदसत्वात् ऐश्वर्यं चतुर्थे स्फुटम्. **"तासामाविरभूच्छौरिः...साक्षान्मन्मथमन्मथ"** (तत्रैव.१०।२९।२) **"तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरः"** (तत्रैव.श्लोक.१४) **"त्रैलोक्यलक्ष्मेकपदं वपुर्दधत्"** (तत्रैव श्लोक १४) इत्यादिपदैः आशीः पूरणउद्घाटनम् तद्भिया इति अर्थः. **"एतेलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थम्"** (तत्रैव १०।१५।६) इति वाक्याद् भगवत्वेन एतेषां भगवन्निद्राविरोधित्वात् च झङ्कारस्य तम् अकुर्व्वाणाएव परिमलं जिघ्रन्ति इति भावः —'श्रीगिरिधराणां' पुस्तकमें ये अंश नहीं हे. माण्डवी पुस्तकमें **"एतेलिनस्तव..."** इति भावः. इतनो अंश है.

५. **"शब्दे अत्यन्तमधुरत्वम्"** इति माण्डवी-कामवनपाठः.
६. **"तत्सम्बोधनम्. केन"** इति माण्डवी-कामवनपाठः.

७. **"केन प्रकारेण?"** इति कामवनपाठः
८. **"इति भावः. अन्तर इति लुप्तसप्तमीकम् अव्ययम्. अग्रिमेति"** इति माण्डवीपुस्तके अधिकं वर्त्तते.
९. **"यद्वा, भावाधिगमसमये निमीलितनयनाभिः क्रीडितेति योजनीयम्. शेषं पूर्ववत्. पुनः विशंशन्ति"** इति माण्डवीपाठः.
१०. **"वीप्सायां नित्यवीप्सयोरिति सर्वत्र"** इति कामवन-माण्डवीपाठः
११. **"तदुदयाशङ्कित"** इति कामवनपाठः.
१२. **"एतत्समयम्"** इति कामवनपाठः.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ मंगलारार्तिकार्या ॥

गोस्वामिश्रीविट्ठलेशप्रभुचरणविरचिता

सोपोद्घातवर्तिकाद्युतिसमेता

(मंगलाचरणम्)

मंगलं भगवान् श्यामसुन्दरो मथुराधिपः ॥
मंगलं व्रजराजश्रीस्वामिनीसहितो सदा ॥१॥
मंगलं व्रजभक्तानां निरोधार्थाः हि केलयः ॥
श्रीमद्भागवतोक्ताहि भजनानन्ददायिकाः ॥२॥
मंगलं तनुवित्ताभ्यां स्वगृहे सेवनं प्रभोः ॥
ग्रन्थोपदिष्टरीत्या हि तल्लीलाभावनेन हि ॥३॥
प्रभोः निराजनं प्रातः मंगलाद् मंगलं परम् ॥
तदार्याकृद्विठ्ठलेशः प्रभुर्मे मंगलाय हि ॥४॥

(संशयोत्थापिता विचारावश्यकता)

इदम् अत्र विचारणीयं : पुष्टिभक्तिमार्गीये स्वसम्प्रदाये प्रेमयुक्ता भगवत्सेवैव मुख्या नतु पूजा, नीराजनन्तु पूजांगतयैव उपदिष्टमिति कथंकारो अयं भरो मंगलारार्तिकार्यायाः विरचने तदनुगाने वा?

(मंगलपद्यारार्तिकयोः सेवायाम् अनावश्यकता इति पूर्वपक्षः)

यस्माद् व्रजलीलानिरूपणपरे श्रीमद्भागवतदशमतामसप्रकरणे व्रजवासिभिः भगवतो नन्दराजकुमारस्य नीराजनं कृतम् इति न कुत्रापि वर्ण्यते श्रूयतेऽपिवा[1]. चतुश्लोक्यामपि **''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्य अयमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन''** (चतुश्लो.१) इति महाप्रभुणा व्रजाधिपभजनस्यैव स्वमुख्यधर्मतया प्रतिपादनाद् नीराजनं तावत्

पूजांगत्वेन अनावश्यकमेव भाति[2]. यतोहि सर्वनिर्णयनिबन्धेऽपि **''पिता चरेद् यथा बाले... अच्छिद्रसेवनात् चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैः, नान्यथा तु कथञ्चन, दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येनकेनचित् सर्वेन्द्रियोपशान्त्या तुष्यत्याशु जनार्दनः... प्रेम्णा सेवातु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम्''** (त.दी.नि.२।३१५-३२३) इत्यत्र पूजोपचाराद्यपेक्षया सर्वभूतेषु दया-सन्तुष्टि-सर्वेन्द्रियोपशान्तयः आशु भगवत्तोषकारिण्यः इति निरूपणात् च. ततश्च भगवत्तोषकदयाद्युद्बोधकानि तत्सामर्थ्यप्रदानाय प्रार्थनापद्यानि कुतो न भगवत्सेवांगतया विरचितानि[3]? तस्माद् नीराजनादिविविधपूजोपचाराणां पुष्टिभक्तिमार्गे न तावती अपेक्षा इति प्रतिभाति. यत्र पुनः **''श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः''** (त.दी.नि.२।२२९) इति आज्ञप्तं तत्रापि **''सेवा मुख्या नतु पूजेति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद् इति... स्वयं परिचरेद् भक्त्या... एककालं द्विकालं त्रिकालं वापि पूजयेत्... (परिचर्यायाः) धर्मार्थतां व्यावर्तयति 'भक्त्या' इति''** (त.दी.नि.२।२३७) इति वचनोपलम्भादपि का वा अपेक्षा मंगलारार्तिकार्यायाः? प्रभुचरणैरपि सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतौ **''स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते. सेवाहि सेवकधर्मः तदुक्त्या जीवानाम् अशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणीव अत्र कालपरिच्छेदो अस्ति इति आहुः 'सदा' इति. आवश्यकार्थ-'ण्यत्'प्रत्ययान्त-'कार्य'-पदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवति इति भावो ज्ञाप्यते''** (सि.मु.वि.१) इति सेवायां कालापरिच्छेदो तदंगभूतपूजोपचारेषु कालत्रय-कालद्वय-सकृद्वा इति कालानियमस्य द्योतितत्वेन स्फुटीकृतं सकलम् इदम्[4]. तस्मादेव रश्मिकृद्भिरपि भाष्यपरिशिष्टे **''संयोगसेवायां दास्यभक्तित्वेन... सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या निवृत्तसर्वदोषभक्तिमार्गीयो भक्तिवर्धिन्युदितरीत्या सम्पूजयेत्. भक्ति वर्धिन्युक्तपूजायां सम्यक्त्वं श्रवणादिपूर्वकत्वमेव 'पूजया श्रवणादिभिः' इति भक्तिवर्धिनीवाक्यात्... आसनम्... नीराजनम्'' इति त्रयस्त्रिंशदुपचाराः''** (अणु.भा.रश्मिपरि.४।३।१६) इति प्रतिपादयद्भिः नीराजनस्य पूजोपचारांगतयैव परिगणनात् च. सति चैवं पूजांगभूतायाः मंगलारार्तिकाद्यार्यायाः प्रकटने कुतः एतावान् भरो[5]? यद्यपि आरार्तिकायाः

गाने उपांशूच्चारणे वा न तावद् मन्त्रपरता इति वक्तुं युक्तं तथापि तस्याः मन्त्रानुकल्पतया गौणीभूतपूजांगत्वन्तु अपरिहार्यमेव[६]. एतदपेक्षया सेवाद्यंगभूते तत्र स्वगेहदाराद्यात्मीयविनियोगे स्वतनुवित्तविनियोगे वा सर्वभूतदयासन्तोषसर्वेन्द्रियोपशान्त्यादीतिकर्तव्यतानिरूपणे वा तदुद्बोधने वा कुतो न प्रभुचरणानां भरः[७]? किञ्च **''मन्त्राधीनत्वं तत्तद्देवतायाः उच्यते. पुरुषोत्तमस्तु... न मन्त्रोपासनाद्यधीनः इति महद्वैलक्षण्यम्... ननु मन्त्रादेरपि भगवदीयत्वात् तत्सम्बन्धि सर्वं भक्तिरूपमेवेति नोक्तानुपपत्तिः इति चेत्... 'प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयं पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिः मत्सार्ष्टिताम् इयाद्' इति प्रत्येकसमुदायाभ्यां फलभेदं निरूप्य... इति फलभेदादपि स्वरूपभेदः''** (भक्तिहंसे)[८] इति यदा प्रभुचरणैरेव अभ्यूहितं तदातु सकलम् इदं असमञ्जसमिव आभात्येव! इति चेद्.

(मंगलपद्यनिराजनयोः सेवाभक्त्यंगत्वेन उपकारितेति सिद्धान्तोपक्रमः)

अत्र ब्रूमः : **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''-''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** (छान्दो.उप.३।१४।१ - ६।८।७)इत्यादिश्रुतिभिः सर्वेषामपि नामरूपकर्मणां सृष्टौ अखण्डब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मतादात्म्यं यद्यपि सर्वत्र सर्वथैव अक्षुण्णं; तथापि, **''सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''** (तैत्ति.उप.६।२।२-३) इति अपरयापि श्रुत्या एकस्यैव अद्वितीयस्य सतो ब्रह्मणो स्वसंकल्पेन बहुभवनमपि श्रावितमेव. तच्च तस्य अंशिनो विविधेषु अंशेषु **''हन्त! तिरोऽसानि... तद्ध इदं तर्हि अव्याकृत आसीत्, तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत... प्राणन्नेव प्राणो भवति, वदन् वाक्... तानि एतानि कर्मनामान्येव''** (बृह.उपा.१।४।४-७) इति अंशेषु अंशिनः तिरोहिततया अवस्थितिः द्योत्यते. सच्चिदानन्दात्मके ब्रह्मरूपोपादाने अंशिनि सद्रूपेणैव तेषां नामरूपकर्मणाम् अवस्थितिः. सृष्टौ तावद् यत्र नैकविधानां नामरूपकर्मणाम् अंशरूपेण आविर्भावः तत्र अन्यादृङ्नामरूपकर्मणां तिरोभावो यथा तथैव अंशिरूपस्यापि तिरोभावः. एतादृश्यैव हि प्रक्रियया बहुभवनसंकल्पसंसाधनम् इति अवसीयते. तदेतद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः **''त्रैविध्ये हेतुम् आह सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोः अन्यलीनता सति चिदानन्दधर्मयोः तिरोभावः, चिति आनन्दस्य''** (त.दी.नि.१।२९) इति.

(तत्र विविधोदाहरणोपपत्तयः)

एतेन यथा (१)सद्रूपे पाञ्चभौतिके देहे चिद्रूपस्य जीवात्मनः आभ्यन्तरावस्थितिः; यथाच, तस्मिन् आनन्दरूपस्य ईश्वरस्य अन्तर्यामिणोऽपि. ततश्च नतु एकस्य अपरस्मिन् बहिःप्राकट्यम् उपलभ्यते. नच एतावता जीवात्मचैतन्ये असद्रूपता नापि ईश्वरे अन्तर्यामिणि अचेतनता. यथावा (२)पुष्टिसृष्टिप्राकट्यकारिणि भगवत्स्वरूपे मर्यादासृष्टिप्राकट्यकारिण्याः वाण्याः सत्त्वेऽपि न सर्वत्र भगवद्वाणीप्राकट्ये नियमतो भगवत्स्वरूपप्राकट्यम्. तथैव **''तस्माद् यत् पुरुषो मनसा अभिगच्छति तद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति''** (बृ.जा.उप.१।१)इति न्यायेन यत्र भगवद्वाणीप्राकट्यं तत्र भगवन्मनसः सत्त्वेऽपि प्रवाहसृष्टिकारिणा हि केवलेन मनसा यदा आसुरीसृष्टिप्राकट्यं तदा तत्र श्रुतिरूपायाः भगवद्वाण्याः प्राकट्यं नाभ्युपेयते. (३)यथाच ज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्ये कर्मणि ज्ञानप्राकट्येऽपि न सर्वासु क्रियाभिव्यक्तिषु ज्ञानप्राकट्यम् अंगीक्रियते. (४)यथावा क्रियाज्ञानशक्तिमतो आनन्दात्मकस्य सर्वभवनसमर्थस्य भगवतो लीलायां क्रियाज्ञानशक्त्योः प्राकट्येऽपि क्रियाज्ञानशक्तिमतो जीवानां कर्मसु न सर्वदा आनन्दात्मकलीलाप्राकट्यं स्वीकृतम्. तथैव पुष्टिभक्तौ पुष्टिभक्तेषु वा अहन्ता-ममताजन्यायाः प्रावाहिक्याः वृत्तेः क्रियायाः चापि प्राकट्यवद् वर्णाश्रमधर्माणां वा मर्यादाभक्तिमार्गीयाणां धर्माणामपि वा विनियोगः प्राकट्यं वा अन्तर्भावोऽपि वा कुतो न भवितुं शक्यते? अहन्ता-ममताप्रयुक्तकर्मणां प्रवाहमार्गीयाणां शास्त्रोक्तकर्मसु विनियोगप्रयुक्ते अन्तर्भावेऽपि तादृशां प्रवाहिजीवानां व्यवहारे न शास्त्रोक्तकर्मजनितं श्लाघ्यत्वं शास्त्रे न अभिमतम्. आतश्च श्रीमदाचार्यचरणाः श्रीमत्प्रभुचरणाश्चापि कथयन्ति :

> **''यावद् देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्मएव स्वधर्मः... यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मः''.**

"वरणेच अस्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेन... अत्र वदामः श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति... [१]त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयः. तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा. वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवद् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत्. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि... [२]तुरीयाश्रमे ज्ञानोदयचित्तशुद्धिहेतुत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः ज्ञानमार्गीयः... [३]साक्षाद् मोक्षसाधनत्वेन तान्त्रिकदीक्षापूर्वकः विहितत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः उपासनामार्गीयः... [४]भक्तिमार्गीयभक्तभक्तिसाम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकः मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिः... [५]प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः मर्यादाभक्तिः... स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः पुष्टिभक्तिरूपः".

(सुबो.३।२८।२, भक्तिहं.).

तस्माद् यथा क्षराक्षरयोः पुरुषोत्तमस्य अनन्तर्भावेऽपि सर्वाधारतया सर्वधर्मितया वा पुरुषोत्तमेतु क्षराक्षरयोः अन्तर्भावो अंगीकरणीयएव तथा पुष्टिभक्तेरपि प्रावाहिककर्मसु मार्यादिकधर्मेषु वा अनन्तर्भावेऽपि तयोस्तु पुष्टिभक्तौ अन्तर्भावसद्भावेन तदंगतया अनुष्ठाने न काचित् क्षतिः.

(पूर्वपक्षोक्त १-८ युक्तीनां निरसनम्)

यत् पुनः उक्तं [१]श्रीमद्भागवते तामसप्रकरणे व्रजवासिभिः नीराजनं कृतम् इति न कुत्रापि वर्ण्यते श्रूयतेऽपिवा इति. यच्च [२]चतुश्लोक्यामपि महाप्रभुणा व्रजाधिपभजनस्यैव स्वमुख्यधर्मतया प्रतिपादनाद् नीराजनं तावद् पूजांगत्वेन अनावश्यकमेव भाति इति उक्तं, तदेतद् असमीक्षिताभिधानं, जन्मप्रकरणएव सुबोधिन्यां—

"प्रमेयबलस्य प्रकटीकृतत्वात् शास्त्रस्य गौणत्वाद् अविहितस्नेहेन पुत्रभावेन विहितस्नेहेन ब्रह्मभावेन वा विषयस्य तुल्यत्वात् प्रकारस्य अप्रयोजकत्वाद् यथाकथञ्चिद् मयि कृतस्नेहौ परां मद्गतिं 'व्यापिवैकुण्ठा'ख्यां यास्येथे, माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहस्य तुल्यत्वाद्. अतएव गोपिकादीनामपि माहात्म्यज्ञानम् उत्पादयिष्यति. अन्यथा बोधांशो अधिकः स्याद्, भक्तानां प्रपञ्चाभावस्य निरोधत्वात्."

(सुबो.१०।३।४५)

इति महाप्रभुणामपि एतदेव उपदिदिक्षितं यत् श्रीकृष्णे हि अनन्यभावेन आश्रितानां शुद्धपुष्टिभक्तानामपि कृते माहात्म्यज्ञानपूर्वकमेव व्रजाधिपभजनं अवश्यकर्तव्यताकम् इति. तच्च तामसलीलाप्रकरणे न चेद् मास्तु राजस-सात्त्विकप्रकरणयोस्तु अपरिहार्यमेव.

तत्र आधुनिकेषु पुष्टिजीवेषु माहात्म्यज्ञानोद्बोधनाय श्रवण-कीर्तन-स्मरणानि वाचिकानि साधनानि यदन्तर्गतं मंगलारार्तिकार्यागानम्. पादसेवनार्चन-वन्दनानि कायिकानि यदन्तर्गतं नीराजनं चापि आयात्येव. स्नेहोद्बोधनाय तु पुनः दास्यसख्यात्मनिवेदनानि साधकानि विहितस्नेहभावानुभावकानि. तेषाम् एतेषां परार्थप्रतिष्ठापितदेवालयेऽपि विहितभक्तितया अनुष्ठातुं शक्यत्वेन तद्वारणाय स्वमार्गीयभजनविधौ पुष्ट्यनुभावरूपताधानार्थं स्वात्मात्मीयसमर्पणेन स्वगेहे स्वतनुवित्ताभ्यां स्वकीयपरिजनैश्च साकं व्रजलीलानुकरणेन भगवत्सेवने चित्तस्य भगवत्प्रवणतायां यथोक्तभक्तिः प्रादुर्भवति इति प्रक्रियासंक्षेपः.

सति चैवं सिद्धान्तमुक्तावलि-सिद्धान्तरहस्योत्तरं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं तदनु चतुःश्लोकी ततश्च भक्तिवर्धिनी इति षोडशग्रन्थक्रमः एवं संगतिसाफल्यम् अश्नुते.

यत्पुनः [३]सर्वनिर्णयनिबन्धेऽपि सर्वभूतदया-सन्तुष्टि-सर्वेन्द्रियोपशान्तिपूर्वकं स्वयोग्य-निष्काम-सप्रेमाच्छिद्रसेवनं सेव्यवश्यत्वसाधनतया उक्तम्. पूजोपचारा-द्यपेक्षया एतादृक्सामर्थ्यप्रदानप्रार्थनापद्यानि कुतो न भगवत्सेवांगतया विरचितानि ? तस्माद् नीराजनादिविविधपूजोपचाराणां पुष्टिभक्तिमार्गे न तावती अपेक्षा इत्यपि भाषितं तदपि अयुक्तं, **"एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिः उत्तमः, प्रेमाभावे मध्यमः स्याद् ज्ञानाभावे तथा, आदिमः उभयोरपि अभावेतु"** (त.दी.नि.१।१०१-१०२) इति निबन्धवचने श्रवणादिनवकज्ञानप्रेम्णां समुच्चयस्य उत्तमभक्तित्वेन प्रतिपादनात् तदन्तर्गतं नीराजनमपीति न असंमञ्जसं किञ्चिद्.

यत्रहि **"श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः"** (त.दी.नि.२।२-२९) इति आज्ञप्तं तत्रापि **"सेवा मुख्या नतु पूजेति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद् इति... स्वयं परिचरेद् भक्त्या... एककालं द्विकालं त्रिकालं वापि पूजयेत्... (परिचर्यायाः) धर्मार्थतां व्यावर्तयति 'भक्त्या' इति"** (त.दी.नि.२।२३७) इति वचनेऽपि सेवांगतयैव पूजायाअपि विधानोपलम्भादेव कुत्र कालनियमः कुत्रच अनियमः इत्यादिहेतूनान्तु अकिञ्चित्करत्वमेव.

तस्मादेव हेतोः [४-५-६]रश्मिकृतां प्रतिपादनमपि आचार्योपदिष्टषोडशग्रन्थो-पदेशानुरोध्येवेति न विरोधः कश्चन.

नच [७]मंगलारार्तिकार्यागानाद्यपेक्षया सेवाद्यंगभूतायाः तत्र स्वगेहदाराद्या-त्मीयविनियोगप्रार्थनायाः स्वतनुवित्तविनियोगप्रार्थनायाः वा दयासन्तोषसर्वेन्द्रियो-पशमादीनां वा उद्बोधकपद्यानां प्रामुख्यं कुतो न? इति आपादनीयं, भक्त्यनुभावरूपायां भक्त्यर्थम् अनुष्ठितायां वा सेवायां न केवलं भगवन्माहात्म्यज्ञानस्य प्रामुख्यं किमुत भगवतो व्रजलीलायाअपि. यद्यपि साधनदशायां भक्तेरपि माहात्म्यज्ञानानुरोधात् स्वगेहदेहपरिजनधनादीनां विनियोगः सर्वथैव प्राथम्यम् आवहति, तथापि सम्प्रवृद्ध-भगवत्स्नेह-व्यसनेनैव व्रजभक्तानामिव स्वसर्वस्वसर्मणाय *कदा मम भक्तिः फलिष्यति!* इति

मनोरथोद्बोधाय व्रजलीलागानमेव अन्तरंगतमं साधनं चकास्ति. तदपेक्षयातु किञ्चिद् बहिरंगं भक्तिमाहात्म्यज्ञानांगभूतं स्वसर्वस्वसमर्पणभावनोद्बोधनम् अंगीक्रियते. ततोऽपि गौणं दयासन्तोषसर्वेन्द्रियोपशमादिकं चेति. यस्माद् दयासन्तुष्टीन्द्रियोपशमानां निर्वाहस्य जगति आसुरावेशप्रतिबन्धवारकतया अत्यन्तावश्यकत्वेऽपि न भक्तिभाववर्धने साक्षाद् उपकारकता किन्तु आरादेव उपकारकता. इतोऽपि न भक्तिफलरूपताघटकत्वेन किन्तु भक्तिप्रतिबन्धकनिवा-रणेनैव अपेक्षा.

अतोहि [८]फलभेदात् स्वरूपभेदप्रतिपादकं भक्तिहंसवचनमपि केवलमाहा-त्म्यबुद्ध्या भक्तिवत् समन्त्रकभगवदर्चनादेः गौणत्वसाधकं नच अन्यथा. नोचेत् 'पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा'ग्रन्थानुरोधेन तत्प्रतिष्ठाविधौ पुरुषसूक्तोच्चारणेनापि भगवद्विभूतिरूपप्रतिष्ठायाः दुष्परिहरता वज्रलेपायितैव भवेत्. ततोहि तथाप्रतिष्ठापितस्यापि भगवद्विग्रहस्य ज्येष्ठाभिषेकादौ सुवर्णघर्मानुवाकेन अभिषेकस्यापि नैष्फल्यं विभूतित्वापादकत्वं वा न कथं गलेपतितं भवेद् इत्यपि विमृग्यम्!

तस्माद् **"बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः"** (भ.व.२), **"श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः"** (त.दी.नि.२।२२९) इत्याद्यनेकवचनैः सेवांगतया अनुष्ठीयमाना पूजापि सेवैव, पूजांगतया अनुष्ठीयमानातु सेवापि यथा पूजारूपैव भवति तथा. यथाच आधुनिकैः अस्मादृशैः एतन्मार्गगुरुभिः लाभपूजार्थं प्रदर्श्यमानायाः भगवत्सेवायाअपि पञ्चमवर्णान्तःपातकारिणी जघन्याजीविकारू-पतैव द्विविदवानरमनोवृत्त्या भगवद्भजनतया भ्रान्त्या अंगीकृता!. सएव खलु न्यायः इहापि बोध्यः.

(सिद्धान्तोपपत्तीनां निष्कर्षः)

तस्मात् पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाविधिना यथा पाषाणादिमूर्तौ भगवद्भावात्मकता-

र्विर्भावः तथा मंगलारार्तिकार्यागानेन अन्तर्मनसि भावनेन वापि चिकीर्षितायां "**कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा**" (त.दी.नि.१।४) इति वचनोक्तायां तिरोहितानन्दकजीवस्य कर्मरूपायामपि भगवत्सेवायां सर्वानन्दमयस्य भगवतो लीलात्वप्रतिष्ठापनार्थं प्रभुचरणाम् अयम् उपक्रमः पुष्टिभक्तौ भृशम् उपकारकएवेति न तत्र शंकालेशोऽपि.

(मध्ये भगवत्प्रबोधपद्यतात्पर्यमीमांसा)

इदमपि इह विशेषतो अनुसन्धेयं भवति : यथाहि पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाग्रन्थे पाषाणादिमूर्तौ भगवत्प्रतिष्ठातः पूर्वं सकलनामरूपकर्मणां ब्रह्मरूपताप्रतिपत्त्यर्थं पुरुषसूक्तेन आध्यात्मिकाधिदैविकशुद्धी सम्पाद्येते तदनु ब्रह्मसदंशात्मिकायां भगवन्मूर्तौ सदंशरूपिणोः अंशांशिनोः तादात्म्यानुरोधेन सच्चिदानन्दात्मकभगवत्प्रबोधनार्थं श्रीमद्भागवतोक्तवेदस्तुत्याद्यपद्यपाठः विहितः. यस्मात् तैत्तिरीयश्रुतौ "**तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्. निरुक्तं चानिरुक्तञ्च, निलयनं चानिलयनञ्च विज्ञानं चाविज्ञानञ्च सत्यं चानृतञ्च सत्यम् अभवत्**" (तैत्ति.उप.२।६) इति ब्रह्मणि परमात्मत्वधर्मप्रादुर्भावः श्रावितः. तस्मादेव श्रीमदाचार्यचरणाअपि एवम् अभिप्रयन्ति "**एतद् जगद् भगवद्रूपम् इति उक्तं, श्रुतौहि हि प्रकारद्वयेन निरूपणम् : आत्मत्वेन ब्रह्मत्वेन च. 'आत्मैव इदं सर्वं'-'ब्रह्मैव इदं सर्वम्' इति. बृंहणत्वं व्याप्तिं च अपेक्ष्य पदद्वयं प्रवृत्तम्. उभयोः स्वरूपम् आनन्दः, तथापि सप्रकारः आत्मा निष्प्रकारं ब्रह्म... ऐश्वर्यादिधर्मान् पुरस्कृत्य भगवत्त्वम् आहुः**" (सुबो.३।२९।३६).

तदिदं तत्र भगवत्त्वन्तु भागवते "**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**" (भाग.पुरा.३।९।११) इति वचनोक्तं स्वभक्तेषु विशेषानुग्रहरूपं भगवत्सामर्थ्यप्रयुक्तं भावयोगावान्तरव्यापारहेतुकम्. ततश्च मूर्तौ ब्रह्मपरमात्मभगवद्रूपतासम्पत्तौ सत्यां स्वगेहाराध्य-श्रीकृष्णस्वरूपतासम्पत्त्यर्थं स्वगेहे भगवत्सेवाकर्मणि भगवल्लीलाप्रतिष्ठापनात् प्राक् भगवत्प्रबोधनमपि

भृशं व्रजलीलाभावपोषणाय भवति. यथाच नित्यसेवाह्निकविधिप्रकाशकाराः मठेशोपाख्याः इन्दिरेशभट्टाः आहुः "**संसाध्य मंगलं भोगं घण्टादिध्वनिपूर्वकं पूर्वं प्रबोध्य 'आचार्या'ख्यपादुकात्मकम् ईश्वरं तद्वारतः पठन् स्तोत्रं प्रबोधं वा प्रबोधयेत्**" (नि.आ.वि.प्र.१८-१९) इति. तस्माद् आचार्यप्रबोधनं यथा पुष्टिभक्तिभावप्रबोधनार्थं भगवत्प्रबोधात् प्राक् भगवत्सेवौपयिकसम्भाराणां सज्जीकरणात्मकं तथा भगवत्प्रबोधनं चापि भक्त्यंगभूतकर्मणि भक्त्यर्थम् अनुष्ठेयकर्मणि भगवल्लीलाप्रतिष्ठापनप्रयोजनकमेव.

तस्मात् श्रीमत्प्रभुचरणविरचिता प्रबोधस्तुतिरपि इह आनुपूर्व्या विलिख्यते :

"जय-जय! तुहिनकर-कर-निकर-कुड्मलित-कमलावली-निलीनतया निवृत्त-मधुकर-निकर-मधुरतरोद्घोषोद्धति-विहत-निद्र भद्र सुभद्राग्रज!

जय-जय! निजमुख-कमलामल-परिमलाघ्राण-जनित-सुखाशयेनैव सञ्जात-सुखनिद्रा-विद्रावण-भियेव नयन-युगल-खंजरीटोन्मीलनभियेव झंकार-रहितैर् अलिभिरिव बालक-शतैः परिवृत-वदनारविन्द गोविन्द!

जय-जय! निशाकर-करविकच-कुवलय-कोश-निर्यात-दिवाकर-करनिकर-कुञ्चित-कमलावलि-कोश-स्थिति-जनित-मधुर-मधुपानोन्मोद-मुदित-भृंगांगना-रव-मधुरतरोद्-घोष-विद्रावित-निद्र! निखिल-गोपीजन-जनित-निजाधार-हिन्दोलान्दोलन-चलदमल-वलय-झमत्कारेण मधुरतर-निनद-वीणा-गीतादिभिर् उन्निद्र-नयन-खंजरीट-युगल!

जय-जय! ततः किञ्चिदुन्मीलनोन्नत-भ्रूलता-ऽसमशरा-सनच्युत-कुसुमविशिख-द्वयेनेव गोपीजन-वदन-शरदिन्दु-विभ्रम-सञ्चरत्-खञ्जन-युगलेनेव हिन्दोलान्दोलन-चलदमल-सुभग-वल्लवी-गण्ड-मण्डल-स्फुरत्ताटंक-मार्त्तण्ड-भ्रम-वि-

कसित-कमल-द्वयेनेव अरुणतरामल-राधाधर-दीधिति-कि-
र्मीरित-दर-हसन-प्रकट-रदनावली-तुहिनकर-प्रतिभट-प्रभा-
जनित-शारद-शर्वरी-पत्युदय-भ्रम-विकसित-कुमुद-द्वयेन
प्रकटित-नयन-युगेन ईक्षित-निखिल-नितम्बिनी-वृन्द!

जय-जय! निज-दृगन्त-पात-सोपान-समारूढ-मकरके-
तुभिः निजवदन-शरदिन्दु-संफुल्लाति-लोल-लोचन-कुवल-
याभिः अनल्पाकल्प-भूषिताभिः निज-नितम्ब-बिम्बालंकृत-
सुधाकर-कर-धवल- विशद-सुभग-तल्पाभिः हरिकर-कमल-
नखशर-सम्पात-पराजितानंग-पृतनाभिरिव विगलित-कञ्चु-
काञ्चल-नितम्बाम्बर-भूषाभिअतिसुभग-विशद-जघन-कन-
कासनोपवेशित-प्रियाभिः निजनख-दृगन्त-विविध-प्रसूनार्चि-
त-वल्लभाभिः सुरत-विद्या-विनोद-चतुराभिः भावाधिगम-
समये प्रियवियोग-शंकया अन्तर्नयनद्वारं प्रवेश्य पिहित-
कपटाभिरिव निमीलित-नयनाभिः क्रीडित!

जय-जय! नरति-निर्वृति-विहित-निद्र! जागृहि-जागृहि!

न यावद् एष कुंकुमारुणांशुरिन्दिरापते!
पुरन्दरीय-दिङ्मुखं समेति तावद् उत्थितः।
प्रमार्जयाननाम्बुजं निजाधरं च सुन्दरं
कदम्ब-शोभितान्तर-स्वतल्प-मन्मथोदयम्॥
न चेद् अमी शमीतरु-प्रसून-तल्प-कञ्चुकं
नखक्षतं च मेचकाधरं सकुंकुमं मुखं।
विलोक्य नागराः जनास्तईदृर्शी तव स्थितिं
प्रभो! सभासु भाषितुं समुज्झितोक्तयो नहि॥
स्फुरत्-त्वन्मुखाम्भोज-शोभा-निवृत्त-
स्वसौन्दर्य-गर्वाचलः शर्वरीशः।
ह्रिया मज्जति क्षीरवारांनिधौ तन्-
नखालिच्छटाभिश्च तुच्छीकृतोऽयम्॥
दिवाकरोऽयम् उत्कटस्त्वदंघ्रिपंकजार्हणं

विधातुम् आगतोऽम्बुजैस् तदर्हणं सभाजय।
कलिन्दजा त्वदाननावलोकनाय दृक्सरो
जनूंषि सम्प्रसारयत्यनंगकोटिसुन्दर!॥
स्फुरत्-सरोज-निर्गत-द्विरेफ-यूथ-गायकाः
यशो वितन्वते दिशां शुभाय दर्शनार्थिनो।
जगद्-विलोचने, हरे!, कुरुष्व सार्थजन्मके
कृपां कुरुष्व विट्ठले स्वपादपद्मसेवके॥

नच एषातु किञ्चिद्दीर्घकालगेया उच्चारणीया हि स्तुतिः बालभावनया आराध्याय भगवत्स्वरूपाय प्रातराशं प्रतीक्षमाणाय न किं परिश्रमाय भवेद्! भगवत्सेवापरायणाय संस्कृतभाषोच्चरणाक्षमायापि न किं सेवायां व्यग्रतापादकं स्याद्! इति वाच्यं, सति सामर्थ्ये हि एवंकरणम् असति तु भाष्यरश्मिपरिशिष्टोद्धृतप्रभुचरणकृतसेवाविधिनिर्दिष्टेन **''उदेति सविता नाथ! प्रियया सह जागृहि अंगीकुरुष्व मत्सेवां स्वकीयत्वेन मां वृणु''** (सेवा. श्लो.८) इति पद्येन अथवा एतत्प्रबोधानुकल्परूपतया **''ललित लाल श्रीगोपाल सोइये न प्रातः काल जसोदा मैया लेत बलैया भोर भयो प्यारे. उठो देव करुं सेव दरस देहो वासुदेव, नन्दराय दुहत गाय पीजिये पय प्यारे''** इत्येवमादिभिः श्रीपरमानन्ददासादिकृतैरपि पद्यैः भगवत्प्रबोधनं सर्वाधिकारकमेव.

(मध्ये भगवत्प्रबोधपाठाधिकारमीमांसा)

प्राचीनास्तु :

''यातें व्रजभक्तन्को भाव तो पुरुषोत्तम विषे ही हे... जेसे आत्मा निर्विकार है व्यापक हे तेंसे इनकी देह हु निर्विकार व्यापक हे. देह नित्य न होय तो जा देहसों ब्रह्मानन्दानुभव ताही देहसों भजनानन्दानुभव न होय. अनित्य देह होय तो ब्रह्मानन्दमें लय होय... ऐसे इनको भाव

हु निर्विकार हे... सो नन्दालयमें प्रातः भगवद्दर्शनार्थ पधारत हें. तब मातृचरण प्रभुकों जगावत हें. जो यहां प्रभु जगाये नहीं जागत तब सब व्रजभक्त... भावपूर्वक प्रबोध पढ़िके जगावत हें. याते... औरनको प्रबोधको अधिकार नहीं हे... जेसे ग्रन्थपाठ करत हें तेंसे प्रबोधपाठ न करे... कृति नन्दालयकी करनी 'सदा सर्वात्मना सेव्यो भगवान् गोकुलेश्वरः'... भावना व्रजभक्तन्की करे 'स्मर्तव्यो गोपिकावृन्दे क्रीडन् वृन्दावने स्थितः'. जितनी कृतिको अधिकार दिये हें तितनी करे.''

(भावभाव.नि.से.भा.)

इति प्रबोधपाठे सम्प्रदायानुगामिनाम् अनधिकारः श्रीमदाचार्यकुलोत्पन्नानमेव इह पाठाधिकाराद् इति वदन्ति. सोऽधिकारविशेषस्तु श्रीमदाचार्यचरणोक्त-सेवाविधिम् अनुसृत्य सेवापराणामेव तद्वंशजानां न जातु आचार्याज्ञोल्लंघनेन आजीविकार्थं भगवत्सेवाप्रदर्शकानाम् अस्मादृशाम् आधुनिकानाम् महत्कुलोत्पन्नानामपि. यतश्च बहवो हि पुष्टिसम्प्रदायानुयायिनो वैष्णवाः द्रव्योपार्जन-स्वपूजाभिवृद्धि-लोभकामैः शून्याः आचार्योपदिष्टां भगवत्सेवां निरुपधिभक्तिभावेन निर्वहन्ति. हन्त! तेहि यदि सविकाराः अथ आचार्यकुलोत्पन्नाश्च भगवत्स्वरूप-भक्ति-मनोरथ-तत्कथारूप-भागवत-विक्रेतुंकामाअपि कुलमात्र-जाततया निर्विकाराः तदा—

''न ते पाषण्डतां यान्ति... सोऽपि तैः तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः''.

''यदा बहिर्मुखाः यूयं भविष्यथ कथञ्चन तदा कालप्रवाहस्थाः देहचित्तादयोऽपि उत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान्''.

''यो वदति अन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाद् जनः संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमः, यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयति अप्रयोजनां निरपेक्षः सात्त्विकः च तत्संगः साधुसंगमः, एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः.''

''कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वतस्मन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः...''

(पु.प्र.म.१९-२६, शिक्षाश्लो.१, शिक्षाप.३।८-१०, त.दी.नि.आ.२।२२८)

इत्येतादृशानि वचनानि निर्विषयाण्येव भवेयुः. तदुक्तं ''**विप्राद् द्विषड्गुणयुताद् अरविन्दनाभपदारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठं मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं नतु भूरिमानः**'' (भाग.पुरा.७।९।-१०). तदलं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तनेन! प्रकृतम् अनुसरामः.

(मंगलारार्तिकपद्यवर्तिकादीप्त्युपक्रमः)

अथ एकदा व्रजवृन्दावने गोवर्धनपर्वतोपत्यकायां गोपालपुरवासिनः श्रीमदाचार्यरणसेवकाः श्रीमद्गोवर्धनोद्धरणकीर्तनसेवापराः पदकृच्छ्रीपरमानन्ददा-समहाभागाः श्रीनवनीतप्रिय-श्रीप्रभुचरणयोः उद्बुद्धदर्शनाभिलाषाः महावनीयं गोकुलं प्रति सायंकाले आजग्मुः. तत्र प्रभाते श्रीमत्प्रभुचरणैः स्वगृहनिधिश्रीनवनीतप्रभुं प्रबुबोधिषकैः श्रीपरमानन्ददासमहाभागाः समाहूय समादिष्टाः यद् अपरिगणिततया अशक्यगेया हि भगवतो व्रजप्रियस्य विविधाः व्रजलीलाः. ताः सर्वाः संकलीकृत्य भगवत्प्रबोधनार्थं पद्यं चैकं विनिर्माय भवद्भ्यः सम्प्रददे यस्य प्रत्यहं भवद्भिरपि प्रातःकाले श्रीमद्गोवर्धनधरप्रबोधनाय गानं कर्तव्यम्. तदिदं पद्यं 'मंगलारार्तिकार्या'नाम्ना प्रसिद्धिम् अवाप... पश्चात् श्रीपरमानन्ददासमहाभागाः श्रीगोवर्धनोद्धरणसान्निध्ये प्रातःकालीनमंग-लदर्शने नियमेन एनं पद्यं गायन्ति स्मेति तत्रापि कीर्तनप्रणालिकानुरोधेन पद्यम् इदं सर्वदा संगीयते (द्रष्ट.८४ वैष्ण.वा.८२।प्रसं.६).

इह काचन कौटिल्यवात्स्यगोत्रजा श्रुतहान्यै अश्रुतकल्पनायां रममाणा इमां वार्तां स्वतःसिद्धमाहात्म्यवतां भक्तिपदकृच्छ्रीपरमानन्ददासानां श्रीमन्महा-

प्रभोः अनुयायित्वस्य मिथ्याप्रख्यापनेन निजाचार्यमाहात्म्यवर्धनायैव मनःकल्पितां कल्पयति (द्रष्ट.'SINGING KRISHNA::Sound Becomes Sight In Paramanand's Poetry' pp.39-41).

हन्त! किमत्र प्रतिकल्पनीयं! नैव किमपि तथापि अविचारिताक्षेपलीलायां प्रच्छनीयप्रस्तुतिरेव लीलासाहचर्यमिति पर्यनुयोगं साधयामः.

तदेतादृङ्माहात्म्यवर्धनाय मिथ्याडम्बरविडम्बनरूपा मनोवृत्तिः वाल्लभ-सम्प्रदायानुगामिनामेव भक्तिपद्यगायकानां भगवदीयवार्तालेखकानां च? उत सर्वेषामपि धर्मसम्प्रदायानुगामिनां सामान्या अप्रामाणिकी वृत्तिः?

तत्र यदि आद्या तदा एवमाक्षेपकारिण्याः कृष्णभक्तेः सम्प्रदायविशेषे निजैकाधिकारितामौढ्यप्रयुक्तेन दौर्मनस्येन सञ्जातासूयातिरेकप्रयुक्ता इयम् ईदृशी गवेषणा? उत निखिलधर्मसम्प्रदायविद्वेषप्रयुक्ता? तत्र न अन्त्या बहुचिन्त्या, निखिलधर्मसम्प्रदायविद्वेषप्रयुक्तायाः धर्मसम्प्रदायेतिवृत्तगवेषणायाः उपेक्षणीय-त्वादेवेति उपरमामः.

अथ आद्या चेद् आवेदनीयं यत् कृष्णलीलायां सर्वाअपि गोप्यः भगवत्स्वरूपानन्दरसं स्वैकभोग्यं मन्यमानाः परस्परं निन्दति शपन्ति भगवन्तमपि प्रतिषेधन्ति च **''एक बोल बोलो नन्दन्दन तो खेलो तुम संग... मेरे खेल बीच कोउ भामिनी आइ लालकों भरि हे. प्राननाथ हौं कहे देत हों मोपे सही न परि हे''** (अग्रस्वामिकृत वसन्तके पद) इति रागानुगभक्तिमार्गानुगामिभिरपि षोडशसहस्र-व्रजांगनालिंगनरसिको व्रजपति-रेव प्रेमभक्त्या वर्जनीयो *अन्यभक्तिसम्प्रदायेषु भजनीयो मा भूद् भवान्!* इति. नहि मिथ्यागवेषणाडम्बरविडम्बनेन श्रीकृष्णभक्तिभावे विशेषः प्रकर्षः एतादृशेन दौर्मनस्येन कश्चन! यस्मात् पद्यकृच्छ्रीपरमानन्ददासमहाभागाः पुष्टिमार्गीयाः न आसन् इति दिवास्वप्ने तावद् अनेके 'परमानन्ददास'नामवन्तः कवयः कल्पिताः, यतोहि एतन्नाम्ना उपलब्धपद्यसाहित्ये वाल्लभीया

भगवत्सेवाप्रणाली प्रकटैव उपलभ्यते, महाप्रभुश्रीवल्लभविठ्ठलाद्याचार्याणामपि स्तुतयः च उपलभ्यन्ते. नहि चैतन्यसम्प्रदायानुगामि'सूरदासमदनमोहनो'पनाम्ना यानि पद्यानि उपलभ्यन्ते तानि वाल्लभसम्प्रदाये भगवत्सेवाप्रणाल्यां भगवतः संनिधौ न गीयन्ते चेति कृत्वा वाल्लभाः तं महाभागमपि वाल्लभमेव मन्वते. नच श्रीजयदेव-श्रीहरिदास्वामिनां पदगानेऽपि तौ वाल्लभौ इति अस्माकं दुर्मतिः! नापिच पुष्टिमार्गे असंगृहीतपद्या श्रीकृष्णपदगाने हि सर्वतोऽधिकविख्याता मीरा वल्लभसम्प्रदायानुगामिनी आसीदिति क्वचिद् उल्लिखितं मिलति. नूनं यस्याःहि पद्यसाहित्ये पुष्टिमार्गीयदीक्षोपदेश्यः श्रीकृष्णविप्रयोगः न केवलं शब्दाकारायितः किमुत श्रवणकीर्तनाभ्यां कस्य हृदयं भृशं विरहार्द्रं न करोति! ततोहि कावा आवश्यकता एकस्य स्वतःप्रसिद्धस्य कस्यचन परमानन्ददासस्यैव वल्लभानुयायित्वकल्पनामोहप्रवर्तनेन! सन्ति च यदा अनेके हि एतन्नाम्ना कीर्तननिर्मातारो तत्समाः वल्लभसम्प्रदाये!

वस्तुतस्तु सर्वेष्वपि पुराणेषु तत्तद्देवतायाः माहात्म्यं इतरसकलदेवतातो अतिशायितया निरूप्यते. तत्र परस्परविरोधाभासप्रयुक्तं सर्वेषामपि मिथ्यात्वम् इति वेदसंहितैकप्रामाण्ये श्रद्धाजाड्यं वहताम् आधुनिकानाम् अभिप्रायः. प्राचान्तु प्राचार्याणां समेषां **''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेद् बिभेति अल्पश्रुताद् वेदो माम् अयं प्रहरिष्यति''** (महा.भार.१।१।२६७), **''पुराणेषु अर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः तैः अर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि''** (बृह.नार.पुरा.) इत्येवमादिवचनैः अधिकारिभेद-मार्गभेद- देशकालभेद-फलभेद-कल्पभेदादिभिः विरोधपरिहारेण प्रामाण्यनिर्वाहिका श्रद्धैव राजते स्म. ननु तथा सति मिथः सम्प्रदायविद्वेषो कुतो जातः? हन्त! मिथोहि द्वेषो भवतु नाम किन्तु ''नहि निन्दा निन्द्यं निन्दति किन्तु स्तुत्यं स्तौति'' इतीदृशी समाहतिरपि तैः सर्वैरेव न उपदिष्टा किमु! तस्मात् स्वसम्प्रदायगौरवानुभावकतया कृता अन्यसम्प्रदायनिन्दापि वयन्तु स्वसम्प्रदायरा-गानुभाविकैव इति मन्यामहे. भवतु नाम परसम्प्रदायविद्वेषभावनया कृतं स्वसम्प्रदायगुणगानं जघन्यं विद्वेषाविर्भावविडम्बनमेव इति अलम्!

ततएव श्रीकृष्णदासकविराजकृते चैतन्यचरितामृते महाप्रभुश्रीवल्लभाः चैतन्यपादपातिनः तदनुगामिनः चापि आसन् इति महाप्रभोः श्रीवल्लभस्य प्रसिद्ध्यसहिष्णुभिः चैतन्यानुगामिभिः स्वसम्प्रदायमाहात्म्यवर्धनाय परिकल्पितम् अथवा स्वनेत्रपीतिम्ना सर्वं शुभ्रमपि पीतमेव आभाति इति द्वेषोद्गारिणा विधानेन को लाभः! इति विचिकित्सायामपि ''नहि निन्दा निन्द्यं निन्दति किन्तु स्तुत्यं स्तौति'' इति न्यायमेव वरं मन्यामहे. श्रीकृष्णदासकविराजस्य श्रीगौरचन्द्रे श्रद्धाभावानुभावकमेव इति अस्माकं मनःप्रत्ययः.

''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति सर्वेष्वपि नामरूपकर्मसु ब्रह्मतादात्म्यप्रयुक्तां भगवल्लीलादिदृक्षुणां पुष्टिमार्गानुगामिनां निरन्तरानुसन्धेयम् इदमेव यत् प्रमाणराजश्रीभागवतपुराणे हि समुदितम् :

> **''नहि विरोध उभयं भगवति अपरिगणितगुणगणे अनवगाह्यमाहात्म्ये अर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभा-सकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुर- वग्रहवादिनां विवादन-वसरे उपरतसमस्तमायामये केवलएव आत्ममायाम् अन्तर्धाय कोनु अर्थो दुर्घटइव भवति स्वरूपद्वयाभावात्. समविषममतीनां मतम् अनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्. सएव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारण-भूतः सर्वभूतप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षितः एकएव पर्यवशेषितः''.**
>
> (भाग.पुरा.६।९।३६-३८)

ततश्च सर्वत्र ब्रह्मतादात्म्ये श्रद्धावतां पुष्टिमार्गीयाणां सर्वत्र भगवल्लीलानुसन्धानेन पुष्टिभक्तिप्रकर्षः आहोस्वित् पुष्टिभक्तिप्रकर्षवशात् सर्वत्र भगवल्लीलानुसन्धानसामर्थ्यं प्रादुर्भवति इति विचिकित्सायां कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुसमर्थस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य इच्छा वा कृपा वा एव नियामिका!

प्रकृतम् अनुसरामः. तदेतदाख्यानमीमांसायाम् अनुष्ठितायां एतत्पद्यप्राक-

ट्येतिवृत्तं तत्प्रयोजनं तदितिकर्तव्यता तद्गाननियोगाधिकारी तत्फलं च इति किं-किं न द्योत्यते! तनैतेन वार्ताद्योतितपथा मंगलारार्तिकार्याव्याख्यानेन सह श्रीगोकुलनाथनाम्ना यस्याः महानुभावश्रीहरिरायकृता व्रजभाषाटीकापि उपलभ्यमाना इह प्रस्तूयते.

(श्रीमद्गोकुलनाथानां श्रीहरिरायैरनुदिता व्रजभाषाटीका)

अब श्रीगुसांइजी 'मंगलं-मंगलं' किये सो तामें जन्मप्रकरनकी लीलातें फलप्रकरनकी रासपंचाध्यायी तांई सर्व लीलान्कौ भाव कहे हें. सो 'मंगलं-मंगलं'में ब्रज लीलाकौ बरनन हे. सो ताकी टीका श्रीहरिरायजी कहत हें जो मैं श्रीगुसांइजी-श्रीगोकुलनाथजीकी कृपातें 'मंगलं-मंगलं'की भाषाटीका करत हों. सो ताको अभिप्राय यह हे. जो ब्रजलीलासंबन्धी महामंगलरूप सो मेरे हृदयमें नित्य अहरनिस विहार करैं सो ता अर्थ यह टीका करत हों. अब प्रथम श्लोक कहत हें :

(प्रमाणलीलाप्रतिष्ठापनम्)

[१]मंगलं-मंगलं व्रजभुवि मंगलम्।।
मंगलम् इह श्रीनन्द-यशोदा-नाम सुकीर्तनम्
[३]एतद्-रुचिरोत्संग-सुलालित-पालित-रूपम्।।१।।

(व्रजभाषाटीका)

याकौ अर्थः मंगलं मंगलं दोय बार कहे सो यामें यह भाव हे जो मंगलरूप भगवान् सो मंगलरूप व्रजभूमि विषें प्रगट भये सो तासों सगरी व्रजसंबन्धी वस्तु सर्वविषें मंगलरूप भई. सो तामें तौ जन्मप्रकरनके चार अध्यायकी लीला जाननी. सो ऐसी भूमि विषें पूर्णपुरुषोत्तमकौ प्रागट्य भयौ तासों व्रजभूमि महामंगलरूप हे.

और सात अध्यायमें प्रमाणप्रकरणलीला हे सो श्रीयशोदाजीके

भावकी लीला हे. सो कहत हें जो व्रजसम्बन्धीपदारथ हें सोउ महामंगलरूप हें और श्रीनंद-यशोदाजी मंगलं-मंगलंरूप काहेते हें जो श्रीनंदयशोदाजीके उत्संगमें परम सुंदर बालक बिराजमान हें. सो तिनकौ लालन-पालन श्रीनंद-यशोदाजी करे हें सो तासों नंद-यशोदाजीकौ नाम मंगलरूप हे. जैसें श्रीठाकुरजीको नाम लियेतें महामंगल कल्यानकी प्राप्ति होत हे, तैसें ही व्रजभूमि श्रीयमुनाजी, श्रीगिरिराज इनके नाम लियेतें कल्यान होत हे. सो ताही प्रकार श्रीनंद-यशोदाजीके नाम लेत ही मंगल कल्यान होत हे. सो ताहीसों श्लोकमें मंगलमय श्रीनंदयशोदाजी कहे हें. सो यहां 'श्री'में नंदयशोदाजीकी शोभामें नंदरायजीकौ सगरौ परिकर नवनंद आदि, नंदरायजीके संबन्धी वृद्धगोप सब आये. और यशोदाजीके संबन्धमें वृद्धगोपी जिनकौ यशोदाजीसों संबन्ध हे तिनकौ नाम हू कल्यान करत हे. और लालित-पालितरूप यामें कहे सो जितने नंद-यशोदाजीके घरमें पदारथ हें: दही, दूध, माखन, छाछ और सामग्री तथा सामग्रीके पात्र तासों श्रीठाकुरजीकी सेवा सिद्धि होत हे. सो श्रीयशोदाजीके घर विना श्रीठाकुरजीकी सेवा योग्य कछू भी वस्तु सिद्धि नाहीं हे. तासूं सगरौ घर, सगरी वस्तु, श्रीयशोदाजीके देहसंबन्धी पदारथ सगरे श्रीठाकुरजीके सेवासंबन्धी हें सो तासों महामंगलरूप हें. सो काहेतें जो सगरी वस्तु स्वरूपात्मक हे, तासों श्रीठाकुरजी अंगीकार करत हें.

व्रजभूमि मंगल कहे सो तामें तौ व्रजभूमिके संबन्धी पदारथ स्वरूपात्मक हें जो जहां श्रीठाकुरजी पधारके लीला किये सो व्रजभूमि कैसी हे भगवद्रूप सी हे. और श्रीयमुनाजी श्रीकृष्णके समान हें और श्रीगिरिराज भगवान् समान हें तथा व्रजके वृक्षादिक सगरे भगवद्रूप हें और सगरे व्रजमें लक्ष्मी आयकें निवास करत हे सो ऐसी व्रजभूमि हे. जो ताकौ आश्रय लक्ष्मीजी कियो सो तैसौ आनंदमंगल श्रीकृष्णनामते होत हे तैसौ ही आनंदमंगल व्रजभूमिके स्मरणते होत हे. सो काहेतें जो सगरौ व्रजलीलासंबन्धी हे तासों लीलासंबन्धी नाम श्रीठाकुरजीकों बोहत प्यारो हे. सो लीलासंबन्धीकौ श्रीठाकौरजीकौ नाम लियेतें भगवान्की

लीलाकौ स्मरण होत हे. तासों व्रजभूमि तथा व्रजसंबन्धी वस्तु मंगलकारी हे. सो तैसे ही नंदयशोदाजीकौ नाम भगवान्के लीलासंबन्धी हे तासों कल्याणको कर्ता हे. और श्रीयशोदोत्संगलालित सो ऐसे भगवान् तिनकौ स्वरूप कल्याणकर्ता हे. सो नित्यप्रति क्षण-क्षणमें स्मरण करिवे योग्य हे. सो या प्रकार प्रथमश्लोकमें जन्मप्रकरणते लेकें प्रमाणप्रकरणकी लीला सगरी वर्णन हे. सो तासों इतनों गान करत ग्यारह अध्यायकी लीलाकौ स्मरण करनों॥१॥

(वर्तिकाद्युतिटिप्पणी)

१.''**ततो जगन्मंगलम् अच्युतांशं... दधार सर्वात्मकम् आत्मभूतं... महीमंगलभूयिष्ठा... नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो... गोप्यश्चाकर्ण्यमुदिता यशोदायाः सुतोद्भवं.. कृष्णे विश्वेश्वरे अनन्ते नन्दस्य व्रजम् आगते**'' (भाग.पुरा.१०।२।१८—१०।५।१-१३) इत्यत्रोदितं '**मंगलं-मंगलम्**' इति आम्रेडनं हर्षप्रकर्षख्यापकम् अथवा ''**चक्षुषः चक्षुः**'' इतिवद् मंगलस्यापि मंगलम् अग्रे गीयमानम् इति सर्वोत्कृष्टमांगल्यबोधकम्. तज्जनकनामनीअपि मंगलरूपे. २. ''**एकदा अर्भकम् आदाय स्वांकम् आरोप्य भामिनी प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितं मुखं लालयति...**'' (भाग.पुरा.१०।७।३४-३५) इत्येवंरूपै पद्यैः तयोः उत्संगयोः लालित-पालितरूपमपि आत्यन्तिकं मंगलम्.

(व्रजभाषाटीका)

अब प्रमेय प्रकरणकी लीला दूसरे श्लोकमें कहत हें :

(प्रमेयप्रकरणीयलीलाप्रतिष्ठापनम्)

[१]''श्रीश्रीकृष्ण' इति श्रुतिसारं [२]नाम
स्वार्त-जनाशय-तापापहम् इति मंगल-रावम्॥
[३]व्रजसुन्दरी-वयस्य-सुरभीवृन्द-मृगीगण-

निरुपम-भावं [४]मंगल-सिन्धु-चयम्॥२॥

(व्रजभाषाटीका)

याकौ अर्थ अब कहत हें जो 'श्रीकृष्ण' नाम कैसो हे? महामंगलकारी हे! और वेद-शास्त्र-पुरान सर्वकौ सारभूत हे. सो काहेतें जो वेदमें जितने लौकिक-वैदिक धर्म कहे हें सो करै तौहू 'श्रीकृष्ण' नामके समान नाहीं हे. सो कहत हें जो वेदव्यासजीनें सत्रहपुरान प्रगट किये तामें नाना प्रकारके कर्म-धर्मकौ निरूपण किये. सो ता करिकें व्यासजीकौ हृदय शीतल न भयौ. पाछें जब श्रीभागवत न्यारो करिकें भगवत्स्वरूप नामात्मक ताकौ वर्णन किये, तब हृदय शीतल भयौ. तासों 'श्रीकृष्ण'नामके समान कछू पदारथ नाहीं हे. श्री विना केवल कृष्ण हें तामें दोय प्रकारके भाव हें : जा जीवकौ पुष्टिमार्गमें समर्पण अंगीकार नहीं भयो हे सो विना 'श्री' के 'कृष्ण' नाम लेत हें. कल्पान्तरमें जो द्वापरमें कृष्ण प्रगट भये हें सो पूर्ण अवतार नाहीं हें तिनकौ स्मरण प्रवाही-मर्यादामार्गमें हे और पुष्टिमार्गमें तो सारस्वतकल्पके श्रीकृष्ण रसात्मक सेव्य हें ताहीसूं अष्टाक्षरमें श्रीकृष्णके समस्त भक्तनूके सहित श्रीकृष्णकौ नाम हे. और पंचाक्षरमें मुख्य श्रीस्वामिनीजीके भावसों विप्रयोगात्मक नाम हे तासों पंचाक्षरमें 'श्री' नाहीं हे. तासों अष्टाक्षर संयोगात्मक स्वरूप हे और पंचाक्षर विप्रयोगात्मक स्वरूप हे. सो दोउ पुष्टिमार्गमें पूर्णावतार श्रीकृष्ण, तिनकौ नाम रसात्मक सेव्य हे सो सर्व वेद-शास्त्रनूकौ सार हे. ऐसौ 'श्रीकृष्ण' नाम महामंगल कल्यानकर्ता हे.

यहां 'श्रीकृष्ण' दोय बार कहे ताकौ अभिप्राय यह हे जो कृष्णमें तौ एक श्रीठाकोरजी भये और श्रीकृष्ण कहे तामें श्रीस्वामिनीजी और श्रीठाकुरजी भये और श्रीश्रीकृष्णमें एक मुख्य श्रीस्वामिनीजी और दूसरे श्रीमें दक्षिणाभाग जो स्वामिनीजी श्रीचंद्रावलीजी आदि सगरे व्रजभक्त संबन्धी पदारथ लीलास्थल श्रीयमुनाजी श्रीगिरिराज गायलीला सामग्री सर्वकौ नाम हे सो काहेतें जो श्रीकृष्णकी शोभारूप श्रीस्वामिनीजी हू हें. और लीलासामग्री सगरे व्रजभक्त सोउ श्रीठाकुरजीकी शोभा

हें. तासों दोयबार श्रीकृष्ण कहिकें सगरी लीलासामग्री सहित श्रीस्वामिनीजी श्रीकृष्ण महामंगलरूप हें. तासों श्रीकृष्णकौ नाम लियेते सगरे भक्तनूकों आनंद होत हे. ताहीतें पुष्टिमार्गमें ''जय श्रीकृष्ण!'' वैष्णवप्रति कहनों आवश्यक हे काहेतें जो श्रीकृष्णकी जै कहेतें श्रीयशोदाजीकों परम आनंद होत हे जो मेरे पुत्रकी जै कहत हें. या प्रकार पुत्रके स्नेहतें श्रीनंदरायजी-यशोदाजी प्रसन्न होत हें जो मेरे पुत्रकौ कल्यान वांछित हें. तासूं तिनहूकौ कल्यान होउ और श्रीकृष्णकी जै कहेतें सखा जो श्रीकृष्णके हें सो परम प्रसन्न होत हें जो हमारे प्राणप्रिय जो मित्र कृष्ण हें तिनकी जै कहत हें. और व्रजभक्त श्रीस्वामिनीजी आदि तौ परम प्रसन्न होत हें जो हमारे सर्वस्व प्राणप्रिय तिनकी जय कहत हें. तासूं या प्रकार ''श्रीकृष्णकी जय'' कहेतें समस्त पुष्टिमार्गीय भक्त प्रसन्न होत हें. तासों पुष्टिमार्गीय वैष्णवसों ''जय श्रीकृष्ण!'' कहिये और भगवन्नाम अनेक हें तिनकौ उच्चारण करिये. तहां यह द्विदलात्मक संयोग-विप्रयोगरूप रसकी मोक्षता नाहीं हें. यह दान तौ श्रीआचार्यजी महाप्रभूजीद्वारा सिद्धि होत हे और जयश्रीकृष्णकौ यह कारण हे जो पुष्टिमार्गीयकों एक क्षण भगवद्नाम भूलनो नाहीं चहियें और जीवभावतें भूल जात हें सो वैष्णवसंग भयेतें श्रीकृष्णकौ स्मरण होत हे. ताहीतें वैष्णवकौ संग मुख्य हे और नामकी प्राप्ति तौ श्रीआचार्यजीद्वारा हू भई. और वैष्णवसंग भयेतें 'श्रीकृष्ण'नामकौ स्मरण होय. वृक्षमें फल-फूल होय तासों वैष्णवकौ संग कब जानिये भयौ जब श्रीकृष्ण स्मरणभक्ति सिद्धि होय. या प्रकार 'श्रीकृष्ण' नाम सर्वोपरि महामंगलरूप हे सो वर्णन करिवेकी काहूकी सामर्थ नाहीं हे. और 'श्रीकृष्ण' नाम कैसौ हे स्वकीयजन जो व्रजभक्त हें सो विप्रयोगदशामें नामके आधार करिकें जीवत हें. और सर्व अनुभूत होत हे, विरहताप हृदयकौ दूर होत हे. तासों श्रीकृष्णनामकौ कीर्तन महामंगल कल्याणकौ कर्ता हे.

सो या श्लोकमें प्रमेयप्रकरणकी लीला वेणुगीत ताईं सब विवरण

हे. सो कहत हें जो श्रीठाकुरजी आप गौचारणकौ पधारत हें तब व्रजभक्त श्रीकृष्णकी लीलाकौ वर्णन करि गान करत हें. सो गान कैसो हे महामंगलरूप हे और व्रजभक्त मंगलरूप हे. सो नामकौ कीर्तन करत हें. कीर्तन कैसो हे जैसें श्रीभगवान् षट्गुणपूरण धर्मीस्वरूप हे तैसें ही श्रीभगवान्कौ कीर्तन षट्गुणपूरण हे सो कहत हें. बनकी लीलान्कौ व्रजभक्त गान करत हें तहां सखा, गाय, हिरनी इत्यादिक श्रीवृंदावनके पशु-पक्षी सर्व महामंगलरप हें. काहेतें जो श्रीठाकुरजी गाय-बछरा लैकें सखान् सहित श्रीवृंदावनमें पधारत हें सो तहां श्रीठाकुरजी वेणुकौ शृंगार धरत हें और वेणुनाद करत हें. सो ताकरिकें पूरणरस अभोगित व्रजभक्तन्कों सुधाप्राप्ति भई. और श्रीवृन्दावनमें वेणुकौ भोगित सृष्टि हिरनी-गायन्कों अमिप्राप्ति भई सो षट्गुणसहित लीलावरणन व्रजभक्त करत हें. सो तहां भगवान्कौ प्रथम ऐश्वर्य कहत हें जो अत्यंत चंचल मृगी सो सर्व मोहित भईं. पाछें वीर्यकौ वर्णन जो देवांगना वेणुनाद सुनिके थकित होय रहीं सो अपने पतिके आगें विह्वल भई, केस और नीवी की ग्रंथि छूटि गई. सो ऐसी उत्तम देवांगनाकी ऐसी दिशा भई सो ऐसौ भगवान्कौ वीर्य हे. और भगवान्कौ यश यह हे जो गाय चरती हतीं सो पशून्की आसक्ति जिन विषें अत्यंत हे वेणुनाद सुनिकें भूल गईं, बछरा क्षीर पीवततें रहि गये, जितने पशु हें सो वेणुनाद रसमें मग्न भये, यह यश श्रीभगवान्कौ वर्णन हे. अब श्री(शोभा)कौ वर्णन करत हें जो वृन्दावनके शुकादिक पक्षी हें सो वेणुनाद सुनिकें द्रुमपर पंक्तिकी पंक्ति परम शोभा देत हें, सो यह श्री. अब ज्ञानमें श्रीयमुनाजी वेणुनाद सुनिकें श्रीवृन्दावन तथा व्रजसंबन्धी नदीन्कौ प्रवाह बहत नाहीं. जैसे ज्ञान होय तौ श्रीठाकुरजीके चरणकमलमें मन रंचक हूं न चलै सौ या प्रकार नदीन्कौं ज्ञान भयौ जो प्रवाह स्थिर होयकें श्रीठाकुरजीके चरणकमलको तरंगरूप भुजासों स्पर्श करत हें यह ज्ञान हे. और वैराग्य मेघ भगवान्के उपर छाया करत हें सो बादर आप धूप सहत हें और अपनों सर्वस्व जो जल ताकी फुहीं-फुहीं वरषावत हें यह वैराग्य हे. और गिरराज पुलिंदजी

इनके चरणारविन्दके संबन्धतें भक्ति हे. सो प्रकार सगरे वृन्दावन संबन्धीकौ भाव मंगलरूप हे. यामें प्रमेयकौ प्रकार हे.

(वर्तिकाद्युतिटिप्पणी)

१.द्वादशाध्याये **"अहो अमी देववरा... कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः स्तूयमानोनुगैः गोपैः..."** (भाग.पुरा.१०।१२।५-४१) इत्यत्र वर्णितनाम्नः श्रुतिसारतया सर्वोत्कृष्टप्रमेयवाचकत्वम् २.एतेन मध्ये व्युत्क्रमेण वेणुगीतद्योतित निजवेणुवादने प्रकटितपञ्चपर्वात्मिकया विद्यया अविद्यापर्वैः जनितार्तितापापहारकत्वेन मंगलरावत्वम्. ३.श्रुतिरूपाणां **"गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने क्षणं युगशतमिव यासां येन विना अभवद्"** (भाग.पुरा.१०।१६।१६) इत्यत्रोदितं गोपिकानां चिरोत्कण्ठोपशामकत्वेन निरुपमभावरूपत्वम्. ४.तेन मंगलसिन्धुचयत्वम्.

(साधनप्रकरणीयलीलाप्रतिष्ठापनम्)

[१]मंगलम् ईषत्-स्मितयुत-वीक्षण-भाषणम्
उन्नत-नासा-पुट-गत-मुक्ता-फल-चलनम्।।
[२]कोमल-चलद्-अंगुलि-दल-संगत-वेणु-निनाद-
विमोहित-वृन्दावन-भुवि जातम् ।।३।।

(व्रजभाषाटीका)

और अब तीसरे प्रकरणमें फलप्रकरणकी लीला हे सो वरनन करत हें :

याकौ अर्थ अब कहत हें जो मंगलरूप भगवान्कौ थोड़ौसौ मन्दहास्य तथा अवलोकन तथा बोलिवो वचनामृत सो मंगलरूप हे. सो व्रतचर्याके प्रागट्यमें यह वर्णन हे. जब ऋषिरूपा व्रत किये तब श्रीठाकुरजी आप चीर लैकें कदंबपर बिराजे पाछें मंदहास बंक अवलोकनकी सींचनसों सर्वरसकौ अनुभव कुमारिकान्कों सिद्धि भयौ

तथा श्रीठाकुरजीके नासिकाकौ मोती हलिवो महामंगलरूप हे. तथा कोमल चंचल अंगुलीदल तिनसों मिल्यौ वेणुनाद तासों मोहित भये हें. ऐसे जो वृन्दावनके पशु-पक्षी वृक्षादिक सो मंगलरूप हें. तथा गोवरधनपूजाकी शिक्षा श्रीठाकुरजी श्रीनंदरायजीकों किये तब सगरे व्रजवासीसहित श्रीनंदरायजी श्रीगोवरधन पूजन कियें सो सुनिकें इन्द्रकोप भयौ तब प्रलयकालके मेघकी वृष्टि (वरषा) व्रजपर होंन लगी, तब श्रीठाकुरजीने गोवर्धनकों वामभुजाके ऊपर धरिकें सगरे व्रजवासी व्रजभक्तन्कों अपने निकट राखें. वेणुनाद करत जात हे ताकरिकें सर्व व्रजभक्तन्कों गाय-पशु-पक्षी-वृक्ष सबन्कों सुधा (अमृत) पूर्ण होत हे. सो सात दिन-रात जात काहूनें न जान्यों, वा प्रकार जब सर्वत्र भक्त इन्द्रके भयतें श्रीठाकुरजीकी शरणमें आये सो, स्वरूपानंदकौ अनुभव हू भयौ. फेरि इन्द्रके जलते रक्षा हू भई. सो इत्यादिक लीला या श्लोकमें फलप्रकरणकी हे.

(वर्तिकाद्युतिटिप्पणी)

१.''**भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्**'' (भाग.पुरा.१०।१९।१८) इत्यत्रोदितचीरहरणसामयिकसाधननिरोधकारकं मंगलम्. २.''**लोकाः परां निर्वृत्तिम् आप्नुवन् त्रयो गावः तदा गाम् अनयन् पयोद्रुतां नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः, अकृष्टपच्यौषधयो गिरयो अबिभ्रद् उन्मणीन्. कृष्णेऽभिषिक्ते एतानि सत्त्वानि कुरुनन्दन निर्वैराणि अभवन् तात क्रूराण्यपि निसर्गतः**'' (भाग.पुरा.१०।२४।२५-२७) इत्यत्र निरूपितसकलवृन्दावनभूमिजातविमोहकत्वरूपं पूर्वमांगल्योपादकं मंगलम्.

(फलप्रकरणीयलीलाप्रतिष्ठापनम्)

[१]मंगलम् अखिलम् इह गोपी-शत-रति-
मन्थर-गति-विभ्रम-मोहित-रासस्थित-गानं
[२]त्वं जय सततं गोवर्धनधर! [३]पालय निजदासान्॥४॥

(व्रजभाषाटीका)

याकौ भाव : श्रीठाकुरजीके संबन्धी जो पदारथ हें सो अखिल नाम सर्व मधुर ही हें तथा मंगलरूप हें. यामें यह जताये जो फलप्रकरनकी प्रथम अध्यायमें श्रीठाकुरजी बनमें पधारि शरदऋतुकी अर्धरात्रि समय वेणुनाद किये सो ता समय लीला सामग्री सब प्रफुल्लित-पुष्पित भई और चंद्रमा अलौकिक भयौ. सो श्रीशुकदेवजी वर्णन किये हें तासू लीला सामग्री सर्व मंगलरूप हे. ऐसी अलौकिक रात्रिमें व्रजभक्तन् सहित श्रीठाकुरजी रासलीला किये तहां मत्तगजकी चाल सों हस्तीकौ दृष्टान्त श्रीशुकदेवजी रासपंचाध्यायीमें दिये. ताते ये उन्मत्तता औरमें नाहीं हे और स्पर्शकौ सुख हस्ती ही जानत हे. तातें व्रजभक्तन्के संग श्रीठाकुरजी हू उन्मत्त रस होय भक्तन्कों स्वरूपानन्ददानकौ अनुभव करावत हें सो गजगतिचाल महामंगलरूप हे. और रासलीलास्थ मुख्य श्रीस्वामिनीजीकौ गान तथा तिनसों मिल्यौ समस्त व्रजभक्तन्कौ गान महामंगलरूप हे. और श्रीठाकुरजी श्रीस्वामिनीजी हू परस्पर गान मिलिकें करत हें. कबहू न्यारे फरकत हें. सो यह नित्यलीलाकौ रास हे सोउ गानादिक सर्वलीला मंगलरूप हे. यह कहिकें यामें सगरी रासपंचाध्यायीकी जल-स्थल-लीलाकौ भाव हे सो सर्व मंगलरूप हे.

तासों इन मंगल पदार्थन्कौ जन्मलीलाते जुगलगीत ताईं स्मरण करत हें सो महामंगलकौं प्राप्त होत हें. सो गानादिकमें जुगलगीतकौ भाव जाननों काहेते जो रासपंचाध्यायी पीछें जब बनमें श्रीठाकुरजी वेणुनाद करत हें तब व्रजस्थ भक्त अपने घरमें गान करिकें आगे जो स्वरूपात्मक अनुभव भयौ हे. ताही भावमें मग्न होय श्रीठाकुरजीके संग गान करत हें. सो या प्रकार वेणुगीतमें नाहीं. वेणुगीतमें तौ अपने घर होयवेके भावमें गान करत हें. सों साक्षात् सर्वेन्द्रियकौ अनुभव नाहीं हृदयकौ अनुभव हे और जुगलगीतमें सर्वेन्द्रियन्कौ साक्षात् हृदयकौ अनुभव हे. ताहीतें या अध्यायकौ नाम जुगलगीत श्रीठाकुरजी सहित व्रजभक्तकौ गान हे. जैसे पंचाध्यायीमें भयौ सो पंचाध्यायीमें

संयोग करिकें हे और जुगलगीतमें विप्रयोग प्रकारसों हे. या प्रकार जन्मप्रकरणकी लीलातें फलप्रकरण ताइं जो नित्यस्मरण करत हें तिनकौ पालन नाम रक्षा करौ तथा श्रीगोवर्धनधर आप सदा बिराजौ.

तहां श्रीगुसांईजी कहत हें जो ऐसे महामंगलरूप श्रीगोवर्धनधर तिनकी जै होई. या भांति सों हम निरंतर कहत हें. काहेते जो तिहारे निजदास अंतरंग लीलासंबन्धी हम सो तिनकी रक्षा करौ. अधरामृतसों सींचन करि विरह दूरि करौ. या प्रकार श्रीगुसाईंजी आप विज्ञप्ति करत हें. सो यह मंगल-मंगल गीत याके लिये प्रगट किये जो एतन्मार्गीय वैष्णवकूं सेवा आवश्यक हे और जन्मप्रकरणतें फलप्रकरणकौ पाठ आवश्यक हे. सेवामें सो कैसे करें तथा सेवासंबन्धी ग्रंथ तथा सेवा रहि जाय ताके लिये मंगला-आरती समय यह मंगल-मंगल गान करै. तामें फलप्रकरण ताईं श्रीभागवत्कौं पाठ सगरौ भयौ याके लियें श्रीगुसांईजी आप मंगलगीत प्रगट किये हें. सो या गीतकौ नित्य गान करें तौ महामंगलरूप भगवान् लीलासहित वाके हृदयमें आइके महामंगलको करैं. सो गीतके गानतें यह पुष्टिमार्गीय मंगलरूप होइ और अहर्निश आनंदकौ अनुभव होइ.

इति श्रीगोकुलनाथजी कृत मंगलं-मंगलंकी टीका सम्पूर्ण

(वर्तिकाद्युतिटिप्पणी)

१.**''उच्चैर्जगुः नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेन इदम् आवृतं, काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः उन्नीन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु-साधु! इति, तदेव ध्रुवम् उन्नीन्ये तस्यै मानं च बहु अदात्''** (भाग.पुरा.१०।३०।९-१०) इति फलनिरोधरूपरासस्थितगानरूपं मंगलम्. २.आशीः ३.प्रार्थना.

मंगलारार्तिकार्यायाः वर्तिकाद्युतिटिप्पणी।

सोपोद्धाता हि रचिता आत्ममांगल्यकारिणी॥
प्रमाणस्य प्रमेयस्य साधनस्य फलस्य च।
कृष्णलीलानुसन्धाने मांगल्यं कृतकर्मणि॥
लीलात्मकं हि भवति लब्ध्वोपोद्बलनात्मिकाम्।
व्याख्यां श्रीगोकुलेशानां विस्तारे न प्रयोजनम्॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण रचिता वर्तिकाद्युत्याख्या मंगलारातिकार्याव्याख्या सम्पूर्णा

॥ परिशिष्टम् ॥

कैश्चित्कृता व्रजभाषा टीका

(उपक्रम)

या चतुष्पदीमें भाव यह भासे हे : दिनभरकी सेवाको यह मंगलाचरण हे. जेसे ग्रंथकर्ता ग्रंथके आदिमें मंगलाचरणको श्लोक करके ग्रंथ आरंभ करे हें काहे केलिये जो ग्रंथ निर्विघ्न समाप्ति होय, तैसे ही श्रीगुसांईजीने निर्विघ्न सेवा मंगलाते शैनपर्यंत समाप्त होवे याकेलिये ये चतुष्पदी प्रगट करी हे. ताते मंगलभोग धरके अथवा मंगलारतीके समै याको स्मरण ओर कीर्तन अवश्य करनो ओर भाव हृदयमें धारण करनो.

या चतुष्पदीमें प्रथम दो बार 'मंगल' शब्द हे, बीचमें 'व्रजभूमि' पद हे, ताके पीछे फिर दो बार 'मंगल' शब्द हे. या प्रकार चार वेर मंगलकथन हे. ताते श्रीगुसांईजी सूचना करे हें के मंगल चार हें सो एक व्रजमें ही सदा रहे हे. यहां शंका होय के चार मंगल कोनसे हें? ताको समाधान : एक तो [१]शुभकार्यको 'मंगल' नाम हे. ओर [२]प्रातकालको नाम 'मंगल' हे. ओर [३]उत्सवको नाम 'मंगल' हे. ओर [४]सुंदर शकुनको नाम 'मंगल' हे. ताको प्रमाण विस्वकोसमें **''मंगलं च शुभे कल्पे शोभने शकुने महा''** इति सो यह चारों मंगल व्रजमें होय हें. अर्थात् मंगलरूप प्रभुमें विराजे हें ताते जहां धर्मी तहां धर्म यह नेम हे. ताते वे चारों मंगल व्रजमें हें. ओर अन्यत्र भी जहां व्रजकी भावनाते पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा होय तहां भी ये चारों मंगलरूपतें रहें हें. अन्यत्र लौकिक कार्यमें तो नाममात्र कथन व्यवहार हे. अब मंगलचारको दूसरो प्रकार : प्रभु घरते जब वनको पधारें तब मातृचरण मंगलगान करके पठावें फिर वनते जब सायंकाल व्रजमें आवें तब हु मंगलगान करके मातृचरण घरमें पधरावें हें. निकुंजादिमें भक्तजनके पास पधारें हें तब भक्तजन मंगलगान करें हें. अथवा

मंगलारतीतें शयनपर्यंत आरतीके समे मंगलगान भक्तजन करें हें. या प्रकार चार मंगलको भाव स्फूर्त भयो सो लिख्यो.

(प्रथमकारिकाव्याख्या)

अब श्रीनंदरायजी ओर श्रीयशोदाजी के नामको प्रात:काल कीर्तन हे सो मंगल हे. ओर इनकी गोदमें लालित - पालित जो मंगलरूप तिनके नामको कीर्तन हे सोहु मंगल हे. यामें भाव लौकिकमें लोग प्रात:काल सोवते - उठके बड़े प्रतापी भाग्यवान् ओर युद्धवीर को नाम लेत हें अपने अरिष्टनाश केलिये. तेसे इहां अलौकिकमें श्रीनंदरायजी ओर श्रीयशोदाजी बड़े भाग्यवान् हें. परब्रह्म श्रीकृष्णको गोदमें लेके लालन - पालन करें हें. इनके सदृश भाग्य दूसरेके नहि. इनके भाग्यकी प्रशंसा श्रीभागवतमें श्रीशुकदेवजी कहें हें **''अहो भाग्यम् अहो भाग्यं नन्दगोप-व्रजौकसाम्''** (भाग.पुरा.१०।१४।३२) इति. ओर युद्धवीर श्रीयशोदोत्संगलालित श्रीकृष्णके समान दूसरो नहि. प्रतिदिन रतिसंग्राम जीतके प्रात:काल मातृचरणकी गोदरूप विजयसिंहासनपर बिराजें हें. कीर्तनमें भी यह वर्णन अनेक जगे हे **''मानो आवत रतिरण जीते करणी संग गज गिरवरधारी''**. ताते प्रात:काल इनके नामको स्मरण ओर कीर्तन मंगल हे. अर्थात् दूसरे प्राकृतजननके नामको स्मरण - कीर्तन अमंगल हे सर्वथा नहि करनो इति भावार्थ.

(द्वितीयकारिकाव्याख्या)

अब ओर 'श्रीकृष्ण' यह नाम जो हे सो संपूर्ण वेदकी श्रुतिको सार हे. अर्थात् दूसरे 'नारायण' आदि भगवान्के नामनूते फलात्मक ये ही नाम हे. फिर या नामको कीर्तन जो हे सो आर्त जनन्के अंत:करणके तापको नाश करे हे. अर्थात् यह नामको जो कीर्तन करें हें तिनके विप्रयोग ताप दूर करके संयोगरसते अपने भक्तजनन्को प्रभु शीतल करें हें. ओर 'श्री'-'श्री' दो बार कथन हे तामें एक 'श्री' तो शोभासूचक हे, दूसरी 'श्री' स्वामिनीजीकी सूचक हे. स्वामिनीजीके

नामको भिन्न उच्चारण नहि, ताको हेतु अपने ग्रंथनूमें बहुधा श्रीस्वामिनीजीको नाम गुप्त रहे हे. काहेते जो **''गुप्तो हि रसः रसत्वम् आपद्यते प्रकटस्तु रसाभासः''** (सुबो.१०।१८।५).

(तृतीयकारिकाव्याख्या)

अब व्रजके विषे व्रजसुंदरी गोपिकानूको भाव प्रभुनूमें ओर गोपजननूके भाव ओर गायनूके भाव ओर हरणीनूके भाव जो सुबोधिनी आदि ग्रंथनूमें निरूपण किये हें सो सब मंगलरूप समुद्रनूके समूह हें. अर्थात् ये सबके भाव अगाध अपार समुद्रके सदृश हे. या प्रकार मंगलरूप समुद्रनूमें मंगलरूप रत्ननूको वर्णन श्रीगुसांईजी करे हें.

(चतुर्थकारिकाव्याख्या)

प्रभु मंद मुसकानूते भक्तनूके संग भाषण करें हें तब सुंदर उन्नत नासिकाके वेसरको मोती हिले हे, ताकी शोभा ओर अपने श्रीहस्तकी सुंदर कोमल अंगुलिन् करके जब वेणुनाद करें हें तब वृन्दावनूके जड़-जीव सब मोहित होवें हें.फिर सुंदर मंद गजगति चालते भक्तनूके पास पधारके नानाविधकी क्रीड़ा करके रासक्रीड़ामें सुंदरगान करके भक्तजननूको मोहित करें हें इत्यादि संपूर्णलीला गोपीपति श्रीकृष्णकी जो हे सो व्रजके विषे मंगलरूप हे. अर्थात् यह मंगल एक व्रजमें ही हे. या प्रकार मंगल निरूपण करिके श्रीगुसांईजी विज्ञप्ति करें हें :

हे गोवर्धनधर! तुम निरंतर सदा सर्वदा अपनी उत्कर्षतापूर्वक बिराजमान रहो ओर अपने निजदासनूको पालन करो. अर्थात् जेसे गिरिराज धारण करिके संपूर्णव्रजकी रक्षा करी तेसे ही सदा भक्तनूकी रक्षा कियो करो.

(उपसंहार)

अब या चतुष्पदीमें चार पद करके यह सूचन होय हे जो

यह चतुष्पदीको पाठ ओर गान करेंगे तिनको भक्तिमार्गकि चार पुरुषार्थ : धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों प्राप्त होंयगे. भक्तिमार्ग पुरुषार्थ कोन हे? यह बोध केलिये श्लोक **''भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मार्थो हरिरेव च कामो हरि दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्''** (वृत्रा.चतु.व्या.१) अर्थ : पुष्टिमार्गमें श्रीकृष्णको दास्यभाव धर्म हे ओर श्रीकृष्ण मिले यह अर्थ हे. श्रीकृष्णदरसकी इच्छा यह काम हे ओर श्रीकृष्णके समीप सेवामें रहेनो मोक्ष हे.

इति कैश्चित्कृता भाषाटीका समाप्तम्

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ मंगलारार्तिकार्याविवृतिः ॥
(केषाञ्चित्)

श्रीमन्मंगलभावुकानुकृतिभिः पूजोपहारादिभिर्।
नित्यं प्रेमकृपाकटाक्षफलितैः कंदादिभिर्भोजितः॥
तस्योद्धारणमात्रदक्षकरुणाकूतार्द्रदृग्वार्ययुक्प्रेम्णा।
त्वं विजयेति विठ्ठलवरैस् तेनैव संस्तूयते॥१॥
लीनानामभिवेशनं च फलनं रासैकलीलात्मकं।
तावन्निश्चितम् अस्मदीश्वरैस् तद्भक्तयुक्संस्थितैः॥
तस्माद् अष्टपदीनिबंधरचनां निर्माय तद्भावितं।
गीतं श्राव्यतदाश्रयं वितनुते तत्तन्मनोमंगलम्॥२॥

मंगलं-मंगलं व्रजभुवि मंगलम्॥
मंगलम् इह श्रीनन्द-यशोदा-नाम सुकीर्तनम्
एतद्-रुचिरोत्संग-सुलालित-पालित-रूपम्॥१॥

अथ एतल्लीलास्थितानां सर्वदा भगवत्स्वरूपनिरुद्धीभूतत्वेन तदतिरिक्त-वस्तुमात्राननुसंधानात् तत्र मंगलस्यैव स्फूर्तिः नतु अपरेति. तथा स्वस्यापि बोधयितुम् अस्मदीश्वराः सर्वत्र एतदष्टपद्यां भावोद्देश्यत्वेन मंगलत्वमेव निर्दिशन्ति. यथा ''**साक्षान्मन्मथमन्मथः**'' (भाग.पुरा.१०।२९।२) इत्याकारक-कथने तत्रैव आविर्भावत्वेन तथासत्त्वनिश्चयत्वात्. तथा अत्रापि एतत्प्रकारानुभूतिकरणत्वेन इदमपि रूपं **मंगलम्** इति अग्रिमवाक्ये योजनीयम्. तत्र प्रथमं सर्वलीलास्थानं व्रज तथा लीलास्थानत्वेन प्रकटीकृत्य पश्चात् स्वयं मंगलरूपत्वेन प्रकट इति तद्भुवि स्वाधिकरणकीभूतत्वं च आवश्यकमिति तथैव अनुद्यते **व्रजभुवि मंगलम्** इति. तद्भावानुकूलकृतिकरणत्वेन तत्र

तथारूपम् इत्यर्थः. एतदेव उक्तं ''**व्रजभुवः शमयन् खुरतोदम्**'' (भाग.पुरा.१०।३२।१६) इत्यादिकथनेन. अतएव ''**जयति ते अधिकं जन्मना व्रजः**'' (भाग.पुरा.१०।२८।१) ''**ततो जगन्मंगलम् अच्युतांशम्**'' (भाग.पुरा.१-०।२।१८) इत्यादि अनुशासनादपि तत्र तथा निश्चीयते. यत्र तथात्वेन स्वयं प्रकटः तत्र तथात्वं वर्ततएव इति परामर्षणीयम्. यतो ''**मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः मंगलं पुण्डरिकाक्षं मंगलायतनो हरिः**'' (   ) इत्यादिवाक्यचतुष्टये स्थितौ स्थानस्यापि तथात्वं तस्मात् **व्रजभुवि मंगलम्** इति सुष्ठूक्तम्. अतः परं यत एतत्प्रार्थनाकरणत्वेन एतद्गृहहावतथानुभवसत्यात् (?) तथा स्वरूपप्राकट्यम्. ततः तद्भाग्याभिनंद-कत्वेन तन्नामकीर्तनस्यापि तथात्वं प्रतिपाद्यते. **मंगलम् इह** इत्यादिना. **मंगलम् इह श्रीनंद-यशोदा-नाम सुकीर्तनम्** इति. **इह** क्रीडास्थाने श्रीमद्गोकुले **श्रीमन्नंद-यशोद**यो यान्**नाम** सांकेतिकं तस्य **सु**ष्ठु यत् **कीर्तनं** कथनम् इति यावत् तदपि **मंगलम्** इति. तथा सति अधिष्ठानविषयीभूत्वेन. यत एतौ एतदैश्वर्यादि बोधकौ. एतेन '**नंदनंदनः यशोदोद्भवः**' इति इति नामद्वयेन ''**तन्नामार्थयोरपि अभेदान्वयः**'' इति न्यायाद् एतन्नाम्नोरपि आनंदवर्धनकत्वं यशोदायकत्वं च व्यवस्थया सूचितम् इति भावः. अतएव अग्रे परमानंदानुभवरूपम् आत्मजत्वेन तत्कृतं यल्लालनं तदपि तथात्वेनैव अनुद्यते. **एतद**दित्यादिना. **एतद्-रुचिरोत्संग-सुलालित-पालित-रूपम्** इति. अनयोर् यद् **रुचिरं** मनोहारी **उत्संगेन सु**ष्ठु यथा भवति तथा स्तनपानदानादिपूर्वकं **लालितम**पि यद् **रूपं** तदेव **मंगल-मंगलम्** इति पूर्वेण अन्वयः. पदार्थमात्रेष्वपि तथाबुद्धित्वेन तत्त्वीभूतवस्तुप्राप्तम् इत्यर्थः. अतएव ''**जानीतं परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितम्**'' (अणु.भा.४।४।२२) इत्यादिकथनम्. एतेन एतत्पदस्य आवृत्तिकथनत्वेन तावत् पूर्वोक्तमेव समर्थित.

'श्रीश्रीकृष्ण'इति श्रुतिसारं नाम
स्वार्त-जनाशय-तापापहम् इति मंगल-रावम्॥
व्रजसुन्दरी-वयस्य-सुरभीवृन्द-मृगीगण-
निरुपम-भावा मंगल-सिन्धु-चया॥२॥

ननु स्वानुभूतप्राप्तिभूतत्वेन तथात्वन्तु निर्णीतं परं नहि श्रुतिसिद्धं तत्र अश्रुतत्वाद् इति अपेक्षायाम् आहुः **श्रीश्रीकृष्ण...** इति. **'श्रीश्रीकृष्ण' इति श्रुतिसारं नाम** इति. अत्र **'कृष्ण'** इति नाम्ना **''कृषिर् भूवाचक''** (गो.पू.ता.उप.१।१) इति उपनिषद्वाक्योक्तः **कृष्णः** सदानंदो भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम उच्यते. तत्र **'श्री'** शब्दस्य आवृत्त्या ही **''श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ''** (तैत्ति.आर.३।१३।२।१०) इति श्रुत्युक्तोर्थोऽपि अभिज्ञेयः. तेन तद्युक्तं यत् कृष्णाख्यं नाम तदेव तत्प्रतिपाद्यत्वेन **सारं** तत्त्वीकृतम् इत्यर्थः. एतेन एतासामपि तथात्वाद् एतद्वाक्यमपि तथैव उद्गायति **''अक्षण्वताम् फलम्''** (भाग.पुरा.१०।१८।७) इत्यादिकथनत्वात्. तेन सर्वसाधनराहित्यस्फूर्त्या फलत्वेन एतदेव नाम स्वीकृतं **सारं** तु इदमेव इत्यर्थः. अतएव श्रीमदाचार्यैरपि तथैव उक्तं **''परं ब्रह्मतु कृष्णो हि''** (सि.मु.३) इति. 'कृष्णे'ति मंगलं नाम इति अनुशासनमपि. अथवा श्रियोऽपि अधिकाया श्रीः मुख्यस्वामिनी तत्प्रोक्तं यन्नाम 'कृष्ण' इत्यादि कथनपूर्वकं तदेव श्रुतिसारं तद्रूपाणां जीवनमिति यावत्. अतः परम एतद्विशेषणीभूतत्वेन तदेव प्रतिपाद्यते **स्वार्त...** इत्यादिना. **स्वार्त-जनाशय-तापापहम् इति मंगलरावम्** इति. **स्वस्य स्वस्मिन्** वा या **आर्तिः** मुखावलोकन-भाषण-मिलनादि-व्यतिरेकेणापि विरहसामयिक-साक्षाद्रसात्मकस्वरूपानंदानुभाविका तद्युक्ता ये **जनाः** तादृग्दैन्येन अंगीकृतिपर्यवसायिनः तेषाम् **आशयः** तद्हृदयं. तत्र यः **तापः** साक्षादंगसंगराहित्येन असह्यमानो भोगः तस्य अपहननं करोतीति तथा. **इति** इति हेतोः. **'कृष्ण'** शब्दात्मकं यद् **नाम** तदेव मंगलम् एवं तथात्वेन तथाशब्द इत्यर्थः. अतएव **''नंदसूनूर् अयम् आर्तजनानाम्''** (भाग.पुरा.१०।३-२।४) इति ताभिः गीतम्. अथवा श्रुतिरूपाणां स्वस्वरूपं वर्णनाशक्तिमेव दृष्ट्या स्मरक्षोभजनिततापदूरीकरणार्थं नादब्रह्मात्मकं स्वरूपं कर्णद्वारेण तद्हृदये प्रवेश्य तदनुवर्णनशक्तिमपि दत्त्वा तथैव अनुभूतो भवति इति **सारम्** एतन्नामैव. अतएव **इति मंगलरावं ''बर्हापीडम्''** (भाग.पुरा.१०।१८।५) इति श्लोकोक्तप्रकारेण तथा इत्यर्थः. तेन अत्र **इति** शब्दस्य प्रकारार्थवाचकत्वम् इति अभिज्ञेयम्. अतएव श्रीशुकैरपि तथैव उक्तम् **''इति वेणुरवं राजन्!''** (भाग.पुरा.१०।१८।६) इति. अतःपरं यत्र येषाम् एतद्रवश्रवणं तत्र

तदुद्भूतभावानामपि तथात्वं च आवश्यकम् इति अग्रिमवाक्यै तथात्वमेव उच्यते **व्रजसुन्दरीवयस्य** इत्यादिकथनेन. **व्रजसुन्दरी-वयस्य-सुरभीवृन्द-मृगीगण-निरूपमभावा मंगलसिन्धुचया.** एतेषां **निरूपमा** ये **भावा** उपमेतुं न शक्याः तथा स्वरूपभावनत्वेन अलौकिकाः तएव **मंगलसिंधवः** तत्तद्भावकटाक्षपरिपूरिता इत्यर्थः. अतएव एतद्भावानां साक्षाद्धर्मिपर्यवसायित्वेन तावत्संख्याकं तदभिधत्वम् इति अभिहितम्. एतेन अत्र तेषां तेषां तथात्वकथनेन अगाधत्वमपि ध्वनितम्. अतएव प्रमेयबलमेव अवलंब्य विरोधाभावात्मनैव श्रीशुकैः उक्तं **''यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्''** (भाग.पुरा.१०।२६।४०) इति. अथच भगवन्मुखावलोकनत्वेन तेषां प्रतिक्षणं नूतन-नूतन-भावतरंगोद्भावनत्वात् **चय**त्वमपि तथा. अतएव अनुरक्तकटाक्षमोक्षत्वं तासाम्. हृदि तथाधायकम् इति सूचितम्. यत एतेषां भावानां वृन्दारण्यभुविजातत्वम् इति तदग्रे वक्ष्यमाण.

मंगलम् ईषत्-स्मितयुत-ईक्षण-भाषणम्
उन्नत-नासा-पुट-गत-मुक्ता-फल-चलनम्॥
कोमल-चलद्-अंगुलि-दल-संगत-वेणु-निनाद-
विमोहित-वृन्दावन-भुवि जाता ॥३॥

अतःपरं यत एतत्प्रकारेणैव ताभिः सर्वं भगवदधरपानादिकम् अनुभूतं ततएव अग्रे तादृगीक्षणविषयकतथात्वमेव अनुद्यते. **मंगलम् ईषद्** इत्यादिना. **मंगलम् ईषत्-स्मितयुतम् ईक्षण-भाषणम्** इति. **ईषद्** इति किंचितप्रकारकं यत् **स्मितं** मंदहास्यं तद्युक्तं यद् **ईक्षणं** तादृशभावगर्भितदृष्ट्यवलोकनं तत्पूर्वकं यद् **भाषणं** कुशलप्रश्नानुकथनत्वेन स्वागतः मत्यादिरूपं (?) तदपि तथा इत्यर्थः. अतएव अग्रे शिरश्चाल(न)पूर्वकं तथाविशेषणमेव अनुद्यते **उन्नत** इत्यादिना. **उन्नत-नासा-पुट-गत-मुक्ता-फल-चलनम्** इति. तद्वक्त्राभिमुखीकरणत्वेन **उन्नतं यन्नासापुटं तद्गतं यन्मुक्ताफलं** तस्य चंचलनयनं यस्मिन् इति तथा. एतेन स्वनिकटएव तत्स्थितिपक्षस्थापकत्वम् इत्यपि द्योतितम्. अतः परं वृन्दावनप्रवेशकरणत्वेनैव लीलाकरणत्वाद् तद्भावानां

तदुद्भूतत्वं प्रतिपाद्यते. यतो वृन्दायाः भक्तरूपत्वात् तत्सम्बन्धेनैव यत्र सर्वदा भगवच्चरणविहारः क्रीडास्थानत्वात् तत्रैव वेणुनादकार्यमपि इति तथाविशेषणत्वेन तदेव अनुद्यते **कोमलचलद्** इत्यादिना. **कोमल-चलद्-अंगुलि-दल-संगत-वेणु-निनाद-विमोहित-वृन्दावन-भुवि जाता. कोमलानि चलानि** यानि **अंगुलिदलानि** अग्रभागाः तैः **संगतः** प्राप्तिकृतो यो **वेणुः** तस्य यो **निनादः** तादृशभाववर्धकः शब्दः तेन **विशेषेण मोहिता** या **वृन्दाः** तस्या यद्**वनं** तत्सम्बन्धिनि इमा **भूः** तत्र तथात्वेन प्रकटीभूता **जाता** इत्यर्थः. अतएव **''वृन्दावन सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्** (भाग.पुरा.१०।१८।१०) इति ताभिः गीतमपि.

मंगलम् अखिलम् इह गोपीशितुरति-
मन्थर-गति-विभ्रम-मोहित-रासस्थित-गानं
त्वं जय सततं गोवर्धनधर! पालय निजदासान्।।४।।

अतएव अग्रिमवाक्येपि **मंगलम् अखिलम्** इत्यादिना. **मंगलम् अखिलं गोपीशितुः** इति. **गोपीशितुः** तद्रक्षकस्य तावद् **अखिलं** सर्वे क्रीडादिकरणं मंगलमेव इति सुतराम् उच्यते. यत एतत्साहित्येनैव रासलीलाकरणत्वम्. नोचेद् बहुनर्तकीयुक्तो रास इति लक्षणानुपपत्तेः. अतएव **''सप्रियाणाम् अभूत् शब्दः तुमुलो रासमण्डले''** (भाग.पुरा.१०।३०।६) इति श्रीशुकैः तथात्वेन उक्तम्. अतः परम् एतद्भक्तसाहित्येनैव यत्र भगवत्स्थितिः सर्वदा तत्रैव तथा प्रार्थनम् इत्यपि सूच्यते. **अतिमंथरगति** इत्यादिना. **अतिमंथर-गति-विभ्रम-मोहित-रासस्थित-गानं त्वं जय सततं गोवर्धनधर! पालय निजदासान्.** अत्यंता मंदगतिः परस्परकटाक्षमोक्षावबलम्बिनी तस्य ये **विभ्रमाः** विलासाः भगवत्स्वरूपासक्तिप्रतिपादकाः तेन **मोहिताः** ये **रासस्थिताः** भक्ताः तेषां **गानं** यत्र **''उच्चैर् जगुः नृत्यमाना''** (भाग.पुरा.१०।३०।९) इत्यादिकथनत्वात् तथैव **श्रीगोवर्धनधर! त्वमेव** एतल्लीलाविशिष्टस्वरूपेणैव **सततम्** इति नैरन्तर्येण **जय**इति सर्वोत्कर्षेण विराजमानो भव इति प्रार्थना. तथा रक्षाकरणत्वेन **निजदासान् पालय**

इत्यपि प्रार्थनांतरम् इति अलं विस्तरेण.

इति श्रीवल्लभाधीशचरणाब्जरजोर्थिना।
तदात्मजकृतं गीतं साशयं प्रकटीकृतम्।।

।। इति श्रीमंगलमंगलम् इति गीतस्य केषाञ्चिद् विरचिता विवृतिः समाप्ता।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

'विधुमधुरानन मानद!' पदव्याख्या

(शृंगाररसमण्डनान्तर्गत रससर्वस्वप्रकरणम्)

(श्रीरघुनाथजीकृता पदव्याख्या)

एवं परमानन्देन गानपूर्वकं स्नानार्थं गतिनिरूपणे सामाजिकानां गीतप्रबन्धजिज्ञासायां तदानीन्तनं प्रबन्धम् उपनिबध्य प्रदर्शयन्तो गानस्य रागपूर्वकतया प्रबन्धात् पूर्वं तद् निर्दिशन्ति **विभास** इति.

रागस्वरूपन्तु ''**श्यामाङ्गी मुकरं करेण दधती हारं गले मौक्तिकं, ताटङ्कान्वित - कर्ण - कङ्कण - करा दिव्याम्बरैः संयुता, रम्भायाः घनकाननेषु रमते हृद्यापयन्ति विभासी मुनिकिन्नरैरपि सुरैः गीता निशान्ते दिवि**'' (   ) इति रागं निर्दिश्य प्रबन्धं निरूपयन्ति :

विधुमधुरानन! मानद!॥
मनसिजमानद! गोपीनयनचकोर - पानद!॥
राधालोचन - कुवलयमोदन! कामवरद!॥
अंजनरजनी - प्रकट - तारावृताधरामृतस्यन्द!॥१॥

विधुवत् चन्द्रवद् **मधुरम् आननं** यस्य इति. भगवद्दिदृक्षातिशयवशात् तन्निवर्त्तकोपायस्मरणे अभ्यासदाढ्र्याद् भगवानेव तादृशः स्फुरितइति प्रधानचन्द्रधर्मैः भगवन्तम् उपगायन्ति इति आशयेन तथा उक्तम्. अत्र अग्निकुमारिकाभिः स्वमण्डलाविर्भूत - भगवद्रूपलावण्यामृत - निमग्नचित्ततया स्वाभीष्टप्रार्थनादिज्ञापकक्रियापदं विस्मृत्य स्वरूपधर्मबोधक **विधुमधुरानन** इत्यादि सम्बोधनपदान्येव गीते उच्यन्ते. तेन स्वार्थं गौणीकृत्य भगवत्स्वरूपासक्तिरेव मुख्या इति सूचितम्.

यद्वा **विधुमपि मधुरयति** स्वानन्दपूर्णं करोति तादृशम् **आननं** यस्य इति तदानीन्तन - चन्द्रदर्शनम् अपूर्वपरमाह्लादकरम् अनुभूय न इयम् अपूर्वानन्दप्राप्तिश्च तद्धर्माद् भवितुं शक्या किन्तु अनुभूयमान - भगवन्मधुरिमांशसम्बन्धादेव चन्द्रस्य तथा आह्लादकत्वम् इति मन्वानानां तथा उक्तिः. तेन भगवद्वदनमधुरतायाः चन्द्रमण्डलपर्यन्तम् अतिप्रसृततया तव दुर्लभत्वेन निरवधित्वम् उक्तम्. तेन भक्तानां भगवद्धर्मासम्बन्धप्राकृतलौकिकसामग्र्या आनन्दजनकत्वं वारितम्. तेन तदानीन्तनसर्वापि दिशो भगवदानन्देन व्याप्ता अलौकिक्यएव आविर्भूताइति सामान्यतया ज्ञाप्यते. अतएव **मानद** इति सम्बोधनेन अस्मदनुकूलस्वधर्मप्राकट्यैः अस्माकम् आनन्दयति इति अर्थः. चन्द्रोऽपि रत्युद्दीपकतया शृङ्गारिणाम् आनन्दं ददातीति अर्थसाम्यम्. किञ्च, अस्मभ्यो मानदानं भगवतो अत्यावश्यकम् इति आशयेन आहुः **मनसिजमानद** इति. मनसिजस्य आधिदैविककामस्यापि मानं ददाति. तद् उक्तं ''**कामाख्यं सुखम् उत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते नच अपरः**'' (सुबो.का.१०।३०।५) इति. तथाच कामरसप्रधानो भवान् मनसिजसन्माननां कुर्वन् तत्पूतनापरिकरान् अस्मानपि सन्मानयतीति युक्तम् इति भावः. चन्द्रोऽपि शृङ्गारप्रधानः तथेति तुल्यता.

यद्वा भगवदीयसौन्दर्यस्य सर्वोत्कृष्टतां वक्तुं सौन्दर्यपराकाष्ठापन्न - मनसिजमान - निरासकत्वम् आहुः **मनसिजमानद** इति, '**दो**' अवखण्डने मनसिजमानं खण्डयति इति अर्थः.

इदानीं दिदृक्षाजनित - तापातिशय - शामकत्वेन सम्बोधयन्ति **गोपी** इति. **गोपीनां नयनान्येव चकोराः**, तेषां स्वरूपामृत**पानं** **द**दाति इति चन्द्रोऽपि स्वासक्तं चकोरपक्षिणं स्वकिरणपानं ददातीति तुल्यता प्रकृतार्थपोषार्थं स्वकीयेषु तादृशदानशालित्वं भगवतः सुप्रसिद्धमेव इति आशयेन आहुः **राधालोचनकुवलयमोदन** इति मुख्यस्वामिनी**लोचना**न्येव **कुवलया**नि तेषां **मोदनः** विकासकः इति अर्थः. यथा चन्द्रोदये सति कुमुदानां विकासः मकरन्दादिनानागुणप्रकाशः तथा अत्र मुखचन्द्रदर्शनमात्रेण नयनयोः विकासः प्रतिक्षणनवीनमेव अनुभूयते

इति भाव:. तथाच मुखचन्द्रस्य तादृशदानशालित्वेन प्रसिद्धतया अस्मास्वपि तथा सम्पादयिष्यति इति भाव: सूच्यते. स्वदर्शनजनित - नानाभावगर्भित - स्वामिनीलोचनयो: दर्शनमात्रेण तद्वश: सन् अदेयमपि तत्तदिप्सितं ददाति इति आहु: **कामवरद** इति. **कामं** यथेष्टम् इप्सितं पदार्थं ददाति इति अर्थ:. यद्यपि **काम**पदमन्तरापि **वर**पदेनैव यावदभिलषितपदार्थ: प्रतिपद्यते तथापि विशेषणवाचकपदसमवधाने विशिष्टवाचकपदस्य विशेष्यमात्रपरतया अन्यत्र निर्णीतत्वात्, प्रकृते **वर**पदस्य अदेयत्वेन अभिमतवस्तुमात्रपरत्वम् अभिप्रेतमिति **काम**पदस्य न गतार्थता शङ्क्या. तेन स्वाभिलषितपदार्थदानस्य ध्रौव्यं व्यज्यते.

यद्वा **काम:** तृतीयपुरुषार्थ:. सएव **वरो** अभिप्सित: तं ददाति इति अर्थ:. तेन प्रापञ्चिकलौकिककामस्य स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वं निराकृतम्. अतएव **''कामस्य न इन्द्रियप्रीति: लाभो जीवेत यावता''** (भाग.पुरा.१।२।१०) इत्यत्र मोक्षोपयोगिता - ज्ञानानुकूल - प्राणादिस्थिति - निमित्ततयैव पुरुषार्थत्वं नतु स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थता इति सिद्धान्तितम्. भगवदीयकामस्य तु लोकविलक्षणत्वाद् न लौकिकन्यायो अत्र शङ्क्य:. तद् उक्तं **''क्रिया सर्वापि सैव अत्र परं कामो न विद्यते''** (सुबो.का.१०।२६।१७) इति चन्द्रस्यापि उद्दीपनसामग्रीत्वात् कामवरदत्वमिति तुल्यता.

यद्वा **राधालोचन** इत्यत्र कुमारिकायूथस्थित - मुख्यस्वामिनी - लोचनप्रकाशकत्वमेव नामसाम्याद् इह उच्यते. मुख्यतदन्तरङ्गसखीनां तथैव अभिलाषात् तथा गीयते इति सङ्गति:. एतद् उक्तं भवति : अस्मत्स्वामिनी भवदीयदर्शनार्थं स्वकृतनियमान् न किञ्चिद् अवलोकयति किन्तु नेत्रयो: दत्तमुद्रेव धर्मान्तरेण चन्द्रसाम्यं निरूपयन्ति **अञ्जन** इति. **अञ्जनमेव रजनी** रात्रि: तत्र **प्रकटा: तारा:** भक्तनेत्रकनीनिका: ताभि: **आवृता** इति. भक्तनयनाञ्जनस्य रञ्जकत्वनीलत्वादिसाम्याद् रजनीत्वम्. रजनीत्वं यथा रजन्यां गाढतमसि तारका: हि अनन्ता: तथा अञ्जनमशीभि: दृशां **तारा**

इति, चन्द्रोऽपि रजन्यां तारावृतो भवतीति तथा. स्वासाधारणोपयोगाय धर्मान्तरं निरूपयन्ति, अञ्जनमेव रजनी रात्रि. **अधर** इति **अधरामृतं स्यन्द**ते प्रस्रवतइति तथा भगवत्स्वरूपं सर्वमेव आनन्दामृतमयं तच्च तदमृतप्राप्तिमार्गो अधरदेश:. अधरोहि लोभात्मक: तत्रैव अमृतं स्यन्दतइति विवेकेन यथाधिकारं ददातीति. अतएव तत्प्राप्त्युपायो मृग्य: इति भाव:. चन्द्रोऽपि अमृतमय: स्वज्योत्स्नाभि: अमृतं स्रवतीति साम्यम्. ननु अस्मिन् गीते क्रियापदाभावाद् वाक्यं वाक्येन (कथं!) अन्वेति? अथ विशेषसूचनतात्पर्यकत्वेन निर्दुष्टत्वाद् दोषोऽपि गुण: क्वचिदिति तत्पुन: प्रकृतार्थपोषकतया गुणाधायकत्वस्यैव सम्भवदद्युक्तित्वात्. अतएव **''हा पित: ! क्वासि हे सुभ्रु! बह्वेवं विललाप स''** (भट्टि.का.६।११) इति वाक्ये भ्रू इति सम्बोधनपदेन [(स्वपार्श्वस्थ व्याकरण तिष्ठतीति(?) तत्प्रतिज्ञासिध्यै स्वयं समागत्य नेत्रकपाटमुद्रां दूरीकृत्य लोचनाञ्चलविलासा: भवितुं योग्या: इति सूच्यते)]. शिष्टन्तु तद्दर्शनमात्रेण सर्वं सेत्स्यति इति आशयेन आहु: **कामवरद** इति. व्याख्यानन्तु पूर्ववत्. विरुद्धत्वेऽपि उपक्रान्तविस्मृतिविर-हातिशयसूचनार्थं कविना युक्तइति साधुत्वमेवेति समर्थनं ग्रथकृतां सङ्गच्छते इति दिक्. अथवा **'हे विधु मधुरानन मम दृशि तव आननं जयतु'** इति अनन्तरङ्गीतोक्तक्रियया सम्बोधे ज्ञेय:(?). पूर्वं विरहातिशयेन दूरमेव प्रियम् अनिरूपितम्. ततो गुणगानानुभावेन भगवन्तं निकटमेव मन्यमाना: साक्षात् स्पर्शादिना विरहतापोपशमनार्थं कमलधर्मै: निरूपयन्ति **व्रजानन्दकन्दम्** इत्यादि. इदमेव उपक्रमभेदं दर्शयितुं रागान्तरम् आदौ गीतस्य दर्शयन्ति गुर्जरीरागेण गीयते इति विशेष:.

व्रजानन्दकन्दं घोषपतिभाग्यभुविजातम्
रसिकवरगोपिकापीतरसम् आननं तव जयतु मम दृशि सुजातम्॥ ध्रुव॥

रागस्वरूपं तु **तव आननं मम दृशि जयतु** इति सम्बन्ध:. सर्वोत्कर्षेण स्थिति: जय:. तेन स्मितकटाक्षादिसर्वधर्मसहितस्य आनन कमलस्य सर्वदा दर्शनं प्रार्थितं भवति. **दृशि** इति एकवचनं चात्यभिप्रायेण. तेन एकजातीयदृशां

बहुत्वप्रार्थनं व्यज्यते. तेन दिदृक्षातिभरः सूचितो भवति यद्यपि अत्र आननमात्रम् उक्तं तथापि अनन्तरवाक्ये कमलताद्रूप्यं वक्ष्यतइति तथा उक्तिः. अतएव **सुजातम्** इति विशेषणम् उक्तम्. यथोत्कृष्टधर्मविशिष्टं कमलं सुजातमिति उच्यते. तथा इदम् आननकमलमपि तथाधर्मयुक्तम् इति अर्थः. प्रथमतोऽस्यवाभ्यर्हितानन्दधर्मप्राधान्यनैव श्रीमुखं प्रतिभातं तत्रापि तदानन्दप्राकट्यं स्वकीयानन्यव्रजसुखार्थमेव इति आशयेन आह **व्रजानन्दकन्दम्** इति विशेषणं पूर्वम् उक्तम्. एतत्पदं द्विरुक्तम् आदरद्योतनार्थं चर्चरीतालसङ्गतिश्च द्विरुच्चारणे सुगमा भवति यद्यपि अतिदुर्लभभगवत्सङ्गमो न साधनशतैरवाप्यः तथापि श्रीमन्नन्दराजेन गौडदेशात् प्रयत्नेन समानीताः तद्व्रजएव स्थिता वयं भगवांश्च तदा व्रजसम्बन्धिवस्तुमात्रस्यैव यथायोग्यं कृतार्थीकरणार्थमेव अत्र अवतीर्णइति अन्यविनियोगोऽस्माकं मामूदिति अवश्यमेव अस्मत्साधननिरपेक्षेएव स्वावरणा-साधारणप्रयोजनम् अनुसन्धायैव अस्मन्मनोरथं पूरयिष्यत्येव इति आशयेन मुखाम्बुजविशेषणम् आहुः **घोषपतिभाग्य** इति. घोषपते श्रीमन्नन्दस्य भाग्यरूपा भू व्रजभूमिः तत्रैव श्रीमन्नन्दस्य सर्वभगवल्लीलानुभवात् परमानन्दप्राप्तेस्तु(?)-द्भाग्यरूपा व्रजभूमिः भवति तत्र जातमिति कमलाद् व्यतिरेकश्च दर्शितः. तज्जले समुत्पाद्यत इति. तेन लोकोत्तरैव स्वरूपदया भकरन्दादिसम्पत्तिः सूचिता. यद्वा जलेनपि/विच्छलायामेव भूमौ कमलस्य समारोहात् व्रजभूमेः भगवदाविर्भावजनितानन्देन सात्विकाविर्भावात् सान्द्र(?)ता ज्ञाप्यते. तेन लोकोत्तरेयं व्रजभूमिरिति भगवदाविर्भावाधारयोग्यता निरूपिता. ननु सर्वभोक्ताऽहं कथं भवदर्थे भोग्यरूपं दर्शयामि? न हि भोक्ता कथमपि भोगशेषतामापद्यते, विरोधाद् इति आशङ्कायाम् आननस्य विशेषणम् आहुः **रसिकवरगोपिकापी-तरसम्** इति. तथा च **"न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघाताद्"** (लौ.न्या.सा.१६०)इति न्यायेन सर्वदा स्वरूपानन्दभक्तेः वशं वदः सन् भक्तान् अनुभावयतीति साक्षाद् अनुभूते का नामविप्रतिपत्तिरिति न अपूर्वं किञ्चिद् इति भावः. **रसिकवर** इति रसात्मकभगवत्स्वरूपैकनिष्ठत्वं तादृशाधिकारसम्पत्तिरूपं दर्शितम्.

एवं भक्तेषु स्वरूपानन्ददानशालित्वं निरूप्य स्वाभिलषितं प्रार्थयन्ति

रुचिर इति.

रुचिरदरहासगलदमलपरिमललुब्ध - मधुपकुलमुखकमलसदनम्॥
अमृतचयगर्वनिर्वासनाऽधरसीधु - पाययमनोजाग्निशमनम्॥१॥

अमृतचयगर्वनिर्वासनाधरसीधुपायय इति योजना. अमृतचयगर्वनिरस-नौचितीं दर्शयितुम् अधरामृतस्य स्थानगुणोत्कर्षम् आहुः **रुचिर** इति. **रुचिर** मन्दहासेन **गलन्** यो **अमलः परिमलः** तल्लुब्धानि **मधुपकुला**नि यत्र तादृशं **मुखकमलमेव सदनं** यस्य इति. तथा च स्वयं रसात्मकम् अमृतं रसात्मकएव स्थले तिष्ठतीति परमोत्कर्षवर्णनं सम्पन्नम् इति भावः. तत्पानस्य आवश्यकत्वाय विशेषणान्तरम् आहुः **मनोजाग्निशमनम्** इति.

मनोरथान्तरपूर्त्तिं प्रार्थयन्ति **स्मित** इति.

स्मितप्रकटितचारुदन्तरुचिवदनविधुकौमुदीहृतनिखिलतापे॥
विलस ललिताहृद्यकनककलशद्वयमारकतमणिरिव दुरापे॥२॥

स्मितेन प्रकटिता चारुदन्तरुचिः सैव **वदनविधोः कौमुदी** ज्योत्स्ना तया **हृता निखिला** वियोगज**तापा** यस्य तादृशे **ललितायाः** 'ललिता'भिधाया ललिताया अतिशोभानुगुणयुक्ताया वार्थान् ममैव **हृद्यं** मदीयहृदयसुवर्णभुमि-कातो जातं भगवद्हृदयस्य प्रियं वा यत् **कनककलशद्वयं** तत्र **मारकतमणिरिव** हारादिभूषणमध्यवर्त्तिनीलमक्षिरिव विहरविलासं कुरु इति तेन सौन्दर्याभरणवत् सर्वदास्थितिप्रार्थनं सूचितम्. **दुराप** इति विशेषणेन लज्जादिधर्माणाम् औत्कण्ठ्यं दर्शितम्. अत्र **ललित** इति सप्तम्यन्तया पाठे कलशद्वयविशेषणम्. **ललितम्** इति द्वितीयान्तपाठे क्रियाविशेषणम्. अत्र स्मितादयो योग्यताबलाद् भगवत्सम्बन्धिनो लभ्यन्ते.

प्रार्थनान्तरम् आहुः **सुभग** इति.

सुभगसुमुखिकण्ठनिहितनिजबाहुर् अतिमत्तगजराजइव रुचिरम्।।
विहर विरहानलं चारु पुष्करचलनशीकरैः उपशयमय रुचिरम्।।३।।

सुभगा सौन्दर्यवती. अतएव **सुमुखी** यद्यपि **सुभगपदेनैव** सुमुखीत्वं लभ्यते तथापि मुखशोभाया अतिशयत्वं वक्तुं तथा उक्तिः. तस्याः **कण्ठे निहितो निजबाहुः** येन तादृशः सन् **रुचिरं** यथा स्यात् तथा **विहर** विहारं कुरु बाहौ निजत्वविशेषणात् स्वासा(?)धारणशृङ्गाररसपोषणातिशयो व्य(?). **गजराजवद्** इति प्रथमान्ताद् व्रतिः तेन स्वच्छन्दक्रीड़ासूचिता. विहारस्य आवश्यकत्वं ज्ञापयन्त्यः तदसाधारणप्रयोजनम् आहः **विरहानलम्** इति. **चारु** शोभनं यत् **पुष्करं** लीलाकमलं तस्य **चलनं** क्रीड़याविधूननं तद्वशात् सर्वतः प्रसरणशालिभिः **तच्छीकरैः** अतिशीतलजलकणैः विरहानलम् **उपशमय मत्तगजो**ऽपि स्वशुण्डादण्डशीकरैः करणीनां सर्वतः शैत्यं सम्पादयतीति तत्साम्यं दर्शयितुं **पुष्करपदोक्तिः**. एतावता विरहखेदहानिः उक्ता. स्वरूपानुभवजनितसुखावाप्तिं च सूचयितुं **सुचिरम्** इति क्रियाविशेषणम् उक्तम्।।३।।

अरुणतरलापाङ्गशरनिहतकुलवधूधृति तव विलोचनसरोजम्।।
मम वदन सुषमा सरसि विलसतु सततं मलसगतिनिर्ज्जितमनोजम्।।४।।

मनोरथान्तरम् आहुः **अरुण** इति. **तव विलोचनसरोजं मम वदनसुषमा सरसि विलसतु**. अनेन मद्वदनावलोकनमात्रेण तव लोचनयुगम् अन्यत्रगतिरहितं भविष्यतीति स्ववदनसौन्दर्यातिशयो ज्ञापितः. तेन रूपगर्वितत्वं सूचितम्. तत्सौन्दर्यं परीक्षाव्याजेन भगवतः स्वावलोकनावश्यकत्वम् आक्षिप्तम्. इदं च भगवल्लोचनाम्बुजयुगस्य स्वमुखलावण्यसरसि स्थिरीकरणं न मत्तो अन्यत्र सम्भवति इति आशयेन भगवल्लोचनमहात्म्यं वर्णयन्ति **अरुणेति अरुणवर्णः तरलाः चञ्चला ये अपाङ्गशराः कटाक्षविशिखाः तैः निहता** दूरीकृताः **कुलवधूनां धृतिः** कुलधर्माभिमानरक्षणहेतु धैर्यं येन तादृशं लोचनयुगलम् इति अर्थः. यद्यपि कटाक्षाणां नीलत्वं प्रधानो धर्मः तथा कुलवधू धैर्यादि

निवृत्तिसम्भवे किमर्थं कटाक्षासाधारणधर्माः प्रकटणीया इति ज्ञापयितुं कटाक्षे अरुणत्वोक्तिः. किञ्च लोके हननादिव्यापारेषु वीररसाभिनिविशाद् अरुणिमा नेत्रयोः प्रगटम् उपलभ्यते तथा धैर्यादिनिरसनार्थम् अरुणत्वनेत्रयोः आवश्यकमिति कटाक्षा अपि तथा उच्यन्ते. इयांस्तु विशेषः यत्र वीररसप्राधान्येन निराकरणीयं. तत्र नेत्रयोः अरुणत्वं वीररसानुभावः. यत्र शृङ्गाररसप्रधानेन निरसनीयं तत्र अरुणत्वं तद्रसानुभावएवेति न रसाभावेन अनायासेन धैर्यनिर्वृत्तिः सूचिता. तरलत्वोक्तिस्तु यथाकथञ्चिदपि कटाक्षलेशस्य क्षणमात्रसम्बन्धेऽपि तन्निवृतिः तन्महिमानं सूचयितुं हननोक्त्या च धृत्यादेः पुनरुज्जीवनाभावः सूचितः. कटाक्षेषु असाधारणत्वज्ञापनार्थं **तव** इति सम्बन्धिप्रदर्शनं **मम** इति उक्तिरपि स्ववदनसौन्दर्यस्य असाधारण्यं प्रदर्शयितुमेव।।४।।

नन्दगेहालवालोदितस्त्रीरागसेकसंवृद्धसुरवृक्षम्।।
व्रजवरकुमारिकाबाहुहाटकलतासततमाश्रयतु कृतरक्षम्।।५।।

इदानीं स्वस्य सर्वाङ्गसम्बन्धं प्रार्थयन्त्यो योग्यतां ख्यापयितुं शृङ्गाररूपं तमालद्रुम तां निरूपयन्ति **नन्द** इति. **नन्दगेहएव आलवालः** तत्र **उदितः** प्रादुर्भूतः तथा **स्त्रीणां** व्रजस्त्रीणां यो **रागो**ऽनुरागः स्नेहः तज्जन्य**सेकेन** सिञ्चनेन **संवृद्धः** प्रत्यवयवं पुष्ट एतादृशो यः **सुरवृक्षः** शृङ्गारतमालः कल्पवृक्षो वा तादृशं त्वां **व्रजवरकुमारिकाणां बाहुरेव हाटकलता** सुवर्णलता **सततं** निरन्तरम् **आश्रयतु** त्वदाश्रयं प्राप्य संवर्त्ततान् इति अर्थः. **कृतरक्षम्** इति मनसिजपापात् कालकर्मादिभ्यः रक्षयतीति तथा.

वृक्षोऽपि तापशीतादिभ्यो रक्षयतीति साम्यं तादृशसुरवृक्षरूपेण विभू तस्य तव व्रजरक्षाया आवश्यकत्वं ज्ञापयन्त्यो व्रजजनमात्रोपयोगी स्वकीयधर्मप्रकटीकरणेन निरुपाधिकृपालुतां दर्शयितुं **व्रजश्लाघ्यगुण** इति.

व्रजश्लाघ्यगुणसिकतागुणगोपनातिशयरुचिरालापलीलम्।।
तादृगीक्षणजनितकुसुमशरभावभरयुवतिषु प्रकटतरनिखिलम्।।६।।

यथा आम्रादि वृक्षेष्वपि कश्चनातितरां प्रशस्तफलपुष्पदलविटपादिभिः तद्गुणनिकरैः तत्सौष्ठवाभिज्ञरसिकजनैः श्लाघनीयो भवति तथा त्वमपि तत्तदधिकारानुसारेण सम्पूर्णस्यापि व्रजस्य स्वरूपानन्दवितरणात् श्लाघनीयः गुणो भवसि इति आशयेन सम्बोधयन्ति **व्रजश्लाघगुण** इति. सम्पूर्ण**व्रजेन श्लाघनीयगुणा** औदार्यसौन्दर्यादयो यस्य इति. अतो व्रजोद्भवानां लतानां तदाश्रयणम् आवश्यकम् इति ज्ञापितस्वाभिलषितगुणाकरत्वेन द्रुमं विशेषयन्ति **रसिकता** इति. रसं वेत्तीति रसिकः तस्य भावो **रसिकता** शृङ्गाररस इति यावत्. तत्प्रधानाः ये गुणाः हावभावकटाक्षसम्भाषणादयः तेषां **गोपनार्थं** मातृचरणादिनिकटे तादृशं शृङ्गारचरितं मुग्धभाववैदग्ध्येन सङ्गोपयितुं तदुक्तं सुप्रतिकोऽयम् आस्तइति. एवं गीतगोविन्देऽपि दर्शितं **"किं विश्राम्यसि"** इत्यादि **"सायमतिथिप्राशस्त्यगर्भा गिरः"** (गी.गो.६।१२।११) इत्यन्तेन वृक्षोऽपि शुकपिकादिकलशब्दैः पत्रशाखादिलीलाव्यापारैश्च तदन्तिकस्थिते रसिकजनस्य तादृशाचरितं गोपायतीति तत्साम्यम् इदानीं श्रीमातृचरणादिनिकटे मनसिजभावगोपनार्थं मुग्धभावेन भगवन्निरीक्षणं भक्तेषु कमपि शृङ्गाररसं पोषयति इति आशयेन विशेषणान्तरम् आहुः **तादृगीक्षण** इति. तादृग्भावगोपनार्थं यद् **ईक्षणं** भगवत्कर्तृकालोकनं **तज्जनितो** यः **कुसुमशरभावभरो** मनोभवजन्यभावानां निचयो यासां तादृशीषु **युवतीषु प्रकटतरम्** अतिशयेन प्रकटं **निखिलं** शृङ्गाररसाविर्भावक स्वरूपभावादिकं यस्य तादृशं सुवृक्षं निरुक्तगुणालतां समाश्रयतु इति पूर्वेण सम्बन्धं सुरद्रुमोऽपि तदाश्रितेषु यदादिष्टं पुष्पफलादिकं तत्सर्वं प्रकाशयति इति तुल्यता.

रुचिरकौमारचापल्यजयव्रीड्यावल्लवीहृदयगृहगुप्तम्।।
प्रकटयन् निजनखरशरचयैर् असमशरम् इह जयसि हृतभाववित्तम्।।७।।

कामजयख्यापनार्थं वल्लवीहृदयात्मकं तद्गृहस्य सपरिकरस्य अपहरणं निरूपयितुं भगवान् उद्बुद्धरसभावो भक्तैः यादृशो अनुभूयते तादृशं वर्णयन्ति. **रुचिरकौमार**वयोनिमित्तकं **चापल्येन** यः कामस्य **जयः** तज्जनित**व्रीड़या** लज्जया **वल्लवीहृदयात्मकगृहे गुप्त**कौमारवयस्यपि गुप्ततया स्थितं प्रकटीकुर्वन्

निजनखराएव शराः तेषां **चयैः तं जयसि हृतभाववित्तम्** इति भावो हृदयं वित्तं हृदयधर्माश्च यस्येति स तथा उक्तः तादृशं कामम् उद्बुद्धरसात्मकं हरिदर्शनमात्रेण उद्दीप्तकामभावाः तत्कालमेव वशीकृतहृदया भवन्तीति भावः.

इदानीं स्वप्रार्थितसमस्तपदार्थाधिकतरदानशीलत्वं भगवतो वक्तुं मेघधर्मैः स्तुवन्ति **घोष** इति.

घोषसीमन्तिनीविद्युदद्युवेणुकलनिनदगर्जितः त्वम् इह सततम्।।
वचनकरुणाकूतदृष्टिवृष्टिः अंग! नवजलदमपि कुरु सुहसितम्।।८।।

घोषसीमन्तिन्यो व्रजस्त्रियः ताएव **विद्यतो** यत् सम्बन्धिन्यो **विद्युत** इति नित्यसिद्धामेव त्वत्सम्बन्धयोग्यतां प्रगटमेव दर्शय इति भावः. न्यूनतां परिहर्त्तुं मेघगतधर्मान्तरं दर्शयति **उद्** इत्यादि. **उद्** ऊर्ध्वं उच्चैः यो **वेणुकलनिनदः** सएव **गर्जितं** यस्य एतादृश त्वं शृङ्गाररसात्मा **नवजल सततं** निरन्तरं **वचनकरुणाकूतदृष्टिः** स्वाभिप्रायज्ञापको नेत्रव्यापारः तासां **वृष्टिभिः** वर्षणैः **नवजलदमेघमपि सुहसितं कुरु** विधेय विशेषणमिदं स्वकीयालौकिकानन्दमयधर्माणां निरन्तरं वर्षणैः प्रसिद्धजलदहास्यास्पदं कुरु इति अर्थः. अयम् अभिप्रायः वयं हि स्वरूपामृतैकवृष्टिसम्पुष्टिकामाभूमयो भवांश्च नवजलदश्यामरूपो निरन्तरं स्वरूपामृतपानीयसम्भृतश्च. तथाच स्वरूपानन्दामृतैकोपजीविभ्यो यदमृतैकोपजीविभ्यो यदा आनन्दं न ददासि तदा अयं प्राकृतस्तुच्छोपि जलदः त्वाम् उपहसिष्यसीति शीघ्रमेव अस्मासु स्वरूपानन्दवृष्टिभिः प्रत्युत तदुपहासं लोके प्रकटीकुरु इति प्रत्यागाशिषा गीतसमाप्तिः सूचिता. **अङ्ग** इति सम्बोधनं विरहजन्यस्वनिष्ठखेदभरानुभवयोग्यताज्ञापनार्थम्. तथाच अस्माभिः विरहजन्यतापोपशमनार्थं न किञ्चिद् विज्ञापनीयं किन्तु अङ्गत्वात् त्वमेव अस्माकं तापौत्कट्यम् अनुभूय तन्निवृत्युपायं चिन्तय इति भावो ज्ञापितः. **सुहसितम्** इति सुष्ठु सर्वजनप्रसिद्धं यथा स्यात् तथा हसितं कुरु. सर्वजनानां हास्यास्पदं कुरु इति अर्थः. तथाच अस्मन्निष्ठो भवत्प्रदत्तफलसम्बध्युत्कर्षः सार्वजनीनो यथा भवति तथा कुरु

इति भावो लभ्यते. अतएव भगवानपि तथैव सर्वप्रसिद्धां लीलां कृतवान्. तदुक्तं **"यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्"** (भाग.पुरा.१०।४४।६३) इति यासां यत्सम्बन्धिभगवत्कथाम् उत्कृष्टं गीतं जगत्त्रयं पुनाति इति अर्थः. इत्यादि मेघधर्माङ्गीकारेण तत्सख्यप्रकाशनात् तस्य आह्लादजननेऽपि वृष्टयात्ममुख्यतद्धर्मानङ्गीकृतौ न्यूनतामासेति तन्निवृत्त्यर्थं तमपि धर्मम् अङ्गीकृत्य मेघं पराह्लादपूर्वकं हासेन योजय इति अर्थः.

इति श्रीरघुनाथजीकृता 'विधुमधुरानन मानद' पदव्याख्या समपूर्णा

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

'विधुमधुरानन मानद!' पदव्याख्या

(शृंगाररसमण्डनान्तर्गतं रससर्वस्वप्रकरणम्)

(श्रीगिरिधरजीकृता पदव्याख्या)

विधुमधुरानन! मानद!॥
मनसिजमानद! गोपीनयनचकोर - पानद!॥
राधालोचन - कुवलयमोदन! कामवरद!॥
अंजनरजनी - प्रकट - तारावृताधरामृतस्यन्द!॥१॥

श्रीविट्ठलकृपादृष्टिपूर्णस्वान्तरसोदधे!॥
विस्फुरद्भाववीचीनां भाष्यन्ते विप्रुषो मया॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणनिरूपितं कुमारीणां व्रताचरणार्थं यमुनातटे व्रजगुणगानव्याजेन क्रियमाणं प्रभुप्रार्थनारूपं गीतं प्रकाश्यते. तत्र ततः पूर्वं प्रभोः स्वसमीपस्थं मन्य - मानजभावोक्तो समक्षेतरस्थमपि प्रियम् अन्यार्तिभरोद्भटभावभरेण समक्षमिव सम्बोधयन्त्यो यद् गायन्ति तद् उच्यते - **विधुमधुरानन!**... इति.

विधुमधुरानन!

विधोः अपेक्षयापि अधिकं **मधुरम् आननं** यस्य, तादृश, तस्मिन् कलंकत्वं विरहिणीतापजनकत्वं क्षीयमाणत्वादिकं दृश्यते. भगवति तु इतरकलंक - दूरीकरण - सामर्थ्य - तत्तापहारकत्वानुक्षण- वर्द्धनमान -लावण्ययुङ् - मुखवत्त्वम् इति स्फुटमेव माधुर्याधिक्यम्. **विधुवद्** वा **मधुरं आननं** तद् यस्य. यथा विधूदये जलधिः उद्वेलो भवति तथैव त्वन्मुखचंद्रोदये अस्मद्भावाम्बोधिः उद्वेलो भवतीति तत्समानधर्मत्वमपि. तथापि अत्र

आधिक्यमेव. यतः तस्मिन् प्रत्यक्षएव; तत्समयावच्छेदएव च तस्य तादृशत्वं नान्यदपि. एतस्मिन् अंतर्हितेऽपि यदाकदापि समयानवच्छेदेऽपि भावाब्धेः उद्वेलत्वमेव इति आधिक्यम्. तथाच द्वितीयावस्थायाः संयोगफलकत्वेन साम्प्रतं संयोगः सम्पादनीयः इति तात्पर्यम्.

यद्वा **विधोः** यद् **मधुः** अमृतं तद् राति, आदत्ते गृह्णाति तत् तथा. तादृशम् **आननं** यस्य इति. भगवद्विरहे विधोः निःसारत्व - शैत्यादिगुणराहित्यदर्शनेन, भगवतस्तु प्रतिक्षणं वर्धमानलावण्यवत्त्वेन च अत्रैव सर्वतः सर्वं माधुर्यं समागत्य गुम्फीभूतम् इति ज्ञातवत्यः इति तथा. नोचेत् तद्द्वारापि कदाचित् किञ्चित् परितापापगमो भवेद् इति आशयः.

यद्वा **विधुमधुराः** गोप्यः तत्समाननमिव **आननं** यस्य इति. एतत्तु यदाकदाचित् स्वकीयशृंगारं प्रभौ संविधाय एताः तद्वदनेन्दुं पश्यन्ति. तदा कटाक्षादिभावैः आत्मा च गोपीसादृश्यमेव अनुभवन्ति तत्र इति तत् स्मृत्वा उक्तं. तत् उक्तम् **''इच्छन् त्रिभुवनसुन्दर गोविन्द गोपसुन्दरीवेशे. रचिते सहजमिव अभात् तद् युक्तं तस्यहि प्रेष्ठे''** (   ) इति.

यद्वा तादृशी सा आननएव यस्य स तथा. सर्वदा तन्नामैव जल्पन् तिष्ठति इति भावः. यथा उक्तं ''... **जपन्नपि तवैव आलापमन्त्रावलीम्**'' (गी.गो.५।१०।६) इति. तथाच तदा बाल्येऽपि तथाकरणे अधुना अकरणे हेतुः तं न जानामि इति भावः.

यद्वा **विधोरपि** तादृक् तद् यस्य तस्यापि त्वन्मुखमाधुरीपाने प्रचुरो अभिलाषः तिष्ठति इति तथा.

मानद!

ननु स इश्वरस्य एवम् एतद्धितकृतौ को वा अनुरोधः? इति सन्देह वारयन्त्यः आहुः **मानद!** इति. यतः त्वम् अस्मभ्यं सदा **मानम्** = आदरं

ददासि.

मनसिजमानद!

किञ्च, न केवलम् अस्मभ्यमेव किन्तु मनसिजस्यापि तद् ददासि इति द्वितीयं सम्बोधनम् **मनसिजमानद!** इति. आत्मारामस्यापि तव तन्मार्गोक्ताचरणेन कदाचित् तद्वशीभूत स्वदृश्यमानत्वेन च तादृशत्वम्.

यद्वा **मानद**इति **मनसिजस्यैव** विशेषणम्. शेषं प्राग्वत्. सो अन्येभ्यो ददाति तस्मै त्वम् इति सहृदयम्. अथवा अन्ये **मानदा मनसिज**श्च इति उभयमपि त्वमेव ददासि इति.

यद्वा **मानं** खण्डयसि इति. त्वद्दर्शनमात्रेण **मानः** प्रयातीति तद्दूरीकरण - समर्थः. तथैव **मनसिजस्यापि मानखण्डनम्**.

यद्वा **मानम्** अभिमानः सौंदर्य - यौवन -मदादिकं तं खण्डयति इति **मानदः** सच असौ **मनसिजः** च इति **मानदमनसिजः**. एतद् उक्तं "**नाशकन् स्मरवेगेन...**" (भाग.पुरा.१०।१८।४) इत्यत्र गोपीनां मानखण्डनपुरः- सरं सर्वकार्यशक्तिकरत्वं स्मरस्य. तथाच त्वन्तु तादृशस्यापि तस्य तादृशो अस्ति. त्वन्मिलने तस्यापि मानखण्डनं जायते इति तथा. अधुना सएव अवसरइति तथैव कृपय इति भावः.

यद्वा **मानं** ददासि अस्मभ्यम् इति तथा. अन्यत्र रमणं कृत्वा समागते भगवति दर्शनमात्रेण अस्माकं मानो भवति इति तथा. एवं **मनसिजाय** अपि मानं मानिनीत्वपुरःसरं ददासि जनयसि इति अर्थः. तदुक्तं "**मन्मथ...** " (सुबो.१०।२९।२) इत्यनेन. यथा कुसुमशरदर्शने तदितरजनानां स्त्रीभावः तथा त्वद्दर्शनस्य इति भावः. एवं वनितात्वे सिद्धे तद्धर्मरूपं मानम् अनुक्तसिद्धमेव. यद्वा **मनसिजः** चंद्रः शेषं प्राग्वत्.

गोपीनयनचकोरपानद!

किञ्च केवलमानदत्वमात्रन्तु अन्यविषयकमपि, भगवति स्वविषयकमेव विशेषम् आहुः **गोपीनयन...**इति. **गोपीनयनचकोरे**भ्यो कं विशेषम् आहुः **गापीनयन...**इति. **गोपीनयनेचकोरे**भ्यो निजवदनेन्दुगलदमंदसुधारसपानं ददासि इति तथा.

यद्वा **गोपीनयनानां चकोरः** तद्वद्दर्शनपरः व्रजसुन्दरीनयनानि चकोरीभूतानि यस्य. **पानद**इति भिन्नं संबोधनम्. अधरासव**पानद** इत्यर्थः. **पानं** द्यसि खण्डयसि इति वा. त्वदधरासवपानानंतरम् इतररसखण्डनं जायते इत्यर्थः.

यद्वा **गोपीवद् नयने** यस्य स तथा. एतदपि विपरीतशृंगारे स्पष्टम्.

यद्वा **गोपीनां नयन** इति तद्वत् प्रियतमेति. अथवा अस्मान् अज्ञापयित्वा अनन्याः गोपीः नयसे एकांतनिकुंजइति तन्नयनशीलः. तथैव अधुना अस्मान् नय इति भावः. **गोपीः** वा **नयने** तयोः वा यस्य इति वा. **चकोरपानद** इति. निकुंजाद् अकस्माद् बहिः आगते भगवति चकोराणां चंद्रप्रतीतिः भवति इति तथा. अत्र चकोर इति उपलक्षणमात्रं; वस्तुतस्तु क्रीड़ासरोवरादिस्थ हंस - सारस - केकिं - पीक - चातक - कुमुदकमलचक्रवाकानां तत्तत्समयावेदनेन यथोचितावस्थां करोतीति तथा.

तद्यथा, कमलानां चक्राव्हानां स्वपतित्वेन; स्वंसयोत्कृत्वेन(?) च भानं तु तदा तांबूलरागकुंकुमादिसंवलितत्वेन मुखस्य ताम्राभत्वात्. उदयसमये ताम्रत्वप्रकाशकत्वएव तत्र प्रयोजके न उष्मरश्मिसत्त्वमपि इति न अत्र दूषणापत्तिः. अतएव अग्रे **कुवलयमोदन** इति संबोधनेन भानुत्वमपि सूचितं. अन्येषां वसंतादिऋतुसमुद्यत् - सरस - भावानामपि हंसादीनां तु भगवद्वेणुनादमा- त्रप्रोद्यत्पुष्पफलमधुधारावत् पादपप्रवरपरामर्षेण; तत्स्वरूपस्य विद्युद् - बकपंक्ति - चापादिसह तत्तत्प्रोद्यन्नवनीलनीरदसकक्षत्वेन; तन्मुखस्य शारदाऽखर्वशर्वरीश्वर- गर्वपर्वतविदारणपरायणत्वेन चेष्टदत्वं स्पष्टं, **चकोराणां** पानं खंडयसि वा

तथा. इदन्तु शृंगारव्यत्यासक्त: प्रभो: तदनुरूपलावण्यानुसृतं नीलाम्बरान्तर्पिहितं वदनसुधानिधिं स्मृत्वा उक्तम्.

यद्वा **गोपीनां नयनानीव** नयनानि यासां तादृश्यो हरिण्य: ता: **चकोरा:** चेति तथा. तेभ्यो वेणुद्वारा स्वाधरासवपानं ददासि. तदितरद् वा खंडयसि इति तथा. एतेन यत्र अस्मद् नयनसाम्यमात्रेण तद्रसानभिज्ञानपि तान् अधरमधु पाययसि तदितरं खंडयस्यपि सर्वम्. तत्र अस्मान् अधिकारिणी: तदभिज्ञा: कुतो न पाययसि. तदन्यद् विरहजदु:खं च खंडयसि इति हृदयम्. उपलक्षणम् एतत् वस्तुतस्तु तत्र स्थित यावत् पशुपक्षिषु तद्द्वयमपि संपादयति. तदुक्तं **''वृंदंशो व्रजवृषा:.... सरसिसारस''**(भाग.पुरा.१०।३२।५-११) इत्यादिषु. यद्वा **'गो'**पदमात्रेण अत्र शुद्धभावापन्नागोपी उच्यते. तथाच तस्या यत्पीडनं पुष्टम् उच्छूनम् इति यावत्; तादृशम् अयनं स्थानम् उदोजौ अशक्यनिर्वचनांगविशेषादि: वा; तस्य **चकोर;** तद्वद् दर्शनासक्त इति तथा. एतत्तु महासुरते निरावरणयो: तयो: सतो: इतर-सकलक्रीडां विहाय तत्परतयास्थित: प्रभु: अकस्माद् जालरंध्रद्वारा कस्याश्चिन् नेत्रजनु:फलीभूत इति तत्स्मृत्वा तथैव उक्तम्.

दर्शनपरत्वमात्रे धर्मवति प्रभौ चकोरत्वकथनेन स्वामिनि अंगेषु प्रकाशशैत्याऽमृतमयत्वविभावकत्वादिसुधाकरसधर्मत्वं ध्वन्यते. तत्रैव यथा चकोर: तच्चंद्रिकां नेत्रद्वारा पिबत्यपि तथा अयमपि तत्र चुंबनादिदानेन तल्लावण्यामृतसंवलितरसविशेषं पिबन्निव भात: तदा इत्यपि ध्वनि:. **गोपीनयन** इत्यत्र असवर्णदीर्घ: आर्ष: पीनत्वेपि तददैर्घ्यबोधक:. ध्वनितार्थव्यात्ततौ एवं प्रयोगा: प्रांचैरपि आदत्ता मयाप्यालेखि. अतएव अग्रे **पानद** इति संबोधनम्. तेष्वेव चुंबनादिदानेन अधरस्थिततांबूलरागादिरसपानं तेभ्यो ददास्यपि इति सूचकम्. अन्यथा तत्र तांबूलरागादिरंजितत्वं कथं निरीक्षेत्.

राधालोचनकुवलयमोदन!

किञ्च यद्यपि त्वं बहुरमणीरमण: तथापि पूर्वकृतास्मद्व्रतफलत्वेन

अस्मदर्थमेव प्रकटइति विशेषतो अस्माकमेव सुखदो अस्तीति सूचयन् स्वमंडलीमंडनायमानश्रीराधिकावशगत्वम् आहु: **राधालोचन** इति. **राधालोचनकुवलयमोदन** प्रमोदकर. एतेन अलौकिकभानुत्वं ध्वन्यते. लौकिकस्तु तापजनको अयंतु सर्वेषां तन्निवारकइति अलौकिकत्वं. अथवा स सर्वदा उष्मरश्मिरेव अयंतु अधिकारिभेदेन उभयविधोपि इत्यपि अविरोध:.

कामवरद!

नत्वेवं रूपगुणशीलत्वं मयि वर्णितं चेद् अग्रे दास्याम्येव अधुनैव का त्वरा इति चेद् आहु:. **कामवरद** इति. त्वं **कामवरदो** असि. यदैव भक्तानां प्रचुरकामना जायते तदैव तेभ्यो वरं ददासि तन्मनोरथं पूरयसि.

यद्वा कामे सति कामनायां जातायां **वरं** भर्तारं सर्वसाधारणं गतिर्भर्ता **''स वै पति: स्याद्''** (भाग.पुरा.५।१८।२०) इत्यादिवाक्यै: विशेषेण अस्माकं **''मन्नाथं मत्परिग्रहम्''** (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इति भगवदुक्त्यैव च **वरपदस्य** शक्ति: त्वय्येव इति त्वमेव **वर** इति स्वस्वरूपं ददासि. अतो अधुना अतिप्रचुरकामनाजातेति सर्वथा तद् दातव्यं इति भाव:.

यद्वा पदत्रयम् इदम्. तथाच **राधालोचन** तस्यामेव आलोचनं ज्ञानं यस्य; सएव तस्मिन् वा यस्य स तथा. अग्रे तस्याएव कुवलयदार्ष्टांतिकीभूत यावद् अंगानाम् **मोदन:** प्रमोदकर:. शिष्टं पूर्ववत्. अथवा तस्मिन् स **प्रमोद** तदर्शनएव. तेनैव वा **काम** इच्छा अनंगो वा क्रमेण यस्येति **कुवलयमोदनकाम** इति. अग्रे **वरद;** सर्वाभीष्टवरद इति अर्थ:.

यद्वा **राधालोचने** कुवलयमोदने भानुभूते सर्वप्रकाशके नेत्रीभूते वा यस्य इति तथा. एतेन तत्कृपावलोकनसांमुख्यएव तव सर्वं याथा तथ्येन प्रकाशते अन्यदातु अन्यथैव. तदुक्तं गीतगोविंदे **''वहति मलय''** (गी.गो.५।१०।१) इत्यत्र **''दहति शिशिरमयूरव''** (गी.गो.५।१०।२) इति.

अग्रे **कामः** कंदर्पः तमेव **वरत्वेन** ददासि.

यद्वा **तल्लोचनकुवलयमोदनकाम** एतेन यथा विषमशरदर्शने आविर्भाव च इतरस्त्रीनयनप्रकाशः तथा त्वद्दर्शनेन स्वामिनीनयनारविंदविकाश इतिभावः. तेन अस्माकं विशेषतः तस्याः च नयनसरोजनूंषित्वदर्शनएव प्रकाशंते न अन्यदा इति सूचितं. **कामोपि** लौकिको न अस्मासु किंतु त्वद्रूपएव इति निर्दोषत्वमपि.

यद्वा तस्याः तन् **मोदन**एव **काम इच्छा** यस्य सः तथा. कदा वा अहं गत्वा तन्नयने विकसिते करवाणि इति सततमेव मनसि कुर्वन् तिष्ठसि. तदधुना कथं विलंबसे इति प्रार्थना. किंच, न केवलम् अस्माकमेव इष्टदः किंतु साधारणत्वेनापि त्वदंगसंगः वरो दातव्यम् इति तात्पर्यम्.

यद्वा तस्या **लोचन**योः **कुवलयः** तद्वत् शैत्यकरः. अग्रे **मोदनकामवरद**. अत्र अयम् अर्थः. केवल **वरद**त्वे **''आंतरं तु परं फलम्''**(सुबो.का. १०।२६।५) इति न्यायेन तस्यापि फलत्वेन **वरत्वात्**. **कामवरद**त्वे तु कामस्यापि संयोगवियोगात्मकत्वेन उभयः. यथापि तद् देयमेव इति मनुषे चेद् न; यतो अस्माभिः तथैव वस्तु यस्य **मोदनकामवरद** इति **मोदनः** संतोषकरो यः **कामः** संयोगात्मकः तमेव **वरत्वेन** ददासि इति. (...)

अंजनरजनीप्रकटतारावृताधरामृतस्यन्द !

अंजन इति **अंजनमेव** रजनी तस्यामेव प्रकटा इति. त्वम् अस्मन्नयनयोः अंजनरजनीवत् यथा सर्वदा आविर्भवसि तथा अधुनापि तयोः त्वं प्रकटएव चेद् भवसि तदैव अस्मन्मनोरथः सिद्ध्यति इति भावः.

अथच. ननु अंजनस्य श्यामत्वाद् रजनीत्वमात्रं संभवति परं तत्संबंधि अन्यत् सर्वम् अपेक्षितं तत्कुत्र इति चेद् आहुः **तारा** इत्यादि. चंद्रः

त्वमेव तत्र अमृतं तवैव अधरामृतं, तारात्वम् अस्मद्लोचनानामेव. अथवा तत्रापि भक्तसहितएव आविर्भवसि इति ताएव **ताराः**.

यद्वा अंजनरजन्यां तमिस्रायां प्रकटा; गृहाद् निकुंजम् आगता या **तारा** गोपी तया आसमंताद् वृत मिलित इति तथा. तमिस्राभिसारिकया सह अंधकारएव रमणे कोपि महान् सुखविशेष उत्पद्यते इति तथा. अयम् अर्थः प्रकाशे चाक्षुशप्रत्यक्षयोः दंपत्योस्तु परस्परं सौंदर्यचातुर्यविलासादिषु; विभावकादिषु च मनः संयुज्यते. तदभाववति अंधकारेतु केवलं रसएव इति अनुभवैकवेद्यगूढाभिसंधिः. अतएव पूर्णरसावस्थायां स्वभावात् स्वतएव अक्षिमुद्रणं जायते. अग्रेपि अतएव **अधरामृतस्यंद !** इति संबोधनम्. धरासंबंधि अमृतं धरामृतं न धरामृतम् **अधरामृतं** तत्स्यंद इति. **'धरा'** इति उपलक्षणमात्रं. वस्तुतस्तु त्रिलोकीसंजातसद्वस्तुमात्रमपि एतत्तुलनां न आप्नोति. तथाच सर्वतः अधिकालौकिकापूर्वामृतवर्षिन् इति अर्थः. एतत् सर्वम् अभिसंधायएव जयदेवेन लौकिकरसस्वरूपम् **''आश्लेषादनु''** (गी.गो.५।११।१२) इति श्लोके...

यद्वा, **अंजने**ति भिन्नसंबोधनम्. एतेन यथा तदंतर्बहिश्च एकरूपं तथात्वं मलिनाशयोपि इति भावम्(?). एवंभूतो यो अस्मन्नेत्रभूषणीय सएव इत्यपि ध्वनिः. अग्रेपि विशेषणत्रयं पृथगेव. तथाच रजन्यां प्रकटः संपूर्णरात्रिरसभावनायां प्रकटइव अनुभूत इति तथा...

यद्वा, तस्यां स्वप्नादिद्वारा प्रकट इति. तत्रापि... ताराभूताभिः गोपीभिः आवृतः तापि साक्षिभूताः सन्ति अत्र इति हृदयम्... अधरामृतस्यंदोपि अभूः तद् वयम् आलीढतावकरसाएव वदामः. नहि अत्र प्रत्यक्षे प्रमाणान्तरापेक्षा... ननु स्वाप्निकादिके कथं प्रत्यक्षम् इतिचेद्, न; भगवद्रसशक्तेः अलौकिकत्वेन लौकिकोपपत्त्यप्रमेयत्वेन यथा वेणुद्वारा ताः प्रभृति जड़ांतेषु रसपूरणम् एवमेवं स्वप्नादिष्वपि इति न अनुपपन्नं किञ्चित्. अतएव **''त्वयाभिरमिता''** (भाग.पुरा.१०।२६।३६) इत्यत्र आचार्यैरपि उक्तं

"**स्वप्नादिद्वारा**" (सुबो.) इति.

यद्वा, **रजनीप्रकट** यद्यपि त्वं रजन्यामेव प्रकटोसि; रसिकशिरोमणित्वेन परं दिवसेतु साधुत्वेनैव तथापि अधुना ताराभिः अस्माभिरेएव आवृत; आवृतो भविष्यसि इति अर्थः. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा इति न्यायेन तथा... अतएव पूर्वं 'कुवलयमोदन!'इति संबोधनम् उक्तम्. यथा स लौकिकोपि भानुः कुवलयानि मोदते परं केनापि ज्ञायते न कदा वा कथं वा मोदयते इति. तथा त्वमपि सर्वाविदितो भविष्यसि इति आशयेन.

यद्वा, तस्यां स्वप्नानिद्वारा प्रकटेपि ताराभिः अस्माभिः आवृत; अमिलित इति तथा. तथाच अत्र तस्यां प्रकटश्च; तारावृतश्च इति द्वन्दो ज्ञेयः. अत्र अयम् आशयः : यद्यपि त्वं स्वप्ने प्रकटीभवसि तथापि तत्रापि अस्मदालिंगितो न भवसि परं दूरएव तिष्ठसि; तथासति का वार्ता अग्रे रमणाशायाः इत्येवम् अस्मदुपेक्षायां कोवा हेतुः? इति भावः. तथा तथा त्वत्प्राकट्यमपि अधुना अस्मद् हृदयारूढं सद्दुःखदमेव भवति रूक्षसकक्षत्वानुसंधानाद् इति शेषः.

यद्वा, कर्मधारयो अत्र. तथाच तस्यां प्रकटश्चासौ तया अमिलितश्च इति तथा. अयम् अर्थः. त्वं स्वप्नेपि प्रकटीभूय अस्मद् परिरंभितो न भवसि. यतो निद्रायाम् आगतायामेव खलु स्वप्नसंभवः सैव कदापि नायातीति भावः. यथोक्तं केनापि "**या पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्याः ताः सखि! योषितः अस्माकं तु गते कान्ते गता निद्रापि वैरिणि**" (सुभा.हारा.१९८२) इत्यत्र गते इत्यस्य क्षणमात्रेपि नेत्रागोचरीभूते इति अर्थो ज्ञेयः. अथवा स्वरभेदोत्र.

तत् किम् इति आकांक्षायाम् आहुः **अंजन** इत्यादि संबोधस्पंदेत्यतिमेन.

तथाहि हे अंजनीभूतायां; सर्वनेत्रविकारनिवारणक्षमायां; रजन्यां प्रकट;

प्रादुर्भूत इति तथा. धन्या सा रजनी यस्यां त्वं प्रकटः तस्यां जातायामेव खलु तत्र त्वत्प्राकट्येन अस्मन्नेत्राणां दोषनिवृत्तिः च जायते इति भावः... अपिच **अधरं** तुच्छम् **अमृतं** यस्माद् इति तादृशः. एतेन अत्र अबाह्यतः पेपीयमानोपि त्वम् उत्तरोत्तरम् अपूर्वापूर्वरुचिरोचक इति अस्माभिः मुहुःमुहुः प्रार्थ्यसे इति सूचिम्...

इति श्रीबालकृष्णात्मजश्रीद्वारकेशात्मजश्रीगिरिधरकृता
'विधुमधुरानन'पदव्याख्या सम्पूर्णा

एवं विवृतभावोयं व्रजेशः स्फुरतान्मयि॥
अंगीकरोतु सेवां चमत्कारादिकृतां सदा॥१॥
यद्यपीति संगोप्या भावाः प्रोक्ता यथामति॥
मयाथाप्यत्र मे शक्तिः कारणं नेत्यदुष्टता॥२॥
तथाप्यज्ञातभावानां वाक्यानां नोचिता यतः॥
विवृतिः तत् क्षमंतु श्रीविठ्ठला ह्यपराधकम्॥३॥
श्रीविठ्ठलात्मजातश्रीबालकृष्णाभिधप्रभून्॥
नमामि तातचरणं तथा श्रीद्वारकेश्वरम्॥४॥

उभयोरपि मातृकयोः यद्यपि 'इतिश्री' नोपलभ्यते
तथापि कर्तृप्रत्यभिज्ञानार्थं योजिता

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥

॥ प्रेङ्खपर्यङ्कषट्पदीविवृत्तिः॥

श्रीकृष्णं श्रीमदाचार्यं नत्वा श्रीविट्ठलं प्रभुम्॥
भावैस्तदीयैः सरसैः वर्ण्यते तत्कृतिः स्फुटा॥१॥

अथ श्रीमद्विट्ठलेश्वरचरणाः स्वस्य अग्निकुमारत्वेन[१] लीलामध्यपातित्वात् फलरूपाऽन्तरङ्गलीलानुभवार्थम् अधुना प्राकट्यात् फलविलम्बज्ञापक - बाललीलाक्रमलीला - प्रदर्शनजनित - विरहोत्कट- भावप्राचुर्यकातरतया वर्णनार्थं लीलावलम्बने प्रकटभावरूपसाक्षात्कारेऽपि साक्षात्सङ्गमरसानुभवे विलम्बासहिष्णुत्वेन यदैव भगवता अवकाशो दत्तः, अवकाशरूपन्तु "**भक्तानां अवकाशार्थं भगवान् बाललीलया, यथा सञ्जातनिद्राक्षो निद्राम् अनुकरोति हि**" (   ) इति सम्प्रदायविदः. अतः तदैव मुख्यश्रुतिरूपाभिः प्रार्थिताः स्वदास्यप्रार्थनापूर्विकाः दास्य-पालनयोः परस्परहेतुहेतुमद्भावोक्त्या दास्योपनयनं विना पालनं न भवति इत्यपि आशयज्ञापिका[२] स्वस्यापि समाजस्थितत्वात्. समाजफले मन्त्रवत् साधनीभूताः "**चिरं पाहि**" (भाग.पुरा.१०।५।१२) इतिवद् या आशिषः ताएव पूर्वानुभूत-तदुक्तानुवादरूपत्वेन स्वीयेषु दयया स्वभावबोधनार्थं प्रकाशयन्ति **प्रेङ्ख** ... इत्यादि **पालय** ... इत्यन्तम्. तदर्थं तदनुवादमेव आहुः **प्रेङ्ख** इति.

॥ प्रेङ्खपर्यङ्कशयनम्॥

प्रेङ्खयुक्तं यत् **पर्यङ्कं** तस्मिन् **शयनं** यस्य इति. अत्र '**शयन**'पदेन "**यथा पुरि शयनं पुरुषस्य उच्यते न तु निद्रा**" (सुबो.का.टि.१०।१।१) इतिवद् अन्यत्रगमनरहिता स्थितिरेव उच्यते नतु निद्राकरणेन[३] निद्रा इति. तत्रापि आन्दोलनपर्यङ्के शयनोक्त्या तत्क्रियाविशिष्टविविधसम्भोगादिः सूचितः. तत्र सम्बोधनेन अभिमुखीकरणं[४] तत् शयने न भवतीति विशिष्टम् ईक्षणं

प्रकटय इति प्रार्थना. कीदृशम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **चिर**... आदि **प्रेमायनान्तम्**.

चिरविरहतापहरम् अतिरुचिरम् ईक्षणं [५]**प्रकटप्रेमायनै॥१॥**

चिरकालीनो यो **विरहः** तेन यः **तापः** तं हरतीति तत्. तत्र विरहस्य चिरकालीनत्वे अथच अनुवादेन प्रार्थनायाम् अयम् आशयः. अत्र स्वस्य [६]वंशप्राकट्यं निजजनोद्धारार्थं श्रीमदाचार्यमार्गीयप्रकार-प्रचारकरण-सुबोधिन्यादिषु स्वतन्त्रादिप्रकारेण विस्ताराद्यनेककार्यार्थं पुम्भावप्रदर्शनपूर्वकप्राकट्यात् रात्रौ अन्तरङ्गगोपेष्विव प्रहरचतुष्टयजनितविरहस्यापि "**त्रुटिर्युगायते**" (भाग.पुरा.१०।२८।१५) इतिवत् चिरकालीनत्वं तथा तत्कार्यतापस्यापि. ततः दिवसे हरणार्थं प्रार्थना. अथवा स्वस्य आलम्बनत्वात् नित्यलीलास्थितत्वेन सर्वदा सङ्गमरसानुभवएव स्थितः. यदा भगवतः स्वस्वरूपानन्दानुभवेच्छा हृदि अभूत् तदा प्रभून् समाजाद् भिन्नं विधाय ज्ञानशून्यानां स्वीकरणयोग्यावतारप्रकारेण प्रकटितवान्. यतः यत्र पुनः लीलायाः चिकीर्षितत्वं तत्र पुम्भाव-स्त्रीभावश्च अपेक्षितः. परम् इयान् विशेषः— तत्रतु तथैव लीलायाः चिकीर्षितत्वात् तासां पुम्भावो व्रतवरदानप्रसङ्गे तासु स्थापितः परं गुप्तः स्त्रीभावस्तु प्रकटः. अत्रतु अनेनैव प्रकारेण लीलायाः विचारितत्वात् सः भावो गुप्तः अयन्तु प्रकटः इति विशेषः. परन्तु यथा तासां प्राकट्यज्ञानं कालाज्ञानञ्च स्थितम् अतः सएव प्रकट इति निर्धारितत्वात् यशोदायाः सुतोद्भवं श्रुत्वा आत्मसमर्पणार्थमेव "**आत्मानमेव भूषयाञ्चक्रुः**" (भाग.पुरा.१०।५।९) इति उक्तम्. तथा अत्रापि अवतारहेतुना[७] सङ्गमरसानुभवज्ञानं स्थितं परं कालाज्ञानम् अतः विरहस्य चिरकालीनत्वात् शीघ्रं सङ्गमरसानुभवार्थं प्रार्थना इति अर्थः.

ननु तापहरणार्थम् ईक्षणप्रार्थनेति तत्सम्पत्तावपि कदाचित् तदभावे अवलम्बाभावान् मनसः चाञ्चल्ये पुनः तदवस्थेति व्यर्थं प्रार्थना इत्यत आहुः **अतिरुचिरम्** इति. अत्यन्तं रुचिरं [८]सर्वसौन्दर्यासंवलितादिभावयुक्तं

मनोहरम् इति यावत्. अत्र अयम् आशयः : रात्रौ विरहेण लीलास्मरणे लीलाविशिष्टस्वरूपानुभावो[९] हृदि अभूत् तत्र ये-ये भावा उत्पन्नाः तेष्वपि **"यस्य मनो यत्र संलग्नम्"** इति न्यायेन येषु मनः संलग्नं तत्रैव रुचिरत्वभानमिति मनसः चाञ्चल्याभावः इति अर्थः. किञ्च, यतः **ईक्षणं** ज्ञानरूपं, ज्ञानन्तु चाञ्चल्यनिवर्तकं भवत्येव. अथवा, एः कामस्य ईः लक्ष्मी[१०] शोभा तस्याः ईक्षणं ज्ञानं यत्र. अथवा या ई लक्ष्म्याः क्षणं सुखं सुखरूपम्. अनेन स्वसमानशीलव्यसनानां तदंशत्वात् तस्याः सुखरूपे अंशानामपि सुखरूपम् इति अर्थः. अथवा याः लक्ष्म्याः सुखं यत्र इति वा अर्थः. ननु एते भावाः प्रेमास्पदे प्रेम्णि जाते तदनन्तरं भवन्तु नाम नतु सर्वसमे सर्वत्र उदासीने ईश्वरे कर्तुं शक्याः. ततश्च रात्रिलीलास्मरणादिकम्.

अथच ईक्षणादिकं सर्वम् असङ्गतम् इत्यतः आहुः **प्रेमायन...** इति. **प्रेम्णः अयनं** स्थानम् एकम् अयमेव, **"आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति"** (बृह.उप.२।४।५) इति श्रुतेः भगवतः आत्मरूपत्वाद् मुख्यं **प्रेमायन**त्वं भगवत्येव अन्यत्रतु आभासएव इति अर्थः. अतएव **"आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात्"** (भाग.पुरा.१०।४४।२९). इति मूलपूरणे[११] [१२]सप्तचत्वारिंशाध्याये श्रीमदाचार्योक्तेश्च इति भावः.

ननु एवं तीव्रभावयुक्तानां भक्तानान्तु एतादृक् विलम्बज्ञानेन दशम्यवस्थैव भवेत्[१३] न तु प्रार्थनादिसामर्थ्यम् इत्यत आहुः **तनुतर ...** इत्यारभ्य **तावकीनाम्** इत्यन्तम्.

तनुतरद्विजपंक्तिमन्ति ललितानि हसितानि तव वीक्ष्य गायिकानाम्॥
इयदवधि परमेतदाशया समभवज्जीवितं तावकीनाम्॥२॥

तनुतरा सूक्ष्मतरा या **द्विजपंक्तिः** दन्तपंक्तिः ताम्. अथच तस्याः **अन्ति** समीपे यानि **ललितानि** मनोहराणि **हसितानि** हास्यानि तानि **वीक्ष्य इयदवधि तावकीनां** गायिकानां जीवनं समभवत्. अत्र [१४]दन्तानां

स्नेहकलारूपत्वात् स्नेहो रसो रत्याख्यः स्थायीभावः **"स्थायीभावो रसः स्मृतः"** (द्र.भ.ना.शास्त्रम्.७।८). रसस्तु शृङ्गारएव. तेन अत्र **तनुतर**त्वोक्त्या [१५]भावस्यैव **तनुतर**त्वं बोध्यते. [१६]तत्कालिकोत्पन्नो रसभावः इति अर्थः. तत्रापि [१७]**'द्विजो'**क्त्या भावस्यैव द्विजन्मत्वं संयोग-विप्रयोगात्मकत्वं ज्ञाप्यते. तत्र यदि तात्कालिकोत्पन्नोभयविधो भावो अंकुरभावेनैव शमतां प्राप्नोति चेद्, **इयदवधि** जीवनं कथम्? इति आकाङ्क्षायां **'पंक्तिम्'** इति उक्तम्. पंक्त्योक्त्या अनवच्छिन्नत्वं सूच्यते. उत्पन्नो [१८]रसभावो नित्यो, नतु तत्कालीनः इति अर्थः. ननु भवद्भिः भगवद्रूपे भगवत्कृतज्ञापनम्[१९] उक्तं परं भक्तस्य ज्ञापितार्थस्य सर्वांशेन ज्ञानं न भवति चेद् अग्रिमकार्यं न उपपद्यते इति ज्ञापनं व्यर्थमेव इति आशयेन आहुः **अतिललितानि हास्यानि वीक्ष्य** इति. ज्ञापकस्य भावसमीपे स्थितत्वात् **"हासो जनोन्मादकरी च माया"** (भाग.पुरा.२।१।३१) इति वाक्याद् उन्मादकरीमायायाः स्नेहभावस्य निकटे स्थापितत्वात् तत्रापि तस्या मनोहरत्वाच्च भगवद्विषयकस्नेहेन आसक्त्या मोहोन्मादश्च भवति. उन्मादे पुनः **"सा सा सा सा जगति सकले"** (अम.शत.१०५) इति न्यायेन सर्वत्र तस्यैव [२०]भानं न तु केनापि अंशेन अज्ञानम् इति अर्थः. अथवा **"ननु अधिकं प्रविष्टं नतु तद्धानिः"** इति न्यायेन स्थायिभावात्मके भगवति अनवच्छिन्नरसभावदर्शने [२१]सङ्गमाभावे प्रत्युत अधिकोत्तरदलानुभवे स दोषः तदवस्थेति वीक्षणम् अनतिप्रयोजनम् इति चेत् तत्र आहुः **अतिललितानि हसितानि वीक्ष्य** इति. **हसितानि** इति **"हासो जनोन्मादकरी च माया"** (भाग.पुरा.२।१।३१) इति उक्तत्वात् हास्यदर्शनेन **"मुहुरतिस्पृहं मुह्यते मनः"** (भाग.पुरा.१०।२८।१७) इतिवद् नवम्यां मोहावस्थायामेव स्थितिः नतु दशम्याम् इति भावः. अथवा, **तनुतरद्विजपंक्तिमन्ति हास्यानि** इति सूक्ष्मदन्तयुक्तानि हास्यानि इति वा अर्थः. शेषं पूर्ववत्.

ननु कार्येच्छायां कारणसद्भावे कार्यम् आवश्यकमिति पूर्वावस्थासद्भावे उत्तरस्याः प्रतिबन्धे को हेतुः? इत्यतः आहुः **गायिकानाम्** इति. गानमेव दशम्यवस्थानिवर्तकम्, **"तवकथामृतम्"** (भाग.पुरा.१०।२८।९) इत्यत्र तथा

निरूपितत्वात्. ननु तदा गानेनैव चारित्यार्थ्यम् अस्तु किं वीक्षणादिप्रार्थनया? इत्यतः आहुः **इयदवधि परमेतदाशया** इति. यावत्पर्यन्तं स्थायिभावात्मकस्य भगवतः साक्षात्कारो नासीत् तावत्पर्यन्तं गानमेव जीवनसाधनम्. तस्मिन् जातेतु संगमएव. अतः **एतदाशया** वीक्षणस्मिताद्यनेकविधलीलानुभवाशया **इयदवधि** एतावत्पर्यन्तं कथञ्चित् गानेन जीवनम् अभूद् इति अर्थः. तदभावे वीक्षणाद्यभावः इति आशयः.

ननु [२२]भवदर्थे आत्मारामत्वादिधर्मपरित्यागे को हेतुः? इत्यतः आहुः **तावकीनाम्** इति. सर्वात्मभावेन त्वदीयानाम् इति अर्थः. अन्यथा तोके तथाभावो न उत्पद्येत. प्रतिज्ञामपि पालय **''ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्''** (भाग.पुरा.१०।४३।४) इति. **''मन्नाथं मत्परिग्रहम्''** (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इति च.

ननु प्रतिज्ञापालनं सत्यं परम् अवस्था बाधिका इत्यतः आहुः **तोकता** ... इत्यारभ्य **करणम्** इत्यन्तम्.

तोकता वपुषि तव राजते दृशि तु मदमानिनीमानहरणम्॥
अग्रिमे वयसि किमु भाविकामेऽपि निजगोपिकाभावकरणम्॥३॥

तोकता अतिबाल्यं ये [२३]तल्लीलया परिगृहीता तेषाम् अर्थे **तव वपुषि राजते** प्रकटीकृता, न क्रियाज्ञानादिषु. यतः तेषां [२४]तल्लीलादर्शनेन योग्यतैव **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते''** (भग.गीता.४।११) इति वाक्यात्. **''मल्लानाम् अशनिः''** (भाग.पुरा.१०।४०।१७) इति **''तावात्मासनम् आरोप्य''** (भाग.पुरा.१०।७९।३६) इति. नन्दादिभिः दृष्टं कृतमपि तथैव इतिवत्. **तु** पुनः ये अन्तरङ्गलीलायां परिगृहीताः **''प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा''** (भाग.पुरा.१०।८।२४) इत्यनेन [२५]उक्ताः फलार्थिनः तेषाम् अर्थे वपुष्येव, दृशि दृष्टौ सौभाग्यमदयुक्तानां मानिनीनां मानहरणकार्यं मानप्रसाधनलक्षणवीक्षणानि. यथा **''भुजदण्डयुगं विलोक्य... [२६]दास्यः भवाम''** (भाग.पुरा.१०।२६-

।३९) इति तथाकार्यं राजते. अतः तोकतायामपि यत्र उभयभावप्रतीतिः तत्र **भाविकामे अग्रिमे वयसि निजगोपिकाभावकरणं किमु** किं वक्तव्यम्? इति अर्थः. निजाः अनन्यपूर्वाः या गोपिकाः तासां भगवता दत्तो यो भावः **''प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः''** (भाग.पुरा.१०।१९।२३) इति येन वशीकृताः चलितुं न शक्ताइति तस्य **करणम्** उत्पादनं कैमुतिकन्यायेन उक्तम्. अथवा, निजो यो गोपिकासु भावः स्वरूपात्मकः स्थायिभावः **''स्थायीभावो रसः स्मृतः''** (द्र.भ.ना.शास्त्रम्.७।८) इति वाक्यात्. **''रसो वै सः''** (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या च स्थायिरसभावस्य उत्पादनं किमु इति भिन्नतया तस्य उत्पादनं न प्रयोजनाय. यथा कार्ये जाते कारणस्य अर्थापत्तिप्रमाणेन सद्भावाद् भिन्नतया कारणनिरूपणं [२७]व्यर्थमिव व्यभिचारिभावानां मानहरणादीनां जातत्वात् स्थायिभावोत्पादनम् आक्षेपलभ्यम् इति दिक्.

अथवा **तोकता** इत्यारभ्य **करणम्** इत्यन्तं. **तव तोकता. तव**इति अनिर्वचनीया सर्ववपुषि स्वधर्मविशिष्टा तोकज्ञान-तोकक्रियाविशिष्टा राजते. परं दृशि तु **मदेन मानिनीमानहरणं** यथा भवति तथा **राजते**. अतः [२८]अवस्थासान्निध्ये विरुद्धकार्यदर्शनात् अवस्थाविरुद्धं तोकतायामपि एवं भावः साधनविरुद्धं प्रणिपातादिकं विना दृष्ट्यैव मानहरणम्. तत एवं कार्यदर्शनात्. **अपि**इति सम्भावनायाम्. **अग्रिमे वयसि कामे** जाते **गोपिका**नां ये **भावाः** हास्यवचनदृष्ट्यादिभिः ज्ञापिताः तेषां **भावि निज**करणं अंगीकरणं **किमु** किं चित्रं भविष्यति इति अर्थः.

ननु **तोकता वपुष्येव राजते** न क्रियाज्ञानादिषु इति उक्तम्. अत्र तु तोकस्य उत्थानासमर्थ्यस्य चरणोन्नमनमात्रं यथा तथा क्रिया दृश्यत इति आशंकायाम् आहुः **व्रजयुवति...** इत्यारभ्य **मृदुलम्** इत्यन्तम्.

व्रजयुवतिहृद्य-कनकाचलान् आरोढुम् उत्सुकं तव चरणयुगलम्॥
तेन मुहुरुन्नमनभ्यासमिव नाथ ते सपदि कुरुते मृदुलमृदुलम्॥४॥

व्रजयुवति इति. गच्छति इति **व्रजः**. स्वभावतः चलः तत्सम्बन्धिन्यो

या **युवत्यः** तरुण्यः ता स्वभावतएव अवस्थायां चलाः. तत्रापि तासां हृदि भवाः चञ्चलस्थानएव स्थिताः **कनकाचलाः** तान् आरोढुम् **उत्सुकं** उत्कण्ठितम्. अथवा, **हृद्याः** मनोहराः **कनकाचलाः** तान् इति अर्थः. **कनकाचलाः** मोहकरूपकनककान्तिसम्भिन्नाः भगवन्तमपि मोहयन्तीति तान् **आरोढुम् उत्सुकम्** उत्कण्ठितम्. बहूनाम् आक्रमणम् उभाभ्याम् अशक्यमपि प्रत्येकं पर्यायेण आक्रमणे द्वयोरेव आक्रमणम् अतएव चरणयुगलम् इति उक्तम्. **तव**इति रसात्मकभक्तिदातुः अस्मदर्थं प्रकटस्य इति वा. येन मोहेन उत्सुकं तेन **मुहुः** वारं-वारं उन्नमनम्. कुतः? **"कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्"** (भाग.पुरा.१०।२८।७) इति प्रार्थना अग्रे सत्या कर्तव्यैव. **मृदुलमृदुलं** यथा भवति तथा अभ्यासमिव कुरुते. बाल्यावस्थाभ्यासेन विद्या परिनिष्ठिता भवतीति अभ्यासः. अथवा, **अभ्यासमिव कुरुते** नतु अभ्यासः. वस्तुतस्तु मोहेन उत्सुकं वस्तुप्राप्त्यर्थं चलं भवत्येव. अतएव **हे नाथ!** इति सम्बोधनम्. तस्यैव तदारोहणयोग्यत्वात्. **सपदि** इति साम्प्रतम् अस्मिन्नेव काले, नतु निरन्तरम् अभ्यासः. अथवा, **मृदुलमृदुलं** चरणस्यैव विशेषणम्. तेन कर्कशेषु स्तनेषु **"भीताः शनैः प्रिय दधीमहि"** (भाग.पुरा.१०।२८।१९) इति वाक्यात् कठिनस्थलारोहणन्तु मृदुलमृदुलस्य अत्यशक्यम्. अतः तेषां च काठिन्यातिशयं च द्योतयितुम् अभ्यासः. **इव**इति उत्प्रेक्षायाम्. अन्यच्च, आरोहणन्तु[२९] आलम्बनरूपाणां रसाधिक्ये पुम्भावाद् अनिर्वचनीयबन्धविशेषे भवति. स तु तदधीनइति अधीनीकरणार्थम् अभ्यासः. फले स्वस्वरूपदानानुकूलक्रियादर्शने फलेच्छूनां फलाधीनता भवत्येव इति भावः. **इव**इति पूर्ववत्. किञ्च, [३०]चलानाम् आक्रमणम् अत्यशक्यम्. कथं? चलाधारत्वात् अचलानामपि चलत्वम्. तेन तामसाद् राजसा जाता न निर्गुणाः. अतः आधाराणां चञ्चलता भगवता भक्त्या स्वीकृतेति निर्गुणा भविष्यन्तीति **अभ्यासमिव** इति अर्थः.

ननु भवद्भिः तोकक्रियाशयः उक्तः परन्तु लोके **"यथा वेशः तथाकृतिः"** प्रसिद्धः (यथा वेशः तथा कृतिः प्रसिद्धाः) अतः प्रार्थिते दाने वेशएव बाधकः इति चेत् तत्र आहुः **अधि** ... इत्यारभ्य **रसितम्**

इत्यन्तम्.

अधिगोरोचनातिलकमलकोद्ग्रथित-विविधमणिमुक्ताफलविरचितम्॥
भूषणं राजते मुग्धतामृत - भरस्यन्दिवदनेन्दुरसितम्॥५॥

गोरोचनातिलकमधि इति **अधिगोरोचनातिलकम्**. अत्र **अधि**इति सामीप्ये अधिकारे वा अधिकारे अधिकृत्य इति अर्थः. उपरिभागे इति यावत्. सामीप्ये [३१]प्रकरणानुरोधाद् यथाप्राप्तसामीप्यं ग्राह्यं तथा च उपरिभागे इत्येव अर्थः फलितः. अत्र कुङ्कुमादिना तिलकसम्भवेऽपि गोरोचनस्य दृष्टिदोषनिवारकत्वात् [३२]तथा उक्तम्. तस्मिन् **अलकोद्ग्रथितम्**. अथच **विविधा** ये **मणयः** पद्मरागादयः मुक्ताफलानि च तैः **विरचितं** निर्मितं **भूषणं राजते** दर्शनार्थं परन्तु तत्स्वरूपं तु **मुग्धतायाः** अतिबाल्यस्य सौन्दर्यधर्मरूपं यद् **अमृतं** तस्य **भरः आधिक्यं निचयः** अतिशयः अधिकामृतम् इति यावत्, तस्य **स्यन्दी "स्यन्दू प्रस्रवणे"** (पाणि.धा.पा) निर्झरणकर्ता एतादृशो यो **वदनेन्दुः** तस्य **रसितं "भावे इतच्"** स्यन्दमानरसएव. [३३]**'मुग्ध'**शब्दस्तु अतिबाल्ये अथ च सौन्दर्ये. तत्र प्रथमे अर्थे प्रकटार्थो **'मुग्ध'**शब्दो व्याख्यातएव. द्वितीये अर्थे व्याख्यायते. **मुग्धता** कोटिकन्दर्पलावण्याधिकता तस्याः हेतोः उत्पन्नं दर्शन-स्पर्शन-भाषणादिना यद्[३४] **अमृतं** मोक्षतुल्यः सुखविशेषः तस्मादपि **भरः**. चतुर्विधमुक्तेः सकाशादपि अतिशयः तस्य **स्यन्दी** अन्तःपूरणादपि उच्छलितरसकर्ता एतादृशो यो **वदनेन्दुः** उद्बोधकः यस्य दर्शनादेव पूर्वोक्तं सर्वं भवतीति एतादृशस्य **इन्दोः रसितम्**. रसएव **रसितम्**. **वदनेन्दौ** रसः सञ्जातो अनेन इति वा अर्थः. आद्यव्याख्याने [३५]पूर्वार्धार्थः स्पष्टः. जात्या स्वरूपवर्णनम्. द्वितीयव्याख्याने पूर्वार्धस्य अयम् आशयः. **अधि** इति [३६]पूर्वव्याख्यातएव. गोरोचनातिलकं गोरोचनस्य आसमन्तात् तिलकम्. आसमन्ताद् इति अतिशयेन यत्कार्यार्थं निर्मितं तत्फलपर्यवसायित्वं सूचितम्. शृङ्गारादौ मृगमदादिना मकरिकरिपत्रतिलकाद्युक्तं पुनः तदनुक्त्वा यद् गोरोचनम् उक्तम् तद् वशीकरणशास्त्रे तत्तिलकस्यैव प्रसिद्धत्वात् सर्वांशेन तत्तिलकमेव उक्तम्. तेन येषु-येषु भक्तेषु राजस-तामसेषु **"घ्नतीव**

ऐक्षत् कटाक्षेपै:'' (भाग.पुरा.१०।२९।६) इत्यादिभावापन्नेषु यत्र यत्र भगवन्मन:संलग्नं तत् तन्मनोवशीकरणार्थं तिलकम् इति. पुन: तम् अधिकृत्य तस्याधिकारेण तदनुकूलतयैव स्थिता: भक्तौ परित: चकासमाना मुक्ता जीवा **अलका:** तै: **उद्ग्रथिता:** उत्कृष्टप्रकारेण अनुभवेन **ग्रथिता:** ग्रन्थरूपा अनेकप्रबन्धै: कथिता: विविधा: भक्तिमार्गीयसात्त्विकराजसतामसभावरूप-साधनभूता: तएव **मणय:** तेजोविशेषेण निधिरूपेण चाकचक्यरूपेण च स्थिता:. तेजोविशेषेण अत्युत्कृष्टसाधनवत्त्वम्. अत: सात्त्विकत्वं निधिरूपेण. यथा निधे: सर्वत: रक्षा, तथा अन्यमार्गीयसाधनसाङ्कर्याद् रक्षा. अत: राजसत्वं बुद्धिवैशद्येन विक्षेपकशक्तियुक्तत्वात् चाकचक्यरूपेण तस्य मायारूपत्वात् मोहकत्वम्[३७]. अन्यमार्गीयसाधने दृष्टे सत्यपि एष्वेव आग्रह:, हठधर्मतुल्यत्वात् तामसत्वम्. अतएव विविधानां साधनानां मणिरूपत्वम्. अथच **मुक्ताफलानि** निर्गुणसाधनानि व्रतप्रसङ्गे ''**शुद्धभावप्रसाधित**'' (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इत्यत्र निरूपितानि तै: **विरचितं** निर्मितं भक्तिमार्गीयभावोत्पत्त्यनन्तरम् अग्रे साक्षात्सम्बन्धो भविष्यति इति ज्ञानमेव फलम्. सर्वफलादपि उत्कृष्टत्वात् भूषणरूपत्वम्. अतएव **राजते** रुच्या [३८]दीप्त्यतिशयात् प्रीतिविषयेण राजते. एभि: साधनै: एतादृशवदनेन्दुदर्शनशोभास्व-रूपरसज्ञानं च भवतीति **रसितम्** इति उक्तम्. तथा च अयं वेश: तथा कृति: अस्माकं बाधिका न, प्रत्युत साधिका इति भाव:.

ननु भूषणै: यो वेष: सतु उभयधर्मद्योतक:. तेन तदाशय: समर्थित:. श्रीम**न्मातृचरणै: अञ्जनबिन्द्वा**दिना बालभावाद् दृष्टिदोषनिवारणार्थं कृतो यो वेष: सएव प्रार्थितदाने बाधक: इति चेत् तत्र आहु: **भ्रूतटे** ... इत्यारभ्य **सुखमुपनयन्** इत्यन्तम्.

भ्रूतटे मातृरचिताञ्जनबिन्दुर् अतिशयितशोभया दृग्दोषमुपनयन्॥
स्मरधनुषिमधुपिबन् अलिराजइव राजते प्रणयिसुखम् उपनयन्॥६॥

भ्रूतटे भ्रूप्रान्तदेशे. **'तट'** शब्देन मर्यादास्थापिका भूमि: तेन भ्रुव:

कन्दर्पचापरूपत्वात् तस्य पुष्पमयत्वात् तद्गतोद्वेलरसोदधे: उच्छलिततरङ्गम-र्यादां द्योतयति. तस्यां मातृचरणै: **रचित:** कृतो यो **अञ्जनबिन्दु:** स: शोभातिशयेन यत्र दृष्टिदोषो जायते तत्र दोषं दूरीकरोति. अत्र तु दृष्टिदोषं दूरीकुर्वन् राजते दीप्त्यतिशयेन[३९] शोभातिशययुक्तो भवति. दोषमेव दूरीकरोति इति न किन्तु **राजते** शोभते लोके यत्र अञ्जनबिन्दु: क्रियते तत्र विकृततया शोभा न्यूना भवति. तेन दृष्टिदोषपरिहार:. **अतिशयितशोभया** शोभाहेतुको यो दृग्दोष: तम् **अञ्जनबिन्दु:** दूरीकरोति. अत्रतु अञ्जनबिन्दुना शोभायामपि शोभा जाता. अतएव अतिशय: तेन **अतिशयितशोभया** जनितेन आश्चर्यरसेन करणेनैव अञ्जनबिन्दु दोषं परिहरति. विकृततया दृष्टिदोषपरिहारस्तु द्रव्यान्तरसम्बन्धेनापि भवति. अयन्तु अञ्जनस्य बिन्दु: तेन शोभातिशयावधौ[४०] मुद्रा कृता [४१]इति अन्यत्र शोभैव नास्ति इति भाव:. अथवा, अस्मदादीनां दृग्दोषं दूरीकुर्वन् राजते. यत: प्रभृति एतद्दर्शनं तत: प्रभृति भगवदीयव्यतिरिक्तपदार्थदर्शनाभावनियमेन दोषाभाव:. दोषाभावोपायस्तु अयमेव न अन्योस्तीति अस्मिन् अर्थएव मुद्रा इति आशय:. कथं राजते? इति आकाङ्क्षायाम् **अलिराजइव**. सामान्या ये अलय: ते उत्कृष्ट-निकृष्टपुष्पादिष्वपि सञ्चरन्ति. अलिराजस्तु अनङ्गबाणेषु तत्सदृशपुष्पेष्वेव सञ्चरति, तत्र कार्यक्षममकरन्दत्वात्. अतएव **मधु पिबन्** तत्रापि स्वरसस्थाने **स्मरधनुषि** तेन प्रकटरस: सूचित:. अनेन भगवान् कामरूप:. अत: चापं सज्जीकृत्य स्ववशं कारयित्वा अग्रे अस्माकं मधुपानं कारयिष्यति इत्यपि ध्वन्यते. अतएव प्रणयिनां स्नेहयुक्तानां सुखम् उपनयति. अथवा, प्रणियिनां बाणै: निगृहीता: अत: प्रकर्षेण नम्रीभूता: तेषां सुखमेव करोति नतु निग्रहेण दीनत्वम् इति अतएव **राजते**. तेन प्रार्थितदाने अस्मिन् [४२]वेशे बाधकज्ञानं न भवति प्रत्युत साधकत्वनिश्चयो भवति इति अर्थ:.

एवं पूर्वनिरूपेणन गाने द्विरावृत्तिसहितेन ध्रुवपदेन सहिताभि: षड्कारिकाभि: प्रभो: सर्वाङ्गनिरूपणं कृतम्. अथवा, सार्द्धपञ्चभि: कारिकाभिरेव. यथा ध्रुवपदेन सहितया प्रथमकारिकया शयनक्रिया अथच दृष्टे: निरूपणम्. द्वितीयया द्विज-हासयो:. तृतीयया विग्रह-कटाक्षयो:. तुर्यया[४३]

चरण-तत्क्रियायाश्च. पञ्चमकारिकया वदनेन्दु-सौन्दर्ययो:. षष्ठ्या भ्रुव: स्वरूपशोभायाश्च. अत्र धर्मक्रियासहितानि षडङ्गानि द्वादशाङ्गनिरूपणे उपलक्षणप्रकारेण निरूपितानि. तेन धर्मक्रियासहित: द्वादशाङ्ग: पुरुषो निरूपित:. तेन [44]स्वरूपे कोऽपि धर्मो अस्मदनङ्गीकारे न साधकः किन्तु अङ्गीकारएव सर्वे धर्मा: सर्वाङ्गानि च साधकानीति प्रार्थना सफला.

अथवा, षड्भि: कारिकाभि: षड्गुणा: सप्तमकारिकया धर्मी निरूपित:. तेन षड्गुणविशिष्टो भगवान् निरूपित:. अत्र यथाक्रमो न विवक्षित:. प्रथमया ज्ञानं तत्तु तदैव भवति यदा सामान्यजीवानाम् अथच दैवसृष्टौ उत्पन्नानां जीवानां साधनफलं ज्ञात्वा योग्यं फलं प्रापयति. द्वितीयया यश: तत् तदैव भवति यदा नि:साधनानाम् अनुद्धृतानां जीवानाम् उद्धरणम्. तृतीयया ऐश्वर्यम् तत्तु कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकरणसमर्थत्वम्. यदा साधननिरपेक्षेण अंगीकारं कर्तुं, कदाचित् लौकिकप्रवाहस्फूर्त्तावपि [45]नाशाकर्तुं, स्त्रीशरीराणां सायुज्यमुक्तिमिति अन्यथाकर्तृत्वं प्रकटीकरोति इति चेद्, ऐश्वर्यं भवति. [46]तुर्यया वीर्यम्. तत् तदैव यदा क्षुद्राणां क्षुद्रत्वदोषनिवारणं कृत्वा स्वसमानबलं प्रकटीकृत्य स्वसमानलीलायां यत्र स्वस्यापि भक्ताधीनत्वं तत्र उपवेशयेत्. पञ्चमकारिकया: श्री:. यदा भक्तार्थं कोटिकन्दर्पलावण्याधिकसौन्दर्यं प्रकटयति इति चेत् तदैव श्री शोभा. षष्ठ्या दोषनिवारणेन वैराग्यम्. निर्दुष्टएव वैराग्यं युक्तम् अतो भगवत्सिद्ध्यर्थम् अस्मदङ्गीकारं कुरु इति अर्थ:.

अथवा, "**आत्मना**" (भाग.सुबो.१०।२३।१) इत्यादिना उक्तं पञ्चलीलाभि: सम्बन्धेन रूपप्रतिष्ठानं प्रार्थितम्. क्रमस्तु अविवक्षितो अस्मिन्नपि पक्षे. यथा प्रथमया इन्द्रियै:, लीलाज्ञानेन्द्रियनिरूपणात्. द्वितीयया मनसा, मनोत्साहजनितहासस्य निरूपणात्. तृतीयया शारीरी, अलौकिकविग्रहनिरूपणात्. तुर्यया/तुरीयया प्राणै:, सा प्राणधर्मबलकार्यनिरूपणात्. अग्रिमकारिकाद्वयेन आत्मना सा मुग्धताभरातिशयितशोभानिरूपणेन कोटिमदनलावण्याधिकस्वरूपेण भक्तोद्धारार्थं प्रकटस्य कृष्णस्य आत्मरूपस्य निरूपणात्. एवं धर्म-क्रियासहितसर्वाङ्गै: सर्वै: गुणै: सर्वलीलाभि: सम्बन्ध: प्रार्थित: इति

आशय:.

एवम् अनेकप्रकारै: अनुग्रहं प्रार्थयित्वा उपसंहरन्ति **वचनरचन...** इत्यारभ्य **दास्यम् उपनयन्** इत्यन्तेन.

वचनरचनोदारहास-सहजस्मितामृतचयैर् आर्तिभरमपयन्॥
पालय सदा अस्मान् अस्मदीयश्रीविट्ठले निजदास्यम् उपनयन्॥७॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता षट्पदी
समाप्ता

वचनानाम् अन्योक्त्या हास्यसङ्केतज्ञापनपूर्वकानां रचनाचातुर्येण प्रयोग:. अथवा, **वचना**नि प्रियासु सन्देशरूपाणि **रचना:** शय्यादिरचना: शृङ्गारादिरचना वा आज्ञापनरूपा. अथच **उदारो** यो **हास:** अदेयदानार्थं प्रकट:. अथच **सहजस्मिता**नि मुखसौन्दर्येण फलज्ञापनार्थं स्थितानि नतु मोहनार्थं प्रकटीकृतानि. एतान्येव **अमृता**नि दर्शनश्रवणादेव कालधर्मनिवृत्तिपूर्वकं मोक्षवद् ब्रह्मानन्दतुल्यानन्दविशेषदानसमर्थानि. तेषामपि **चय:** समूह: मोक्षफलादपि अधिकफलरूपप्रेमभक्तिजनक:. तत्रापि बहुत्वं विशिष्टै: निरवधित्वद्योतकै: तै: **आर्ति:** दर्शनस्पर्शनालापहासलीलाविचेष्टितविषयिणी: [47]तां दूरीकुर्वन् **अस्मान् पालय**. अनिष्टनिवृत्त्या इष्टप्राप्ति: समीचीना इति. तत्रापि **सदा** [48]सकृन्मधुपानं कारयित्वा सुमनस: षट्पदइव त्यागो न समीचीन: परन्तु **श्रीविट्ठले निजदास्यम् उपनयन्**. यथा आर्ति: अनिष्टरूपा तथा दास्योपनयनाभावोऽपि अस्माकम् अनिष्टरूप:. सौभाग्यमदेन मानोत्तरं विरहे सन्देशहारक-मध्यस्थ-प्रणिपातादिसमाधानं विना स्वेनैव मानत्यागो अशक्य: ततो विरहेण सर्वनाशएव स्यात्. अतएव अस्माभिरेव स्वार्थं **श्रीविट्ठलत्वं** दत्तम्. **वि**शेषेण ज्ञानेन **ठा:** शून्या: तान् **लाति** स्वीकरोतीति **विट्ठल:**. **श्री**सहितश्च. यतो अस्मदादीनां विरहे सर्वज्ञाननाश:, वृक्षादिषु प्रश्नात्. तत्र अज्ञानप्रायान् अस्मान् प्रभुसम्मेलनेन स्वीकरोति अनुगृह्णाति. अत: तत्त्वं प्राप्त:. तत्रापि श्रीसहितत्वं यस्य

यत्कार्ये अधिकारः तत्कार्यसमर्थस्यैव तस्य श्रीः शोभा. अथवा श्रीः लक्ष्मीः, तत्सहितानामेव दास्ये उपयोगात्. अस्माभिः योग्यता विचारेणैव अधिकारो दत्तः. अतएव **अस्मदीयः** यथा अस्मत्समाजहृदयं तथैव एतस्यापि, अतः त्वं सफलीकुरु. तत्रापि **निजदास्यं** श्रीमद्यशोदोत्सङ्गलालितपुरुषोत्तमस्य तवैव नतु आवेशचरित्रस्य. तत्रापि **दास्यं** सर्वविषयान् त्याजयित्वा तप्तात्मत्वं दूरीकृत्य स्वाज्ञया अन्तरङ्गलीलाप्रवेशः. नतु सेवन-पूजनमात्रम्. तत्रापि **उपनयन्** समीपे आनीय उपढौकनमिव स्वेनैव कुर्वन् प्रार्थना-साधनासाधनविचारो न कर्तव्यः. तेन विना समानशीलव्यसनत्वाभावः समाजगोष्ठीषु अप्रवेशश्च. अस्मद्विचारितं कृतं च कार्यम् अन्यथापि भवेत्. तत्रापि **उपनयन्** इति वर्तमानप्रयोगेण सर्वदैव स्वदास्यएव स्थापनीयो न तु [४९]अस्मद्विज्ञप्तिकालएव. एवं हेतुरूपदास्यदानप्रार्थनां कुर्वन् सर्वांशेन सर्वदा पालय इत्याशीः प्रार्थिता.

विवृता चातियत्नेन कृतिः श्रीविट्ठलप्रभोः ॥
विलोक्य मार्जनीया स्यात् सुहृद्भिः स्नेहपारगैः ॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितायाः केषाञ्चित् षट्पद्यविवृतिः समाप्ता

॥पाठभेदतालिका॥

१. 'आस्याग्निकुमारत्वेन' इति च.पाठः.
२. 'न भवति इति अर्थः' इति ख.ग.घ पाठेषु.
३. 'निद्रानुकरणेन' इति प्रा.ख ग घ पाठेषु.
४. 'आभिमुखीकरणम्' इति च.पाठः.
५. 'प्रकटय प्रेमायन' इति प्रा.ख ग घ पाठेषु.
६. 'वंशप्राकट्य - निजजनोद्धारार्थम्' इति च.पाठः.
७. 'स्वस्यापि अवतारहेतुना' इति च.पाठः.
८. 'सर्वसौन्दर्यालसवलितादिभावयुक्तम्' इति च.पाठः.
९. 'स्वरूपानुभवो' इति च.पाठः.
१०. "एः कामस्य ईः लक्ष्मीक्षणं सुखं सुखरूपम् अनेन" इति शेषमातृकायाः पाठः. "लक्ष्मी शोभा तस्याः ईक्षणं ज्ञानं यत्र. अथवा या लक्ष्म्याः ईक्षणं सुखं सुखरूपम्. अनेन" इति प्रा. घ पाठः.

११. 'मूले पूरणे' इति क.ख.ग.घ. पाठः.
१२. "चतुश्चत्वारिंशेऽध्याये श्रीमदाचार्योक्तेश्च अयं भावः" इति घ पाठः.
१३. "भवेदिति नतु" इति घ पाठः.
१४. "दन्तानां जीवनं स्नेहकलारूपत्वात्" इति घ पाठः.
१५. 'रसभावस्यैव' इति प्रा., 'स्नेहभावस्यैव' इति घ पाठः.
१६. 'तात्कालिकोत्पन्नो रसः भाव' इति च.पाठः.
१७. 'द्विजत्वोक्त्या' इति च.पाठः.
१८. "रसो भावो न तु तात्कालीनः" इति प्रा.पाठः.
१९. "भगवत्कृतज्ञापनं निरूपितम्" इति प्रा. पाठः.
२०. 'भावनम्' इति घ पाठः.
२१. "दर्शनसङ्गमाभावे" इति घ पाठ.
२२. 'भगवदर्थे' इति घ पाठः.
२३. 'तल्लीलापरिगृहीता' इति क.ख.ग.घ. पाठः.
२४. "तल्लीलादर्शनयोग्यतैव" इति प्रा. घ पाठः.
२५. "उक्तफलार्थिनः" इति क ख ग पाठेषुः.
२६. गीताप्रेसगोरखपुरस्य मुद्रितपाठस्तु "भवाम दास्यः" इति
२७. 'व्यर्थमिति अव्यभिचारिभावानाम्' इति क, ख ग.पाठेषु.
२८. 'अवस्थासाधनविरुद्धकार्यदर्शनात्' इति प्रा.घ.च.पाठेषु.
२९. "आरोहणन्तु आचरणोन्नमनमात्रं यथा तथा आलम्बनरूपाणाम्" इति प्रा. घ पाठौ.
३०. 'अचलानाम्' इति प्रा. पाठः.
३१. "सामीप्यकरणानुरोधाद्" इति घ पाठः.
३२. "निवारकत्वाय उक्तम्" इति घ पाठः.
३३. "स्यन्दमानरसएव. "मुग्धं सौन्दर्य-मौढ्ययोः" इति वाक्यात् 'मुग्ध'शब्देस्तु" इति प्रा. पाठः.
३४. "भाषणादि यावत् अमृतम्" इति प्रा. पाठः.
३५. "पूर्वार्धार्थस्य स्पष्टत्वाद्" इति प्रा. पाठ.
३६. 'पूर्वं व्याख्यातएव' इति च.पाठः.
३७. "मोहकत्वं साधवत्त्वम्" इति घ पाठः.
३८. 'दीप्यति अतिशयात्' इति ख.ग.पाठयोः.

३९. 'दीव्यति' इति प्रा. पाठः. 'दीप्यते अतिशयेन शोभातिशय' इति घ पाठः.
४०. 'शोभातिशयविधौ ... इति अन्यत्र' इति प्रा. पाठः.
४१. 'इतो अन्यत्र' इति च.पाठः.
४२. ''अस्मिन् विषये'' इति घ पाठः.
४३. 'तुरीयया' इति प्रा. घ पाठौ.
४४. 'स्वरूपविषयकोऽपि धर्मः...न बाधकः' इति प्रा.पाठः.
४५. 'नाशं कर्तुम्' इति प्रा. पाठः.
४६. 'तुरीयया' इति प्रा. पाठः.
४७. 'ताः' इति च.पाठः.
४८. 'असकृन्मधुपानम्' इति च.पाठः.
४९. 'अस्मद्विज्ञप्त्यातत्कालएव' इति क.ख.ग.पाठेषु.

क , ख , ग = कोटा , घ = सरकारी लायब्रेरी. च = वेणुनाद.वर्ष.२.अंक.८

॥ श्रीमन्नवनीतप्रियो जयति ॥

॥ प्रेङ्खपर्यङ्ककी व्रजभाषाटीका ॥

अथ षट्पदी जो पलना झुलावते गान करे हैं ताकी टीका: या षट्पदीमें भाव यह भासे हैं श्रीमातृचरण अपने बालकृष्णजीको बाल श्रृंगार धरायके पलनाके ऊपर पोढाये है तहां गोपीजन मंगलगान करती भई पलना झुलायके यह षट्पदी गान करे हैं.

अब मूलको प्रथम पद राग ललित अथवा भैरव:

प्रेङ्खपर्यङ्क शयनम्।
चिरविरहतापहरमतिरुचिरमिक्षणं प्रकटय प्रेमायनम्॥ ध्रुवपद॥
तनुतरद्विजपंक्तिमतिललितानि हसितानि तव वीक्ष्य गायकीनाम्।
इयदवधि परमेतदाशया समभवज्जीवितं तावकीनाम्॥१॥

टीका: भक्तजन पलना झुलावते कहै हैं: हे (प्रेंखपर्यंकशयनम्) अर्थात् पलनापर शयन करता हे बाल! तुम अपने सुंदर मनोहर इक्षणको प्रकट करो, अर्थात् हमारे सन्मुख सुंदर नेत्र खोलके देखो, या प्रकार प्रार्थनाते भासे हैं. या समें प्राकृत बालकके नांई आपके नेत्र कछु ढकेंसे हैं तातें विज्ञप्ति करे हैं संकेत सूचक कटाक्ष करो. फिर भक्तजन कहे हैं तुमारो तादृश सुंदर इक्षण जो है सो हमारे बहुत कालके विरह-तापको हरण करे हैं. कदापि प्रभु शंका करे हमारो विरह-ताप क्यों है ताको समाधान संबोधन पदते करे हैं हे प्रेमायन! अर्थात् तुम प्रेमके अपन् नाम(?) घर हो तातें प्रेम अपने घरमें गयो है. ताते अब बहुत काल विरह सहन नहीं होय. तादृश अर्थात् हमारे सबको प्रेम एक तुमारे विशे ही है. फिर भक्तजन कहे हैं या समें तुम जो हसो हो तामें अति सूक्ष्म दंतावलीकी शोभा देखके

तुमारे गुण-गान करवेवारी तुमारी दासी जो हम सब तिनको जीवन आज पर्यंत एक ये ही फलकी आशा करके भयो है. अर्थात् इहां **'हास'**पद बहुवचन तामें या समें मुग्ध बालकके नांई किल-किलके हंसे है. तातें अनेक प्रकारके भाव भक्तनके हृदयमें आप प्रकट करे हैं तब भक्तजन अपने मनमें अनेक प्रकारके मनोरथ विचारे हैं. सो मनोरथरूप वृक्षमें यह हासरूप पुष्प प्रगट भयो देखके सबन्ने निश्चय कियो अब फल प्राप्त होयेगो. तातें मंगलरूप यह षट्पदी सब मंगलगान करके पलना झुलावे हैं और अनेक मनोरथ विचारे हैं. इति भावार्थ यथा मति.

अब पलनामें पोढ़े श्रीअंगमें कोई अनिर्वचनीय सुंदरता और चेष्टा देखके भक्तजन फिर विज्ञप्ति करे हैं:

तोकता वपुषि तव राजते दृशि तु मदमाननी मानहरणम्।
अग्रिमे वयसि किमु भाविकामेऽपि निजगोपिकाभावकरणम्॥२॥

टीका: हे बाल! तुमारे श्रीअंगमें या समें तोकता जो विराजे हैं अर्थात् बालभावकी सुंदरता जो है सो देखवेवारी गोपिकान्के मद और मान को हरण करती भई सुशोभित है. अर्थात् जिनको अपनी सुंदरता और चातुर्यता को गर्व है, जिनको मान करवेको गर्व है, तिन सबन्के गर्वको याही समय तुम खंडन करके अधीरकामभावके विशे करो हो. तातें आगे वयमें जब युवा-किशोर-पौगंड अवस्था प्राप्त होयगी तब न जाने निजगोपिकान्में तुम कहा करोगे. अर्थात् धीरान्को अधीर करोगे और निज जो-जो तुम खिलावे-लडावे हैं तिनके विशे कामभाव तो याही समें प्रगट करो हो. आगे बड़ी उमरमें न जाने कहा दशा करोगे. तातें दास्यभाव ही श्रेष्ठ है. इति भावार्थ.

अब आप पलनामें पोढ़े चरणको नीचे-ऊंचे चलायमान करे हैं सो देखिके भक्तजन विज्ञप्ति करे हैं:

व्रजयुवतिहृद्य-कनकाचलानारोढुमुत्सुकं तव चरणयुगलम्।
तेन मुहुरुन्नमनभ्यासमिव नाथ सपदि कुरुते मृदुलमृदुलम्।।३।।

टीका: हे नाथ! तुमारे चरणकमलयुगल जो हैं सो कोमल तें हुं अति कोमल हैं. एतादृश चरणयुगल तुमारे वारं-वार उठे हैं तातें हम जाने हैं व्रजयुवतीन्के कुचरूप सुमेरगिरि उपर चढ़िवेके लिये आतुर होयके मानो अभीतें अभ्यास करे हैं. इति श्लोकार्थ.

अब भावार्थ: हे नाथ! यह पद करके भक्तजन सूचना करे हैं आप सर्वसमर्थ हैं अर्थात् विरुद्धधर्माश्रय हो. और कुचनको सुमेरगिरिकी उपमातें सूचना करे है यह चढ़वे योग्य हैं. फिर जैसे चरणयुगलता आतुरता करे हैं तैसे हमारे सबके मन भी आतुर हैं. तातें हमारे सबके मनोरथ पूर्ण करवेमें विलंब मत करो. अथवा **'मृदुल-मृदुल'** पद करके और **'कनकाचल'** पद करके सूचना करे हैं आपके चरणयुगल अति कोमल है और कुचक कठोर हैं. फेर वेश विरुद्ध क्रिया भी है जब समय होय तब चढ़े. हम सब दास्यभावमें तत्पर हैं. इति भावार्थ.

अब ता समेंको जो श्रृंगार है ताको वर्णन करे हैं:

अधिगोरोचनातिलकमल-कोद्ग्रथित विविधमणिमुक्ताफलविरचितम्।
भूषणं राजते मुग्धतामृतभरस्यदि-वदनेंदुरसिम्।।४।।

टीका: हे लाल! तुमारे श्रीअंगमें भूषण जो शोभा देत हैं तातें मस्तकपर गोरोचन तिलक अर्थात् संपूरण ललाटपर पीतरंगको खोर

शोभित हैं ताके ऊपर अलकावली विखर रही है. तातें विविध प्रकारकी मणि और मोतीन् के रचित सूक्ष्म आभरण लपटके शोभित भये हैं. तथा कानके आभरण भी अलकावली करके ग्रथित भये हैं. और श्रीकंठके आभरणको मुखचंद्रने अपने सुंदरता रूप अमृत श्राव करिके सींचन किये हैं. अर्थात् मुखकी लारतें भींजके शोभित भये हैं.

अब भावार्थ: या प्रकार शोभा देखके भक्तजन मोहित होयके ....

(यहां तक भाषाटीका उपलब्ध है)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीमत्प्रभुचरणकृत 'लालयति' पलनापद ॥

लालयति दोलिकामंचशयनम्।
तिलकगोरोचनं भालमुक्ताफलम्
कुटिलकुंतलमुखं चकितनयनम्॥१॥

चरणसंचालनं मोदभरगायनम्
प्रतिबिंबदर्शनेन मृदुलहासम्।
बाललीलापरमपदसुनूपुरधरम्
भाषणोत्फुल्लनासाविकासम्॥२॥

अंगुष्ठचोषकं गूढरसपोषकम्
स्वल्पसंतोषकं कृष्णचंद्रम्।
गोपिकाजनमनोमोदसंपादनम्
तदभिलषिताकृतौ विगततंद्रम्॥३॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ राजभोगारात्रिकार्या ॥

गोस्वामिश्रीविट्ठलेशप्रभुचरणविरचिता

गो.श्या.म.विरचितवर्तिकादीप्तिसमेता

(मंगलाचरणम्)

श्रीव्रजरायश्यामसुन्दरौ मदहंममतिसत्यकरौ ॥
भक्तेरिह यौ भावविभावौ हृदि गेहेऽप्यनुभूतिचरौ ॥१॥
भजनविधावितरेऽपि मदीये परिवारे भजनीयवराः ॥
राजन्ते वल्लभकृपयैव परमाः मत्पुरुषार्थपराः ॥२॥
श्रीमदाचार्यचरणं वन्दे प्रभुचरणावपि ॥
मध्याह्नारात्रिकार्याहं व्याख्यास्ये तत्कृपाबलात् ॥३॥

(उपोद्घातः)

सच्चिदानन्दरूपे हि ब्रह्मण्यानन्दगूहनाद् ॥
सृष्टिलीला-निगूढान्वेषणे हि पुरुषार्थता ॥४॥
सदंशभूतविषयेभ्यो तद्ग्राहिकरणैः सदा ॥
दुःखाभावसुखावाप्तौ चिदंशानां मतिः स्थिरा ॥५॥
गूढानन्दस्योपलब्धौ दुःखेऽप्यानन्दरूपता ॥
प्रेम्णा निरोधे त्वानन्दे नैवानिष्टमतिः क्वचित् ॥६॥
बाह्यानन्दो विभावात्मा स्थायी भावस्तथान्तरः ॥
ब्रह्मणो रूपरसते बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥७॥
रूपस्य भजनं बाह्यमान्तरं रसनात्मकम् ॥
बाह्यान्तरानन्दलब्धौ या भक्तिः सा परा मता ॥८॥
रसेतराणां स्यात्तर्हि भक्तिसञ्चारिभावता ॥
निरोधोऽयं भक्तिशुद्ध्यै त्रैगुण्यातिक्रमाय च ॥९॥

ततः सर्वात्मभावे हि भक्तेः फलति पूर्णता ॥
सेव्यरूपे निरोधाय नीराजनमपीष्यते ॥१०॥
तत्स्वरूपावलोके हि तद्भिन्नासंगकालजः ॥
वियोगो वार्यते तत्र चैकैकांगावलोकने ॥११॥
नीराजनेन सर्वांगमनोहार्यवलोकनं ॥
एवंभावनया तेन निरोधः सुलभो भवेत् ॥१२॥
राजभोगारात्रिकातः कार्या भक्तेन स्वप्रभोः ॥
इत्थंभावोद्बोधनायैवार्या गेया तदन्तिके ॥१३॥
भगवद्भक्तिभक्तानां निरोधैकप्रयोजना ॥
लहर्युल्लोलिता कृष्णविलासोदधिविट्ठले ॥१४॥

(विचार्यो विषयः)

इदम् अत्र विचार्यते : [क]एतदार्यागानं भगवत्सेवायाम् अकरणे प्रत्यवाजनकतया, काम्यकर्मतया, उत; कर्मसमृद्ध्यर्थं वा विहितं? [ख]कश्च तदधिकारी? [ग]किम्प्रयोजनकं च एतद्गानम्? [घ]कथं च तद् विधेयम् इति?

([क]तत्र एतस्य विहितत्वे अनुपपत्तिपरिहारौ)

ननु भगवदाहितभक्तिबीजभावस्वारसिका हि पुष्टिभक्तिः, विहितातु पुनः मर्यादाभक्तिरेवेति किं केन कथमिह संगच्छते! इति चेद् ब्रूमः :

> **"तएते साधवः साध्वि! सर्वसंगविवर्जिताः संगः तेषु अथ सम्प्रार्थ्यः सर्वसंगहराहि ते. सतां प्रसंगाद् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः, तज्जोषणाद् आशु अपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिः भक्तिः अनुक्रमिष्यति".**
>
> (भाग.पुरा.३।२५।२४-२५).

इति कपिलावतारे यथा योगमार्गांगत्वेन भक्तियोगम् उपदिशता भगवता भक्तौ न विधेः किमुत सर्वसंगविवर्जितसाधुसंगस्यैव प्राथमिकी खलु उपादेयता

विद्योतिता, तदनु तेभ्यो हृत्कर्णरसायनरूपभगवत्कथाश्रवणं तच्छ्रवणेन च श्रद्धारतिभक्त्यनुक्रमोऽपि यथा प्रतिपादितः; तथैव श्रीकृष्णावतारेऽपि.

तथाहि —

''न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्मएव च न स्वाध्यायस् तपस् त्यागो न इष्टापूर्तं न दक्षिणा व्रतानि यज्ञस् छन्दांसि तीर्थानि नियमाः यमाः, यथा अवरुन्धे [१] सत्संगः सर्वसंगापहोहि माम्'' (औत्सर्गिको नियमः).

''सत्संगेन हि दैतेयाः... वैश्याः शूद्राः स्त्रियो अन्त्यजाः, रजस्तमप्रकृतयः तस्मिंस्तस्मिन् युगे अनघ! बहवो मत्पदं प्राप्ताः... व्याधः कुब्जा, व्रजे गोप्यः... ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमा अव्रतातप्ततपसः [२] सत्संगाद् माम् उपागताः. केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगा; ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुर् अञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि... ताः नाविदन् मयि अनुषंगबद्धधियः स्वम् आत्मानम् अदः तथा इदम्, यथा समाधौ मुनयो अब्धितोये नद्यः प्रविष्टाइव नामरूपे. मत्कामाः रमणं जारम् अस्वरूपविदो अबला ब्रह्म मां परमं प्रापुः [३] संगात् शतसहस्रशः. (नियमोपनयः).

''तस्मात्, त्वम् उद्धव! उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां, प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या हि अकुतोऽभयम्'' (उक्तस्य निगमनम्).

(भाग.पुरा.११।१२।१-१५).

इत्येवमाद्युपदेशैश्च स्वलीलाभिः चापि प्रथमं तावत् पूर्वोपदिष्टायाः योगमार्गांगभूतायाः भक्तेरिव इहापि विहितनिषिद्धप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपयोः धर्मयोः,

सांख्ययोगादीनामपि च, त्यागपुरःसरं सर्वसंगापहस्य भगवतः संगप्राप्तये सत्संगनियमस्य उपदेशः कृतः. तत्र त्रिष्वपि एतेषु वचनेषु क्रमशः 'सत्संगः' 'सत्संगात्' 'संगात् शतसहस्रशः' इत्येवं पदप्रयोगोपलम्भेन सर्वेऽपि एते एकार्थवाचिनो भिन्नार्थवाचिनो वा इति भवति विचिकित्सा ?

तत्र किं 'सतां'=साधुजनानां संगो वा सत्संगः ? आहोस्वित् 'सतो'=भगवतो वा संगः सत्संगः ? अथवा 'समानकोटिकानां समेषां सहस्रावधिभक्तानां मिथः'=संगो वा सत्संगः इति त्रिष्वपि एतेषु वचनेषु एकहेलया कश्चन एकार्थकतया वा; विभिन्नार्थकतया वा 'सत्संग'पदार्थो अभिप्रेतो वा इति प्रथमं तावद् विचारणीयम्. अपिच एतेषु वचनेषु अर्थपार्थक्यम् उपेक्ष्य सत्संगमेव प्राथमिकोपायत्वेन उपदिदिषति भगवान् नवा ? इत्यपि विचारणीयमेव.

अपार्थक्यहेतुस् तावद् इत्थं सम्भाव्यते : **''त्वयि, अम्बुजाक्ष!, अखिलसत्त्वधाम्नि समाधिना आवेशितचेतसा एके, त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिं, स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं, द्युमन्!, भवार्णवं भीमम् अदभ्रसौहृदाः भवत्पादाम्बुजनावम् अत्र ते निधाय याता सदनुग्रहो भवान्''** (भाग.पुरा.१०।२।३०-३१) इति न्यायेन ये भगवदेकनिष्ठाः ते अनुसरणीयाः. तथाहि :

[१] भगवत्संगोपलब्धये यः कश्चन उपायः तादृशैः अनुष्ठितः तदनुकरणेन भगवत्संगः कर्तव्यो; अथवा, भगवदनुग्रहेण भगवदितरासंगनिरासकत्वेन च भक्तसंगोपलब्ध्यापि कथञ्चिद् भगवत्येव खलु अनन्यभावः संवर्धनीयः ? साचैषा खलु सर्वेष्वपि युगेषु साधारणी एकैव व्यवस्था अविप्रतिपन्नैव भाति, **'तस्मिंस्तस्मिन् युगे'** इति लिंगेन संद्योतिता.

[२] तत्र भगवान् सर्वसंगापहारको भवति चेत् तदा यैः साकं भगवत्प्राप्तये सत्संगः चिकीर्षितः तेषां सञ्जातभगवत्संगत्वे सति ते असंजातभगवत्संगस्य

इतरस्य संगमेव न कुर्युः. अन्यथा भगवतः सर्वसंगापहारकतामेव ते साधवो नूनम् अपहरेयुः! तद् उक्तं **"अतो मूलभ्रमप्रतिपन्नं देहात्मभावं व्यामोहकशास्त्रप्रतिपन्नं च भावं परित्यज्य हृदये विद्यमानो भगवान् भावनीयः... अन्यथा विजातीयैः सह भक्ताः भजनं न कुर्वन्ति"** (सुबो.१०।प्रक्षि.३।२८-३०) इति. इदम् अत्र आकूतम् : अवतारकाले अवतीर्णभगवत्स्वरूपस्यैव सत्संगो विधेयः:. तद् उक्तं **"अतः आविर्भावः स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः. अवतारदशायान्तु न तयोः प्रयोजकत्वम्"** (सुबो.१०।२६।१३) इति. भगवत्संगस्यैव अवतारकाले साधनफलोभयरूपतया हि अभीष्टतमता वरीवर्त्यते. नूनं भगवतः प्रमेयबलादेवेति, न तदा भगवन्निष्ठानां ज्ञानभक्तियोगांगतया प्राथमिकोपायतया वा इतरथा वापि विहितस्य साधुजनसंगस्यापि काचन अपेक्षा अवकल्पते. तद् उक्तं **"विधिः अत्र प्रमेये न नियामकइति, न भगवतो विहितं वा निषिद्धं किञ्चिद् अस्ति... प्रमेयबले वेदापेक्षया भगवदाज्ञा कर्तव्या"** (सुबो.१०।६४।७-२२) इति.

[३] तृतीयेतु अनवतीर्णस्यापि भगवतो यदा प्रमेयबलेनैव उद्धिधीर्षा तदा वास्तविकभगवत्स्वरूपस्य बोधाबोधयोरपि अकिञ्चित्करतैवेति मूढानामपि स्वमौढ्योद्गते सत्यपि यस्मिन् कस्मिंश्चिदपि लौकिकभावे प्रमेयबलादेव उद्धरणम्. परमिह नूनं केवलो भावः स्वपरानुसंधानरहितो अपेक्ष्यते. तेनैव मुनीनामिव भावसमाधिरपि एतादृशानां सम्भवेदिति. सेयं खलु अलौकिके वस्तुनि प्रमेयबलजाता लौकिकभावानुरूपा सदनुग्रहात्मिका विभावता भक्तभावरूपधारणक्षमता वा भगवतो, ययापि उद्धारो न न शक्यः.

निगमनसदृशवचने तु भूमौ अवतीर्णेन भगवता स्वस्य श्रुत्यादि-शास्त्रोक्तविधिनिषेध-नैरपेक्ष्येण सर्वभावेन अनन्यशरणागमनं तावत् स्वोपलब्धि-साधनतया उद्धवाय उपदिष्टम्. अनवतारकाले, परन्तु, भगवतः संगस्य अतीवदुर्लभत्वेन महतां सतां योगसांख्यदानव्रततपोध्वरपराणां श्रुत्यादिशास्त्रव्या-ख्यास्वाध्यायसंन्यासनिष्ठानां साधुजनानां संगाभावे भगवत्संगो नूनं मरुमरीचिका-

यते! यस्मात् स्वाभाविकी तु जीवानां वैषयिक्येव सुखोपलब्धि-दुःखनिरसन-पर्यवसिता प्रवृत्तिः अनुभूतिचरा. नहि एतादृशानां **"रूपं गन्धो मनो बुद्धिः आत्मा कालः तथा गुणाः, एतेषां परमार्थश्च सर्वम् एतत्, त्वम् अच्युत!, विद्याविद्ये भवान्, सत्यम् असत्यं त्वं, विषामृते, प्रवृत्तिं च निवृत्तं च कर्म वेदोदितं, भवान्!, समस्तकर्मभोक्ता च, कर्मोपकरणानि च... सर्वाणि, सर्वकर्मफलं च यः"** (विष्णुपुरा.१।१९।६९-७१) इत्यत्र उक्ता सर्वविधप्रमाणप्रमेयसाधनफलोपादानरूपस्य भगवतो अनन्यसंगनिर्वाहानु-कूला मतिः सुलभा. तमेतं प्रापञ्चिकसकलविषयोपादानभूतं सर्वान्तिरसंनिविष्टं परमात्मानं संसारी जीवात्मा स्वाहंकार-ममकारोपेतां प्राकृतमतिं परित्यज्य विषयीकर्तुं समर्थो न भवति. कोहि भगवान्? कथं तस्य संगः? सोऽपि पुनः अनवतारकाले कथम् अवाप्यो भवेद् इति भगवत्पराणां साधुजनानां संगं विना अवधारयितुं को वा कथं वा शक्नुयाद्! ततोहि अनवतारकाले तावत् महत्तमानां सतां साधूनामेव खलु भगवत्संगोपलब्धिप्रेरकः संगः सत्संगः. ततः तदनु मिथो भक्तसंगस्य ततः स्वानुष्ठित-विधिनिषेधमूलकप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपधर्माणां भगवत्प्रापकताभिमानत्यागेन भगवति अनन्यशरणागत्या तस्मिन् अनन्यभावो भावनीयः, इति श्रीमद्भागवतारम्भएव **"तत्र अन्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम् अनुग्रहेण अशृणवं मनोरमाः. ताः श्रद्धया मे अनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवसि अंग! मम अभवद् रुचिः"** (भाग.पुरा.१।५।२६) इति यद् उक्तं, तदनुवृत्तयएव महाप्रभुणापि स्वसम्प्रदाये —

> **"परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह 'कृष्णसेवापरम्' इति. योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं न स्वयं न कुर्यादिति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय**

अन्यथाकरणे न फलसिद्धिरिति 'भागवततत्त्वज्ञम्' इति. जिज्ञासुः नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजनं' सर्वभावेन तदा तदुक्तप्रकारेण (स्वगृहे स्वभगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् स्वतनुवित्त-परिजनसमर्पणरूपा) भगवत्सेवा कर्तव्या. सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह 'तदभावे' इति. तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्. तद्रूपं तत्र च स्थितम्''.

(त.दी.नि.२।२२५-२२८)

इति अनवतारकालेऽपि मौढ्याहंकारौ परित्यज्य गुरुरूपस्य महत्पुरुषस्य अन्वेषणानन्वेषण-विकल्पानुकल्पयोः भगवत्संगस्यैव सर्वविधा उपादेयतमता प्रशंसिता. एतेन मध्यमाधिकारक-पुष्टिभजनविधौ भगवत्संगसाधक-बाधकानां विहित-निषिद्धाचरणानां प्रमाणमूला व्यवस्था भृशम् अभ्युपेतैवेति भाति. न ततः केवलप्रमेयबलावलम्बनमेव केवलम्. अतएव **''भगवानेव सर्वं करोति इति उक्तेऽपि भजनाभावे न सिद्ध्यतीति भजनम् अवश्यं कर्तव्यम्'', ''मध्यमाधिकारिणां वेदपरत्वं न दोषाय इति निरूपितम्. अन्यथा प्रमाणपराणाम् अनन्यभावो भज्येत''** (सुबो.३।३२।२२, १०।३४।२०) इति उपदिशता महाप्रभुणा भगवद्भजनौपयिक-विधिनिषेधयोः आवश्यकता बीजभावाहितायां स्वारसिकभक्तावपि सन्दर्शितैव. तद् उक्तं **''सेवार्थं सत्संगः इति प्रथमं साधनं... निर्दुष्टा सेवा द्वितीयं साधनं... सेवाच पुष्टिमार्गे सस्नेहा. कृपाफलञ्च एतत्''**(सुबो.१।५।२३-२८) इति.

(भक्त्युपदेशार्थम् आवश्यकतार्थक'तव्या'दिप्रत्ययप्रयोगविषयकौ पूर्वोत्तरपक्षौ)

ननु महाप्रभुणैव [१]स्वरूपम् [२]अभिप्रायज्ञानं [३]भावना [४]अभिधा [५]आज्ञा [६]इष्टसाधनताज्ञानम् इति षडपि विध्यर्थपक्षान् एकहेलया दूषयितुं **''प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचिद्''** (त.दी.नि.२।१७७) इति यत् प्रतिपादितं तस्य का गतिः? यत्र कर्ममर्यादावेदकेषु वेदेष्वपि विधेः प्रवर्तकता न अंगीकृता तत्र भगवद्भजने शास्त्राचार्यभक्तानां विधेः प्रवर्तकत्वं महत्

चित्रम्! अतएव या खलु चतुःश्लोकी-सिद्धान्तमुक्तावल्योरपि 'भजनीयः'-'कार्या' इति सेवाभजनोपदेशे विध्यर्थकताम् अपहाय आवश्यकतार्थकतैव व्याख्याकारैः अभ्युपेता तस्याअपि का गतिः? किञ्च विधिनिषेधयोस्तु **''कर्मणा कर्मनिर्हारो नहि आत्यन्तिकः इष्यते. अविद्वदधिकारित्वात्... केचित् केवलया भक्त्या... अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः''** (भाग.पुरा.६।१।११-१५) इति अविद्वदधिकारिता त्रैगुण्याधिकारकता चापि भागवते निरूपिता. भगवन्निष्ठज्ञानभक्त्योस्तु पुनः **''ज्ञानयोगः च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः'', ''हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेद्''**(भाग.पुरा.३।३२।३२, १०।८८।५) इति नैर्गुण्यावाप्त्य-धिकारकतापि. तथा गीतायाञ्च **''त्रैगुण्यविषया: वेदाः निस्त्रैगुण्यो भव''** (भग.गीता.२।४९) इत्यपि ततएव अशेषाघवारकतापि सन्दर्शिता. अपिच तैत्तिरीयोपनिषद्यपि **''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति एतं ह वाव न तपति 'किम् अहं साधु नाकरवं किम् अहं पापम् अकरवम्!' इति''** (तैत्ति.उप.२।९) इति गुणातीते ब्रह्मणि भक्त्या आनन्दानुभूतिपराणां कृताकृतभीतिराहित्यमपि सुनिरूपितमेव. प्रथमस्कन्धेऽपि तावद् भगवदुपाश्रितया मायया त्रैगुण्यसम्मोहौ तज्जन्यानर्थावपि, तत्रच साक्षाद् भक्तियोगस्य **''अनर्थोपशामकत्वम्''** (भाग.पुरा.१।६।५-६) चापि स्वीकृतम्. तथैव एकादशेऽपि **''स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशो विकर्म यच्च उत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः''** (भाग.पुरा.११।५।४२) इत्येवमादिवचनेषु जागरुकेषु कथन्नु गुणातीते भक्तिमार्गे त्रैगुण्याधिकारकौ विधिनिषेधौ स्वपादप्रसारचाञ्चल्यं प्रकटीकर्तुम् अर्हतः?

अथ एतद् अवकल्प्येत त्रैगुण्याधिकारकवेदोक्तविधिनिषेधयोः न पादप्रसारः परन्तु महतां भगवत्पराणां भक्तिमार्गीयविधिनिषेधयोरपि वारणेतु गुणातीतभक्तिमार्गोपदेशानामेव आनर्थक्यापत्तिः दुष्परिहरा भवित्री इति. तदपि न चारु, तदुपदेशावहेलनया, प्रत्यवायितापत्तौ सत्यां कर्मयोगवदेव समानौ आक्षेपपरिहारौ वज्रलेपायितौ स्याताम्! अयि भोः किं तदा भक्तियोगस्य साक्षादनर्थोपशामकता किमु प्ररोचनार्थको अर्थवादएव? न इति ब्रूमो,

यतोहि यथोपदिष्टाननुसरणे भक्ते: बीजभाव: फलपाकाय न अलं स्याद्. नच इष्टापत्त्या प्रत्यवस्थातव्यं, यस्मात् सर्वेऽपि जीवात्मान: प्राकृतविषयजन्ययो: सुखदु:खावाप्तिपरिहारयो: तावद् आनन्दमेव उपलब्धुं प्रसज्यन्ते, तत्र महताम् उपदेशाननुसरणे आनन्दानुपलब्ध्या अन्ततो भृशं दूयेयु:. ननु भवतु मादृशस्य कस्यचन न तत्र त्वरा इति चेद् न, नहि विषयसुखावाप्ति-दु:खपरिहारयो: स्वीयैव जीवाभिलाषा आभीक्ष्ण्येन सर्वदा हेतु:. तद् उक्तं **''भगवानेव यथेष्टं यथैव प्रवर्तयते तथा ज्ञानम् उत्पाद्य प्रवर्तते. वस्तुतस्तु न किञ्चिद् इष्टं न किञ्चित् साध्यम् इति अर्थ:''** (त.दी.नि.२।१७८) इतीयं महती किल उपपत्ति: भगवद्वरणैकलभ्या भक्तिर्नाम 'पुष्टिभक्ति:' इति! उताहो जीवान्तर्यामिणएव बीजभावारोपणप्ररोहणयो: भक्तिफलदानविलम्बयो: सर्वनियामकता न जीवपुरुषार्थस्य!

(ज्ञानभक्तिमार्गोपदेशेषु 'लोट्'-'लिङा'दिप्रत्ययानां विध्यर्थकतानंगीकार: तदसंस्पर्शिता वेति पूर्वोत्तरपक्षौ)

इदम् इह आशंक्यते किं ज्ञानभक्तिमार्गयो: 'लोट्-लिङा'दिप्रत्ययानां विध्यर्थकता अपाक्रियते उत एतन्मार्गयो: तदसंस्पर्शितैव?

तत्र नाद्य:, सेवाभजनस्मरणविवेकधैर्याश्रयाणां आवश्यकार्थक-'तव्या'-'ऽनीयर्'-'ण्यत्'प्रत्ययप्रयोगै: उपदेशेऽपि **''निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्याद्''**, **''अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं''**, **''कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेद्''**, **''अनुकूले विष्णो: कार्याणि कारयेत्... प्रतिकूले गृहं त्यजेद्''**, **''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य भजेद्''**, **''एतद्विरोधि यत् किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेद्''**, **''मानापेक्षां विवर्जयेत्''** (सि.र.५, भ.व.२, नि.ल.१२, पं.श्लो.३ त.दी.नि.२।२२७,२३९,२४१) इत्येमादिवचनेषु 'लिङा'दिविध्यर्थकप्रत्ययान्तानां क्रियापदानां प्रयोगसद्भावात्. सर्वथापि प्रवर्तना खलु तावद् विध्यर्थ:. सा श्रुत्यादिशास्त्राणां वा भवतु सम्प्रदायाचार्याणां वा न वैलक्षण्यं हि लेशत:. प्रवर्तकत्वन्तु तावत् प्रमाणान्तरेण अप्राप्तेहि अर्थएव अकामैरपि अभ्युपगन्तव्यमेव. अन्यथा **''विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशको भक्त्याचारोपदेष्टा च कर्ममार्गप्रवर्तको यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशक:''** (सर्वो.स्तो.१८-१९) इति निजाचार्यनाम्नामपि आचार्यमाहात्म्यप्रतिपादकत्वं कुतो न ध्वंसेत! ततश्च तस्यैतस्य अतिदेशो गुणातीतब्रह्मणि सुप्रतिष्ठितै: महानुभावै: ज्ञानिभि: भगवदीयै: वापि लोककल्याणार्थं यत्किमपि कर्म समाजिज्ञपयिषितं, लोकहितैककामनया अभ्यनुजिज्ञपयिषितं वा, उत सन्दर्शितमपि वा निजवृत्तं, तै: निखिलैरपि साधारणजीवानां भवतु सफलप्रवृत्तिजनकम् आवश्यकतायाअपि सम्प्रज्ञानम्. कथमपि प्रवर्तकतान्तु न जातु अतिक्रामति चेत्, ततश्च कोहि अत्र असाधारणो निर्बन्धो विधिपक्षक्षेपेण आवश्यकतापक्षरक्षणे दाक्ष्याविष्करणे!

न द्वितीयो महाप्रभुणापि

''यो विधीयते सो अर्थ:; क्रियाच विधीयते, पुरुषप्रयत्नेन... निष्पाद्यतइति सा क्रिया कर्मवाचकेभ्यएव प्रतीयते, अत: कर्मशब्दाएव साक्षाद् धर्मवाचका:... इदमेव, अनुगतं रूपं क्रियासामान्यं, 'धर्म'पदप्रवृत्तिनिमित्तं क्रियासामान्यं प्रतिपादयन्तो विशेष(यज्ञदानादि**)प्रतिपादका: इति उक्तं भवति... अतीन्द्रियो यागादि: स्थिरो धर्म: तत्र 'सामान्यं नित्यम्' इति नित्यता प्रतिपादिता, विशेषस्तु अतीन्द्रियता. द्रव्यदेवतासम्बन्धो हि यागो, देवताया: अतीन्द्रियत्वात् तत्सम्बन्धोऽपि अतीन्द्रिय:. सम्बन्धश्च प्रीतिहेतुत्वेन स्वीकारो; द्रव्यं च अलौकिकमिति अनित्यतायां न कोऽपि हेतु:. नहि चेष्टा यागो येन विनाश: कल्प्यते अदृष्टं वा! ये क्षणिकत्वम् अदृष्टं वा कल्पयन्ति न ते यागपदार्थं विदु:... अवघातादय: ऐन्द्रियका: आशुतरविनाशिन:... मन्त्रेण च अवघातो देवपत्न्य: च कर्त्र्य:, लौकिके तदावाहनाद् अतीन्द्रियत्वमेव. फले सम्पन्ने तस्य तिरोभाव:. सएव हि अर्थो लौकिकस्तु संसारहेतुत्वाद् अनर्थ:. अतएव विधीयते पुरुष: प्रवर्त्यते. अन्यथा प्रयत्नाभावाद् अकथनं स्याद्''**, ''चो-

दना प्रवर्तकं वाक्यं तद् धर्मलक्षणत्वेन उक्तं तस्याः धर्मत्वपरिज्ञापकत्वम्''.

(भावा.पा.भा.२।१।१ , तत्रैव २।१।५)

इति निजकण्ठोक्त्यैव अभ्युपेता 'लोट्'-'लिङा'दिप्रत्ययान्तानां क्रियावाचकपदानां विध्यर्थकतया प्रवर्तकत्वम्. तस्माद् यदि **''भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्य अयमेव धर्मो हि''**(चतुश्लो.१) इत्यत्र व्रजाधिपभजनस्य पुष्टिमार्गे धर्मरूपता तदा भजनस्य आवश्यकत्वेऽपि धर्मत्वेन विधिशेषता अंगीकरणीयैव. अतः प्राकृतैः गुणैः जन्याः ये ज्ञानेच्छाप्रयत्नाः तज्जाता च या आशुतरविनाशिनी लौकिकी क्रिया सा धर्मस्य सामान्यं रूपं, विशेषरूपन्तु तस्य अलौकिककार्थप्रतिपादकैः शास्त्रीयैः विध्यर्थवाचकैः पदैः जनिताः ये ज्ञानेच्छाप्रयत्नाः तज्जाताभिः विशेषरूपाभिः क्रियाभिः पुष्टिभक्त्यादिरूपाभिरपि यावत्फलप्रापणानश्वरो धर्मः लौकिकद्रव्यगुणक्रियासु आहितो भवति. तत्र अलौकिक-द्रव्य-देवता-तत्सम्बन्धकर्तृ-णाम् आधानानि धातुपाषणादिनिर्मितमूर्तौ देवतावद् भवति. त्रिगुणात्मकेष्वपि वस्तुषु एवं हि निस्त्रैगुण्यं समाविर्भवति, अन्यथा आशुतरविनाशिता अप्रतीकार्यैवेति अनिच्छतापि उररीकार्यम्. नच **''त्रैगुण्यविषया वेदाः''** (भग.गीता.२।४९) वचनासंगतिः इति वाच्यं, काकतालीयन्यायेन वचनैकदर्शनेन निखिलशास्त्रपारंग-तंमन्यस्य अयम् अपराधो न पुनः भगवदुक्तेः! तथाहि **''वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः त्रिकाण्डविषयाः इमे... मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते तु अहम् एतावान् सर्ववेदार्थो शब्द आस्थाय मां भिदा, मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति''** (भाग.पुरा.११।२१।३५-४३) इति सुस्पष्टा त्रैगुण्यविषयतावद् वेदानां गुणातीतब्रह्मविषयतापि पारमार्थिक्येव. अतएव निस्त्रैगुण्यायैव भगवदुपदेशो न पुनः वेदपरिहापनायेति.

ननु तदा भगवानपि **''न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः... नच क्रियाभिः न तपोभिः उग्रैः एवंरूपः शक्यः...''**, **''भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः...कामान् सिषेव... असक्तः सांख्यम् आस्थितः''**

(भग.गीता.११।४८ , भाग.पुरा.३।३।१९) इति निजवचनैश्च तथाच आचरितै-रपि महाराजमार्गं कर्मब्रह्मविधायकाभिधायकैः वेदवचनैः समुदितं यद् आत्मानन्दरूपं द्रव्यकर्मकामसेवनं तत् परित्यज्य कुतोनु सांख्यप्रक्रियाम् अंगीचकार ? इति चेत्

समाधत्स्व! **''प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम् आधारः पुरुषः परः सतो अभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयन्तु अहम्''** (भाग.पुरा.११।२४।१९) इति ब्रह्मवादात्मिकैव सांख्यप्रक्रिया इयं नेतरा. तद् नूनं **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत् त्वम् असि''**(छान्दो.उप.६।१२।७) इति उपनिषदुक्ता प्रकृतिपुरुषयोः ब्रह्मात्मैक्यावलोकनरूपैव नतु अब्रह्मात्मकयोः प्रकृतिपुरुषयोः विवेकदर्शनरूपा इति. ब्रह्मणः सच्चिदंशाभ्यां प्रादुर्भूतानां रूप-कर्म-नाम्नां यथा ब्रह्मात्मत्वं तथा प्रकृति-पुरुषोपादानकतापि. तद् उपपादितं बृहदारण्यके **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्''** (बृह.उप.१।६।१-३) इत्यत्र. ततश्च यस्य ज्ञानिनः त्रिष्वपि ब्राह्मयैक्यधर्मपुरस्कारेण त्रित्वानुदर्शनं तस्य निर्गुणानुभूतिः. यस्यतु ब्रह्मानवबोधहेतुकेन केवलत्रित्वधर्मपुरस्कारेण दर्शनं तस्य तेषामेव नाम-रूप-कर्मणां प्राकृतगुणजन्या सगुणानुभूतिः इति विवेकः. तद्वद् प्राकृतैः कर्तव्यज्ञान-फलेच्छा-देहाद्यभिमानमूलकप्रयत्नैः अनुष्ठीयमानं यथाशास्त्रविधि कर्मापि तत् त्रैगुण्याधिकारकतया तज्जन्यमोहवर्धक-मेव अन्तवत् चापि. तस्माद् **''ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना''** (भग.गीता.४।२४) इति न्यायेन ब्राह्मयैक्यानुभूतौ नहि केवलो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म भवति किमुत **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१) इति वाक्यानुरोधात् परोक्षज्ञान-श्रद्धा-विश्वास-साक्षात्कारसाधारणी तत्तदधिकारानुसारिण्येव इयं ब्राह्मी कथा!

तस्माद् एतदार्यागानाशक्तत्वेऽपि न भक्तानां प्रत्यवायिता; नापि निष्कामभक्त्यनुभावरूपायां सेवायां कस्याश्चिदपि लौकिककामनापूर्त्यर्थं

नीराजनकाले इयम् आर्या गेया इत्यपि मन्तुं युक्तम्.

([ख] कश्च तदधिकारी ? इति जिज्ञासासमाधाने)

तस्माद् [ख] एतदार्यागाने को हि वैधो अधिकारी इति जिज्ञासासमाधाने एवम् अवधेये : अधिकारिणां तावद् अनेके प्रभेदाः महाप्रभूणां ग्रन्थेषु मुख्यकल्प-विकल्पा-ऽनुकल्पैः उपलभ्यन्तएव :

१.''सात्त्विकाः भगवद्भक्ताः ये मुक्तौ अधिकारिणो भवान्तसम्भवा दैवाः तेषाम् अर्थे निरूप्यते... स्वभावप्रकृत्यपेक्षया अधिकं विहितम् अलौकिकं ये कुर्वन्ति ते सात्त्विकाः तत्रापि भगवत्सेवकाः सेवापराः तत्रापि ये निष्कामाः... तत्रापि ईश्वरेच्छया अन्तिमजन्मनि जाताः''.

२.'' 'इदं भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितं... निःश्रेयसाय लोकानां... सर्ववेदेतिहासानां सारं-सारं समुद्धृतं' (भा.पु.) त्रैवर्णिकानाम् उद्धारार्थे वेदः, स्त्रीशूद्राणाम् इतिहासः, उभयसारोद्धारत्वात् (भागवतपुराणं) सर्वोद्धारकम्''.

३.''धर्ममार्गं परित्यज्य छलेन अधर्मवर्तिनो पतन्ति नरके घोरे पाषण्डमतवर्तनाद्, अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः स्वाध्यायादिक्रियाहीनाः तथाचारपराङ्मुखाः क्रियमाणं तथा आचारं विधिहीनं प्रकुर्वते... तत्र धर्मः कथं भवेद्... अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति... अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते... मार्गो अयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः. सर्वानेव येन-केनचिद् उक्तप्रकारेणापि प्रवर्तमानान् मोचयति, मोचकस्वभावत्वात्. तत्र स्ववाक्यानुगतान् कथं न मोचयेत् ?''.

४.''वैदिककर्मयोगनिर्धारम् उक्त्वा सुगमसर्वजनीन-

तान्त्रिककर्मनिर्धारम् आह... लौकिकानर्थस्य लौकिकै(श्रौतेतरै)रेव निवृत्तिः युक्ताइति सांख्यादयः प्रवृत्ताः. तत्रापि शीघ्रहृदयग्रन्थिविभेदको वैष्णवः, केवलपुष्टिमार्गेण... तत्र अशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि... अथवा समुच्चयो मर्यादया, उभयथापि वा''.

(त.दी.नि.प्र.१।२ , सुबो.१।३।४०-४२ , त.दी.नि.प्र.२-।२२२, सुबो.११।३।४८).

तस्माद् निजाचार्याणाम् पुष्टिप्रपत्तिभजनाद्युपदेशेषु विध्यर्थकप्रत्ययप्रयोगो वा आवश्यकतार्थकप्रत्ययप्रयोगो वा भवतु उभयथा अंगीकारेऽपि उपदेशभाजां कृते प्रवर्तना तु तेषु अंगीकार्यैव, तदुल्लंघने दण्ड्यता वा कृतसाधनानुष्ठानवैफल्यं वा अनिच्छतापि उररीकार्यमेव.

ननु प्रवर्तनावचनत्वांगीकारे प्रमाणान्तरैः अप्राप्तएव कर्तव्ये प्रवर्तनावचनानां प्रयोजनवत्त्वम् अभ्युपगमनीयम्. तथात्वेतु विधिवचनानां येहि भेदोपभेदाः भवन्ति :

क.शाब्दिको विधिः. ख.आर्थिको विधिः चेति प्राथमिको भेदः.

क.शाब्दिके [क/१] पदबोधितो विधिः [ख/२] आर्थिके वाक्यबोधितो विधिः.

क.शाब्दिके [क/१/१] उद्देश्यपदेन [क/१/२] विधेयपदेन.

ख/१द्रव्यस्य ख/२जातेः ख/३गुणस्य ख/४क्रियायाः च इति.

ख.आर्थिके उद्देश्यविधेयभावबोधकोभयपदबोधितः चतुर्विधोऽपि विधिः पुनः अपूर्व-नियम-परिसंख्या-वाक्यैः द्वादशविधो भवति.

तथाहि

[ख/१/१] द्रव्यापूर्वं, [ख/१/२] द्रव्यनियमः [ख/१/३] द्रव्यपरिसंख्यानम्

[ख/१/४]जात्यपूर्वं [ख/१/५]जातिनियमः [ख/१/६]जातिपरिसंख्यानम् [ख/१/७]गु-णापूर्वं [ख/१/८]गुणनियमः [ख/१/९]गुणपरिसंख्यानम् [ख/१/१०]क्रियापूर्वं [ख/१/११]क्रियानियमः [ख/१/१२]क्रियापरिसंख्यानम् इति.

एतेषां द्वादशानामपि [१]सामान्यवाक्येन [२]विशेषवाक्येन [३]प्रतिप्रसवेन [४]अभ्यनुज्ञया [५]व्यवस्थाबोधकेन [६]अभावबोधकेन [७]साधारणबोधकेन [८]उत्कर्षबोधकेन [९]अपकर्षबोधकेन वा इति १०८ विधानामपि एतेषां पुनः उत्पत्ति-प्रयोग-विनियोग-अधिकाररूपावान्तरैः प्रभेदैः आहत्य ४३२ स्थूलप्रकाराः भवन्ति.

तएते भेदोपभेदाः आवश्यकतापक्षवादिनां न अभिमताः चेद् गतं तदा आवश्यकप्रत्ययान्तानां प्रर्वतकतांगीकारेण. अभिमतत्वेतु विधितो भेदएव कथन्नु उपपद्येत?

तत्र सावधानैः इदम् इह समवधेयं : नूनम् अस्ति तावत् सर्वथा प्रवर्तकत्वं किन्तु न वचनमात्रेण, श्रोतरि वाच्यवस्तूत्कर्षवर्णनप्रयुक्तो तद्विषयकः स्वस्य आवश्यकतासम्प्रत्ययो जायते येन स्वहृदयेनैव नियोजितो भवति, न पुनः वचनमात्रेण. कदाचिद् तदुपेक्षया अनौत्कण्ठ्येन वा तदर्थम् अप्रवृत्तो तदनुपलब्ध्या नहि तावद् वक्तुः नापि वचनस्य अपराधिनम् आत्मानं मन्येत; किमुत, निजात्मानमेव अकृतकृत्यं हतभागिनं मत्वा दूयेतापि! तद् उक्तं **''अवश्यम्भावः आवश्यकम्... अवश्यम्भावविशिष्टे... कर्तरि च वाच्ये 'कृत्याश्च' 'कृत्य'संज्ञकाश्च प्रत्ययाः आवश्यकाधमर्ण्योः उपाधिभूतयोः धातोः भवन्ति : भवता खलु अवश्यं कटः कर्तव्यः करणीयः कार्यः कृत्यः''** (पाणि.अष्टा.काशि.३।३।१७०-१७१) इति. तदेतद् उपोद्बलितं महाप्रभुणापि :

''इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं तदा स्याद् यदि अनिष्टसाधनतां ज्ञात्वा निवर्तेत. विषभक्षणे, युद्धे, द्रुमात् पतने, प्रवृत्तिदर्शनात्... अतो भगवानेव यथेष्टं यथैव प्रवर्तयते

तथा ज्ञानम् उत्पाद्य प्रवर्तयते. वस्तुतस्तु न किञ्चिद् इष्टं; न किञ्चित् साध्यम् इति अर्थ. ननु एवं सति अर्थवादादीनां वैयर्थ्यम् इति आशंक्य आह 'मिथ्याप्रलोभनम्' इति. वेदे कर्मादिषु अविद्यमानं फलरूपं न कोऽपि अंगीकरोति येन सार्थकता स्यात् किन्तु यथास्थितमेव आह. अतः सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वाद् न एकवाक्यतासिद्ध्यर्थमपि प्रवर्तकत्वम् अंगीकर्तव्यम्... वेदे सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वाद् न प्रवर्तकत्वं किन्तु सर्वस्यापि साधनं फलं च आह. तावतैव प्रवर्तकत्वं यदि तदा 'ओम्' इति ब्रूमः. फलमुखप्रवृत्तिः (चेत्) सर्वानेव प्रवर्तयेत् ततश्च नरकादिकं न भवेद्. अतो दृष्टादृष्टारिष्टदर्शनाद् न वेदः प्रवर्तकः''.

(त.दी.नि.प्र.२।१७८-१८०)

तस्मादेतस्मात् कारणात् सर्वत्र यथायथभगवल्लीलेच्छाप्रेरितमनोबुद्ध्यहं-कारस्य जीवात्मनः क्वचित् प्रवृत्तिः, क्वचिद् अप्रवृत्तिः, क्वचिद् प्रवृत्त्यप्रवृत्तिवैमौढ्यं वा. नच इयं व्यवस्था विधेः ये षडर्थाः तैस्तैः वादिभिः अंगीकृताः तद्विषयिण्येव इति भ्रमितव्यं प्रत्युत यस्य-कस्यापि अधिकारिणो निजकृते कस्यचन कर्मणः आवश्यकताबोधेऽपि एवमेव श्रुत्यादिशास्त्रप्रामाण्यशरणैः स्वीकरणीया. तथाहि श्रुतयः :

(सच्चिदानन्दब्रह्मणः प्रमाणरूपता)

१.''तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति'', ''यदेतद् हृदयं मनश्च, एतत् संज्ञानम् आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिः धृतिः मतिः मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुः असुः कामो वशः इति सर्वाण्येव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि''. ''सर्वस्य च अहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च''.

(कठोप.५।१५ , ऐत.उप.४।५।२ , भग.गीता.१५।१५).

२.''यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते... यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतं... यत् चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति... तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'', ''एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति, तम् आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्''.

(केनोप.१।१।४-६, २।२।१२).

३.''एषो अस्य परमानन्दः एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''.

(बृह.उप.४।३।३२).

(सच्चिदानन्दब्रह्मणः प्रमेयरूपता)

१.''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्'', ''यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्यते च, यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति, यथा पुरुषात् केशलोमानि; तथा, अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्... तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते''.

(श्वेता.उप.१।१२, मुण्ड.उप.१।१।७-९).

२.''तद् यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः... एवमेव एष प्रज्ञः आत्मा इदं शरीरम् अनुप्रविष्टः... तमेतम् आत्मानम् एते आत्मानो अन्वस्यन्ति''.

(कौषि.उप.४।२०).

३.''आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानाद् आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति''.

(तैत्ति.उप.३।६).

(सच्चिदानन्दब्रह्मणः साधनरूपता)

१.''एषह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते. एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं

यम् अधो निनीषते. एष लोकपालः एष लोकाधिपतिः एष सर्वेशः 'स म आत्मा' इति विद्यात्''.

(कौषि.उप.३।८).

२.''नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्''.

(कठोप.१।२।२३).

३.''को ह्येव अन्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाशे आनन्दो न स्यात्. एष ह्येव आनन्दयाति''.

(तैत्ति.उप.२।७).

(सच्चिदानन्दब्रह्मणः फलरूपता)

१.''यथापि हिरण्यनिधिं निहितम् अक्षेत्रज्ञाः उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः एवमेव इमाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन प्रत्यूढाः. सवा एष आत्मा हृदि... तस्माद् यत् 'सत्' तद् अमृतं अथ यत् 'ति' तद् मर्त्यम् अथ यद् 'यं' तेन उभे यद् अनेन उभे यच्छति''.

(छान्दो.उप.८।३।२-५).

२.''सुषुप्तस्थाने एकीभूतः प्रज्ञानघनएव आनन्दमयो आनन्दभुक् चेतोमुखः''.

(माण्डु.उप.५).

३.तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्यो अन्तर आत्मा आनन्दमयः. तेन एष पूर्णः...तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्दः आत्मा... आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन...''.

(तैत्ति.उप.२।५-८).

इदम् अत्र अवधेयं : क्वचित् प्रमाणांशकरणकं प्रमेयरूपयोः इष्टतत्साधनयोः आवश्यकतत्साधनयोः वा ज्ञानं, क्वचित् प्रमेयांशकरणकं प्रमाणरूपयोः इष्टसाधनतावश्यकतयोः ज्ञानं, क्वचित् साधनांशकरणकं फलरूपयोः अभीष्टतावश्यकतयोः ज्ञानं, क्वचित् फलांशकरणकं साधनरूपयोः इष्टसाधनतावश्यकसाधनतयोः ज्ञानं, यथायथं च अवतारानवतारकालभेदैः सम्भवति. अवतारकाले तु चतुर्णामपि प्रमाणादीनाम् इतरेतरतादात्म्यरूपम् एकत्वमपि साक्षाद् अनुभूतिगोचरताम् आपन्नं सद् योग्याधिकारिणं प्रति समवभासतएव. यथा आहुः "**भगवत्(लीलाप्रतिपादक)शास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयं, भगवत्साक्षात्कारो साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणम्... दर्शनं प्रमाणम् — आविर्भावः(/आविर्भूतः) प्रमेयम्**" (सुबो.१०।२।३८) इति. अथ अनवतारकालेतु तथासाक्षात्काराभावेऽपि चतुर्णामपि प्रमाणादीनां परोक्षा खलु वाचनिकी एकरूपता "**प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि प्रमाणं भगवद्वाक्यम्. वाक्येन प्रवृत्तो साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयज्ञानं च फलानुभवरूपम्. साधनञ्च फलादपि अधिकं फलं च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकमिति. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति, प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्**" (त.दी.नि.प्र.२।२२२) इति महाप्रभुणैव भगवल्लीलाभग-वद्भक्तिमार्गयोः प्रमाणादीनां स्वरूपं सम्यक्तया निरूपितम्. एतेन निजमार्गे प्रमाणादिषु अन्यतमैकावलम्बनवादिनो हि एतन्मार्गप्राकट्यलीलायां विदूषकतयैव भगवता प्रकटीकृता इति निश्चितो राद्धान्तः.

सति चैवं प्रमेयरूपस्य ब्रह्मणएव रूपान्तरं कर्म यथाच "**विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिः उद्गतः तत् कर्म प्रकटं तावद् यावत् फलसमापनं... रूपान्तरन्तु तस्यैव इति अनुवर्तते. यथा कालो रूपम् अक्षरस्य तथा कर्मापि. परम् एतावान् विशेषः कालः स्वतएव प्रकटो अयन्तु पुरुषैः विधिनिषेधप्रकारेण प्रकटीक्रियते. अतो लोकानां हिताहितप्रदाने विशिष्यते. अयञ्च क्रियारूपो धर्मिणो धर्मे प्रवेशात्. कालवद् न स नित्यप्रकटः किन्तु फलदानपर्यन्तमेव**" (त.दी.नि.प्र.२।११०) इति प्रतिपादितं महाप्रभुणैव.

अतो ब्रह्मवादे यत् प्रमाणं तदेव प्रमेयसाधनफलात्मकं, यत् प्रमेयं तदेव प्रमाणसाधनफलात्मना आत्मानं प्रकटयति. तथैव येन साधनेन तत् प्राप्यते तदेव तज्ज्ञप्तौ प्रमाणमपि भवति, यच्च फलत्वेन अभिलषितं तदेव स्वोपलब्धौ साधनतामपि आवहते. तद् उक्तं "**प्रमेयं हरिरेव एकः सगुणो निर्गुणः च सः. गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयः च सः... यथा शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि वेदादिभावापन्नं तथा हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नम् इति**" (त.दी.नि.प्र.२।८४) इति. तेन अन्येष्वेव हि मार्गेषु एतेषां प्रमाणप्रमेयादीनां प्रभेदः. स्वमार्गेतु वाक्पतेः वचनैः असंस्कृतमतिभ्यएव आत्यन्तिको भेदो रोचते, आचार्योपदिष्टोल्लंघनदुर्वासनातः ततश्च प्रमेयमार्ग-फलमार्गपार्थक्यमपि, रोचते तेभ्यो नच एवं निजाचार्यवचनानुगामिभ्यः.

ततएव भगवदप्रवर्तकतां पुरस्कृत्य सर्वेऽपि अन्येषां वादिनां मतेषु प्रतिपन्नाः ये केचन विध्यर्थाः "**तान् सर्वान् एकहेलया स्वमतेन दूषयति कृष्णस्यैव प्रवर्तकत्वं न विध्यर्थस्य, काकतालीयतया पूर्वभावो न हेतुत्वसाधकः. अव्यभिचारस्तु विध्यादीनां नास्ति**" (त.दी.नि.प्र.२।१७७) इत्येवं निरूप्यापि "**साधनानि स्वरूपं च सर्वस्य आह श्रुतिः फलम्. न प्रवर्तयितुं शक्ताः तथा चेत् नरको नहि... अतो वेदेऽपि स्वरूपप्रतिपादकत्वाद् न प्रवर्तकत्वं किन्तु सर्वस्यापि साधनं फलं च आह. तावतैव प्रवर्तकत्वं यदि तदा 'ओम्' इति ब्रूमः**" (त.दी.नि.प्र.२।१८०) इति निरस्तोऽपि स्वरूपपक्षः भगवत्प्रवर्तकतावान्तरव्यापारतया पुनरपि प्रस्थापितः. मन्ये तदेतद् उपलक्षणतया खलु स्वीकर्तव्यम् अन्येषामपि विध्यर्थपक्षाणां भगवत्प्रवर्तकतावान्तरव्यापारतयातु अंगीकारे बाधाभावस्यैव उपोद्बलकत्वात्. यथाच उच्यते "**यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः**"(त.दी.नि.१।६९) इति. अतएव भगवदिच्छानुग्रहयोरेव सर्वत्र मुख्या साधनता. शास्त्रोपदिष्टानां येषां केषाञ्चिदपि वैराग्यसांख्ययोगतपसां वा भक्त्युपासनातीर्थाटानानां वा यज्ञदानादिरूपाणामपि साधनानां साफल्ये तदनुग्रहावान्तरव्यापाररूपतैव अतो अभिमता. तथा वैफल्येऽपि तदिच्छैव मुख्यो हेतुः इति सिद्धान्तः.

सति चैवं शाब्दिकार्थिकादिभेदोपभेदैः विधेः ये बहवो पक्षाः भवन्ति तेषाम् आवश्यकतापक्षेऽपि अतिदेशांगीकारेतु तत्रापि ते भेदोपभेदाः कुतो न सम्भवेयुः ? अतोहि आवश्यकताबोधस्यापि प्रवर्तकत्वाप्रवर्तकत्वेऽपि भगवदनुग्रहेच्छाधीनेएव इति मन्तव्यम्. यथा स्वमार्गे श्रीकृष्णसेवायाः स्वतनुवित्तजात्वधर्मो विहितो वा आवश्यको वा इति विचारे भगवता पुष्टिभक्तिफलदानार्थं जीवस्य वरणे कृते सति सः निर्वोढुं शक्यो नच अन्यथा. यस्माद् भगवदिच्छावैपरीत्येतु श्रीमन्निजाचार्यवंशजाअपि देवलकतागर्ते पतिताः सन्तो भगवत्सेवादर्शनार्थिजनानां वित्तैः वित्तजां, वैतनिकभृत्यानां तनुभिः तनुजां कुर्वाणाः केवलं श्रीकृष्णसेवाप्रदर्शनपराः सन्तो स्वलाभपूजामात्रं प्रवर्धयन्तो अधुना उपलभ्यन्ते. तदेव प्रभुचरणेन सुष्ठु निरूपितम् :

१.'' 'कृष्ण' सेवा इति फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेन (निजलाभपूजाप्रवृद्धचर्थं वित्तदातृशिष्योद्धारार्थं वा) इति ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः तदुक्त्या जीवानाम् अशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणीव अत्र कालपरिच्छेदो अस्ति इति आहुः 'सदा' इति. आवश्यकार्थ 'ण्यत्' प्रत्ययान्त 'कार्य' पदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवति...''

२.''एतेन भक्त्यर्थिषु सदाचारोच्छेदप्रसंगः इति दूषणं निरस्तं वेदितव्यं, येषु जीवेषु यथा भगवदिच्छा तथैव तेषां प्रवृत्तेः आवश्यकत्वात्''.

३.''तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव, तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् स तथा. वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवद् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि''.

(सि.मु.वि.१, भक्तिहेतुनिर्णये तथा भक्तिहंसे).

हन्त ! सति चैवं मर्यादाप्रवाहमार्गीयजीवानामपि पुष्टिमार्गीयरीत्या भगवत्सेवायाः अकरणे अकरणरूपः प्रत्यवायो भवति चेत् तदा पुष्टिजीवानामपि मर्यादामार्गीयितरदेवार्चनाद्यकरणे प्रत्यवायिता कुतो न ? अथ यथोपदिष्ट-तनुवित्तज-सेवायाः अकरणेऽपि पुष्टिमार्गानुगामिनां भक्तिमार्गीयत्वेन न प्रत्यवायिता भवेत् तदा अन्यान्यमार्गानुगामिनामपि भगवत्सेवाद्यकरणेऽपि प्रत्यवायो मा भूत्, भिन्नमार्गांगीकृतेः तुल्यत्वात्. अथ यद् न्यूनाधिकं भगवानेव पूरयति इति हेतुः तदा मार्गान्तरेष्वपि कुतो न तथा ?

अत्र अयं सैद्धान्तिकः आशयः प्रतिभाति : अशेषजीवानां भगवद्दासत्वेन भगवत्सेवायाः या सहजधर्मत्वोक्तिः तस्य तथात्वेऽपि भगवतैव मनसा प्रावाहिकी, वचसा मार्यादिकी, धर्मिस्वरूपेण पुष्टिसृष्टिः प्रादुर्भावितेति सच्चिदानन्दब्रह्मणः चिदंशदृष्ट्या भगवत्सेवायाः सहजधर्मत्वेऽपि विभिन्नमार्गेषु जीवानां भगवत्कृतवरणेन यस्मिन् मार्गे यो जीवो भगवता अंगीकृतः तन्मार्गीयधर्माणामेव तदुत्तरं तस्य कृते सहजधर्मता. तथाच चिदंशानां तत्तन्मार्गेषु अंगीकारात् पूर्वं ये गुणदोषाः तेषां लीलायाम् अन्यथाकरणं भगवदीप्सितमेव. पुष्टिमार्गेतु अंगीकृतानां जीवानां भगवत्सेवायाः सहजधर्मत्वोक्तिः नहि वैष्णवकुले आचार्यकुले मनुष्यदेहधारितया पुरुषरूपतया स्त्रीरूपतया वा जन्मग्रहणमूलिका, नृदेह-लिंग-कुल-वर्णादयस्तु ''**प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थः तैः न युज्यते सोऽपि तैः तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः**'' (पु.प्र.म.२६) इत्युक्तेः पूर्वजन्मकृतकर्मवशादेव अंगीकृताः. नापि बाह्याभ्यन्तरकरणोपहितसूक्ष्मशरीरवद्जीवतया भगवत्सेवायां वैकुण्ठादिषु सेवौपयिकदेहोपलम्भे अननुवर्तनात्. तस्माद् जीवानां ब्रह्मणः चिदंशत्वं यथा निरुपाधिकं तथा भगवत्सेवापि निरुपाधिकः स्वधर्मः. अन्यमार्गीयजीवानां सृष्टिलीलायां भगवदभिलषितप्रकारेण, स्व-स्वकर्मणा नृदेह-लिंग-वर्णादिविशिष्टदेहावाप्तिः वा पशुपक्षिमीनकीटादिभेदैः शरीरावाप्तिः वा भवेत् तथानुगुणो स्वधर्मभेदो भवति. एतावता पुष्टिजीवानामपि अन्ये धर्माः देहाद्युपाधिमूलकाएव नतु अनौपाधिकाः. भगवत्सेवातु पुनः निरुपाधिको धर्मः. तस्माद् यथा तस्य निरुपाधिकतायाः भंगो न भवेत् तथा यत्किमपि न्यूनं वा अन्यथा वापि जातं सकलं भगवता सम्पूर्यते.

निरुपाधिकताभंगे तु बाह्यरूपेण भगवत्सेवायां तादृग्रूपवत्त्वेऽपि नैव आत्मधर्मतेति **''भगवत्कृतः चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था तदा आसुरो अयं जीवः इति निर्धारः''** (सेवाफ.विव.३) इति उक्तेः. अन्यथाकरणे खलु निषिद्धाचरणात् पाप्मनोऽपि प्रतिपादितत्वादेव. तस्मात् शास्त्रविहितानां वा भवतु शास्त्रोपदिष्टावश्यकानां वा कर्मणां भवतु अकरणे प्रत्यवायिता समानैव.

ननु को भेदः तदा अवशिष्यते द्वयोः यावता उभयत्र प्रवर्तकतातु भगवतएव न वचनानाम् ? इति चेद्, विहितत्वेतु भगवत्प्रदत्ताहंकारोपाधिकज्ञाने-च्छाप्रयत्नानां लीलेच्छया प्रकटितं स्वल्पस्वातन्त्र्यम् अनुभूयते. न तत्र भगवत्कृपायाः कश्चन मुख्यो व्यापारः. आवश्यकतया उपदिष्टस्य धर्मस्य निर्वाह्यत्वे भगवदनुगृहीतमतिकृतिरतीनां जीवानां भगवत्कृपैकावभातः आवश्यकतासम्प्रत्ययो जायते नच स्वस्वातन्त्र्यम् इति प्रभेदः. तद् उक्तं **''भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः अन्यथाभावम् आपन्नः तस्मात् स्थानात् च नश्यति. 'भक्त्यभावे' इति भगवत्सांनिध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवति इति भावः. एतेन भक्तेः आवश्यकत्वम् उक्तं भवति''** (सि.मु.वि.२०) इति आचार्याशयस्फुटीकुर्वाणैः प्रभुचरणैः. अतएव उच्यते **''भगवदिच्छाभावेऽपि भजने, भजनमेव परं न निर्वहेद् नतु अनिष्टं किञ्चिद्''** (त.दी.नि.प्र.२।२७१) इति भक्तिमार्गस्य अनुग्रहैकमूलकत्वेन **''ब्रह्मादिदुर्लभ-कथं राधामानापनोदकं कृष्णं तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं नुमः तदीयान् च''** (भक्तिहे.नि.) इति प्रतिपादितम्.

ननु किम् एतावता निष्पन्नं भवेद् यावता कोहि अस्याः राजभोगारात्रिकार्यायाः गाने युक्तो अधिकारी इति निष्कृष्टतया न उच्येत ?

श्रूयतां यद्धि विवक्षितम् अस्मिन् विषये महाप्रभोः. यतो नहि देवलकानां तदनुगामिमूढानां वा अन्धानुगान्धपरम्परा इह पुष्टिभक्तिमार्गे प्रामाण्यपदवीम् आरोढुम् अर्हति. भक्तिमार्गेतु भगवत्सेवाकृते गुरूणां

श्रीमन्महाप्रभु-प्रभुचरणानामेव आज्ञा प्रमाणं, न जातु आधुनिकानां देवलकीभूतानां तद्वंशजानाम्.

तैस्तु निजोपदेशेषु निरूपितो अधिकारी इत्थम्भूतएव —

१.''अच्छिद्रसेवनात् चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः. ननु प्रेम दृष्टे भवति, सर्वथा अदृष्टे कथं प्रेम इति आशंक्य दर्शनोपायम् आह 'अच्छिद्रसेवनाद्' इति. सेवनं स्वयोग्यानुसा-रेण नतु अल्पं बहु वा प्रयोजकम्''.

''स्वयोग्यप्रकारं बोधयितुं 'स्वयोग्ये'इति व्याकुर्वन्ति 'सेवनम्' इति. बहुकरणे भगवति भारेण अल्पकरणे कापट्येन छिद्रसम्भवाद् इति अर्थः''.

२.''वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते... प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्''
(१.त.दी.नि.प्र.२।३१६ तत्रैव आव.भंगे. २.तत्रैव २।२२२).

एतावता यः कोऽपि भगवत्सेवापरः पुष्टिभक्तो भगवतो नीराजनकरणे समर्थः सएव अत्र अधिकृतः. यस्तु केनापि कारणेन असमर्थः स भावनया एतदार्यायाः केवलगानेन वा भजनपरो भवेत्. यस्तु पुनः संस्कृतभाषोच्चारणेऽपि असमर्थः सोऽपि **''मोहन मदनगोपालकी आरती''** (कृष्णदा.कृतपदा.१४५) इत्येवमादिभाषापद्यैरपि नीराजनकाले भक्त्यनुभावरूपं गानं कर्तुम् अर्हत्येव.

नच उपदिष्टप्रकारेण अन्यथाकरणे फलाभावः आपादनीयः विहितकर्मानुष्ठानेऽपि **''यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोदानार्चनादिषु न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तम् अच्युतम्''** इति कर्ममार्गेऽपि भक्त्या भगवदभिवन्दनं न्यूनाधिकदोषपरिहारकं भवति यदा तदा तादृश्यां भक्तौ तत् कुतो न सम्भवेत् ? नच सति चैवं तनुवित्तजायाः अकरणेपि विभज्य च तनुजा आहोस्विद् वित्तजा सेवापि भक्त्या अनुष्ठिता चेद् भगवान्

कुतो तनुवित्तजतया तां सम्पूर्णां न सम्पादयिष्यति इति वाच्यं, यस्तु एवं भगवत्सेवाम् अनुष्ठातुं न शक्नोति तस्य कृते भगवत्कथाधिकारस्य उपदिष्टत्वात्. अन्यथा अनधिकारेऽपि तथा अनुष्ठाने कदाचित् स्वोच्छिष्टं गोपसखायो भगवते ददति स्म तथा स्वोच्छिष्टनैवेद्यनिवेदनेऽपि निरागसं स आत्मानं मन्येत! तत्तु **''न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्''** (सिद्धा.रह.५) इति वचनेन निषिद्धत्वाद् न भगवत्सेवापरेण कल्पयितुमपि शक्यम्. अन्या हि अवतारकालिकी लीलाकथा अन्याच पुन: अनवतारकालिकभक्तै: साकं भगवतो भजनीयरूपस्य लीलाकथा. नचैतावता 'गोमयपायस'न्यायो अनुकरणीय:.

किञ्च श्रीमदाचार्यचरणा: स्वसम्प्रदाये भगवत्प्रमेयबलमेव स्वमार्गे सर्वथा नियामकतया स्वीकृत्य **''सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि, तस्य सर्वम् अशक्यं स्याद् मार्गे अस्मिन् सुतरामपि, कृपायुक्तस्यतु यथा सिद्ध्येत् कारणम् उच्यते''** (त.दी.नि.२।२२६) इति कारणनिरूपणपुरस्सरं कतिपयान् भगवत्कृपैककरणकान् अवान्तरव्यापाररूपान् तांस्तान् उपायानपि तत्र प्रतिबन्धकान् चापि उपदिष्टवन्त:. तेषाम् एतेषाम् उपायोपदेशानां स्वसम्प्रदाये विधिनिषेधबलानंगीकारे भृशम् आनर्थ्यक्यमेव प्रसज्येत. सार्थक्ये तु एतैरेव उपायै: अनुष्ठीयमानै: अधुना भगवत्संगोपलब्धि: सुशका इति. इयमीदृशी हि वाक्पतिनो भगवन्मुखावतारेण श्रीवल्लभेन समुपदिष्टा साधनासरणी. अवतारिणो भगवत: श्रीकृष्णस्यतु किल कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वेन असाधनमपि साधनं, साधनं च असाधनं, कर्तुं सर्वविधसामर्थ्यवत्त्वेन प्रमेयबलं विधिनिषेधनिरपेक्षमेव. तेन अनवतारकाले पुष्टिलीलामार्गे अनन्यावलम्बनाय य: खलु भगवत्प्रपत्त्यै उपनीत: तस्य च कृपैकावान्तरव्यापाररूपेषु उपायेषु मार्गाचार्यै: नियोजनम् **''यथा सौम्य! पुरुषं गन्धारेभ्यो अभिनद्धाक्षम् आनीय तं ततो अतिजने विसृजेत्... तस्य यथा अभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयाद् 'एतां दिशं गन्धारा - एतां दिशं व्रज' इति स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेव उपसम्पद्येत. एवमेव आचार्यवान् पुरुषो वेद'', ''यो अन्तर्बहि: तनुभृताम् अशुभं विधुन्वन् आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति''**

(छान्दो.उप.६।१४।२, भाग.पुरा.११।२९।६) इत्येवमादिश्रुतिपुराणवचनेभ्य:.

तस्य अधिकारिण: स्वरूपं आचार्यज्येष्ठात्मजै: प्रभुचरणै: **''पुरुषस्य अविशेषेण''** इत्यारभ्य मध्ये **''माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां शास्त्राणाम् उपयोगो अत्र, तत्र आकांक्षा गुरो: भवेत्. कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासु: आदरात्''** इति श्रेयस्कामेन यथोक्तलक्षणवतो गुरो: उपलम्भे सति तस्य गुरोरपि कर्तव्यतया **''अनुग्रहे नियोज्यो अत: संग्रह: श्रुतिसंमते:, महतां समयो मानं महान्तो अत्र हरे: प्रिया:''** (साध.दीपि.७-५५) अधिकारिस्वरूपनिर्धारपूर्वकं तादृक्स्वरूपवतो अधिकारिण: कर्तव्यतया **''ततो राजविभूतीनाम् आदर्शै: चामरै: भजेद् गीताद्युत्सवतो हि एनं नीराज्य च प्रणम्य च''** (साध.दीपि.११३) इति नीराजनविधि: उपदिष्टइति, विहितो हि भगवतो नीराजनस्य मध्याह्नसेवायां विनियोग: तत्र यद्यपि आर्यागानोल्लेखो नोपलभ्यते तथापि **''विधिमन्त्रयो: ऐकार्थ्यं प्रवर्तकत्वम्. तत्र हेतु: 'ऐकशब्द्याद्'... अपिवा प्रयोगसामर्थ्याद् मन्त्रो अभिधानवाची स्यात्... मन्त्रो अभिधानवाची केवलं धर्मप्रमितिमेव जनयति न विधायक:... प्रयोगे प्रवृत्तस्य व्यापारनिश्चयो विधिस्तु पूर्वसिद्ध: तेनैव प्रवृत्तत्वात् कृतिसमये... प्रमितिमेव जनयति''** (भावा.पा.भा.२।१।३०-३१) इति न्यायेन नीराजनौपयिकां भक्तिभावनां प्रमापयति. तेन अत्र नीराजनविधे: तन्मन्त्रोपमाया: आर्याया: च भजनविधि: अधिकारिविधि: च मिथ: एकवाक्यतया अवगम्यते.

अतोहि अनुग्रहमात्रसापेक्षे हि एतस्मिन् सम्प्रदाये प्रथमावलम्बनीयतया नि:साधनभावेन शरणागति: समर्पणं भगवत्सेवा भक्त्यौपयिक: सर्वात्मभाव: च अपेक्ष्यन्ते. तत्र चतुर्ष्वपि एतेषु उपायेषु यथायथं श्रुतिस्मृतिपुराणतन्त्रादिशास्त्रोक्तान् विधिनिषेधानपि आचार्यो अस्माकं योजयामास. एतेन जीवात्मसु परमात्मना अनुग्रहे कर्तव्ये जीवानुष्ठितोपायानां भगवतो नैर्भर्यं नास्ति, तेषामेव उपायानां भगवदुपलब्धौ भगवदनुग्रहैकनिर्भराणां जीवानां भगवत्संगोपलब्धये शास्त्रोक्तविधिनिषेधावपि नात्यन्तम् अनुपादेयौ भवत:. ततएव सर्वात्मभावेन

अनन्यशरणागतेः उपदेशं प्रथमं तावत् चकार. तस्मात् शास्त्रोक्तकर्तव्यनैर्भर्ये न जीवात्मनां निजाहंकारनैर्भर्यं निजममकारहेतुकफलेप्सानैर्भर्यं वा अपेक्ष्यते. अपेक्ष्यतेतु भगवदाज्ञप्तानां ज्ञानकर्मभजनकथादिधर्माणामपि भगवद्रूपत्वेनैव नैर्भर्यमिति भगवदितरनैर्भर्यशंकापिशाची न क्वापि इह अनन्यशरणागतेषु जीवात्मसु प्रभवति इति आविश्चकार. तथाच उक्तं **''ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणो द्वयोरपि एकएव अर्थो 'भगवच्'छब्दलक्षणः''** , **''कालेन नष्टा वाणी इयं 'वेद'संज्ञिता मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः''** (भाग.पुरा.३।३२।३२, ११।१४।३) एतेन त्रयाणामपि कर्मज्ञानभक्तिरूपोपायानां भगवदात्मकतां निराबाधां जानन् निजाहंकार-ममकाराभ्यां तान् अशबलीकुर्वन् सर्वात्मभावेन भगवच्छरणागतो जीवो अनन्यभावेनैव भगवन्तम् आश्रयति भजति च. सएव अधिकारी एतदार्यागानस्य इति सुस्पष्टम्.

अथ केवलप्रमेयबलेनैव भगवत्प्राप्तिः सुलभायते चेद् मार्गेऽस्मिन् पुष्टिमार्गीयगुरोः सकाशात् शरणागति-ब्रह्मसंबन्ध-दीक्षयोरपि अनावश्यकता भगवत्सेवाकथादेरपि अकिञ्चित्करतैव सिद्ध्येदिति एतदुपदेशमूलकतया सर्वनिराकरणेन पुष्टिभक्तिसम्प्रदायप्रवर्तनेन महाप्रभोरपि एतैः अहोभावुकैः पुष्टिसम्प्रदायस्येव अजागलस्तनरूपता प्रसाधिता हन्त!

तेन यः कश्चन स्वमार्गीयः स्वगृहाधिष्ठितभगवद्विग्रहसपर्यायां स्वतनुवित्तपरिजनविनियोगे तत्परः आत्मनिवेदी सो अत्र अधिकारित्वेन संगृह्यते. ननु साधनदीपिकाकारैः द्विजभक्तानां कृते किल एतादृशः क्रमो दर्शितः अद्विजानां कृतेतु **''शूद्रस्तु हिंस्रकार्येण निषिद्धस्य अशनेन च निवृत्त्या असौ भजेत् कृष्णं महद्भिः अनुकम्पितः, सहितं हरिभक्तानां ब्राह्मणानां...पादसेवा च महताम्''** (साध.दीपि.७४-७५) इति भगवत्सेवानुकल्पतया द्विजभक्तानां सेवैव तेषां कृते आदिष्टा. अधुनाच प्रायशः सर्वेषां अद्विजप्रायस्त्वेन न भगवत्सेवायां तेषां कृते नीराजनानुज्ञा मन्तुं शक्या, ऋते गुरुभूतगोस्वामिनाम् आचार्यकुलोद्भूतानाम् इति चेद् न, अधुनातु आचार्यवंशजाअपि प्रायः निजपरिवारोदरपोषणाय आजीविकार्जनोपायत्वेन

भगवत्सेवाप्रदर्शकाः जघन्याः देवलकाः सञ्जाताइति अद्विजेभ्योऽपि अपावित्र्याधिक्यहेतोः अनधिकारिणएव सिद्ध्येरन्. अतो नीराजनकर्मणि तेषामपि अधिकारपराहतिः अर्थाक्षिप्ता अवगन्तव्या. वस्तुतस्तु **''हरिमेव भजेत् प्रेम्णा तेन शुद्ध्यति सत्वरं न वेदश्रवणं कार्यम्''** (साध.दीपि.७६-७७) इति अद्विजानामपि नीराजनाद्यंगोपांगविशिष्टे श्रीहरिभजने अधिकारो न न अभ्युपगतएव. ग्रन्थोत्तरभागे मंगलाराजभोगसायंशयननीराजनविधौ रजस्वलानां द्विजस्त्रीणामिव तथा अशुचिपुंसामिव च अद्विजानां भगवन्मूर्तिदर्शनस्पर्शननिषेधाश्रवणेन दोषाभावात् च. एतेन भगवत्प्रसादविक्रयार्थं दर्शनार्थिजनतातो द्रव्यग्रहणेन अस्वीयबहुनैवेद्यार्पणरूपां भगवत्सेवां निर्वहतान्तु यदि द्विजत्वमेव तावद् नोपपद्यते, तदा गुरुत्वस्यतु कथैव का? तथाहि **''लवणं तनया लाक्षा पतनीयानि विक्रये पयो दधि मद्यं च हीनवर्णकराणि तु''** (याज्ञ.स्मृ.३।३।४०) **''सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च, त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्''** (मनुस्मृ.१०।९२) इति अलम् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवतो हि पुष्टिसम्प्रदायेऽपि प्रावाहिकजीवानां प्रकटीकरणलीलावशाद् जातानां पुष्टिलीलान्तःपातिनाम् अस्मदीयानां स्वरूपविमर्शेन. तद् उक्तं प्रभुचरणैः **''कृत्याकृत्यं न जानाति धर्माधर्मं तथा पुनः... भ्रान्तः चेद् भवति प्रायः स 'प्रावाहिकः' उच्यते. तस्मात् प्रावाहिका भक्तिः न कर्तव्या कदाचन. विचारो अत्र न कर्तव्यः श्रीमदिच्छा बलीयसी''**, **''निवेदितात्मभिन्नेषु सदा औदासीन्यम् आचरेत्. प्रावाहिकाः तेऽपि चेत् स्युः उपेक्षैव उचिता तदा''** (भक्तिजीव.५-८, रक्षास्म.६-७) इति.

("किम्प्रयोजनकं च एतद्गानम्?)

सिद्धो हि अधिकारीति इतःपरं प्रयोजनं खलु विचारणीयम् : सेयं राजभोगारात्रिकार्यायाः भगवतो निरोधलीलासामयिकस्वरूपवर्णनपरत्वं प्रयोजनांगतया च प्रसाधनीयं **''भक्त्यन्ते भगवान् साक्षाद् आविरासीद् इति ईर्यते, भक्तिवद् रूपसम्पत्त्या सर्वान् मोचयितुं क्षमः...वस्तुतः सकला भक्तिः पुष्टावेव उपयुज्यते पुष्टौ रूपं पराकाष्ठा...''** **''निरोधो अस्य अनुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः, शक्तिभिः दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्य... भक्ताः पूर्वत्र**

निर्दिष्टाः ते रोद्धव्या विमुक्तये. कृष्णे निरुद्धकरणाद् भक्ताः मुक्ताः भवन्ति हि भक्तेः च शुद्धयतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद् विनिवारणम्. आसक्तिः आत्मनि तथा निरोधार्थं न संशयः'' (त.दी.नि.३।९।१७२-१७६,१०।१४-१७) इति महाप्रभुवचनानुरोधात्. तस्याश्च पुनः निरोधलीलायाः **''तस्माद् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः न अन्यथा भवेद्''** (पु.प्र.म.१२) इति वचनादपि पुष्टिसृष्टौ उत्पन्नस्य जीवस्य तदुद्धारकस्य भगवतश्चापि अन्योन्यस्मिन् अनिरोधे भगवद्रूपेण उद्धारएव न स्यादिति, पुष्टसृष्ट्युद्धारके भगवतो बाह्याभ्यन्तररूपयोः पुष्टिभक्तानां च तस्मिन् सर्वतो निरोधसम्पादकं गुणगानं आर्यामिषेण यत् प्रकटीकृतं तदर्थानुसन्धानाय उपक्रमणीयम्.

आरात्रिकार्यायाः प्रयोजनन्तु आर्यान्तिमे चरणे **''रतिः अस्तु मम व्रजराजसुते''** इति कण्ठोक्तमेव तावद् अवधारणीयम्.

नच भगवत्प्रेमसेवातएव एतस्याः सिद्धत्वेन आर्यापाठेन सेवायां विशेषाधानानवधारणाद् अत्यल्पम् इदम् उच्यते! इति वाच्यं, नहि व्रजराजसुते सामान्यरतेः आशंसा इह प्रभुचरणैः प्रकटीकृता किन्तु अनितरसाधारणायाएव! सातु विशेष्यीभूतव्रजराजसुते प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलभेदैः तद्बाह्याभ्यन्तरस्व-रूपलीलानुभूतौ अतिशयितनिरोधरूपैव. अतोहि एतस्याएव त्रयोदशविशेषणैः विशिष्टायाः भगवद्रतेः अतिशयिताशंसा इह विद्योतिता. साचेयं पुष्टिभक्तिमार्गे फलात्मकनिरोधरूपा **''ज्ञानन्तु गुणगानं हि परोक्षे तत् प्रतिष्ठितं प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठम् एवं चेद् रोधनं स्थिरम्''** (त.दी.नि.३।१०।११०-१११) इति वज्रभक्तानां फलात्मकनिरोधतया महाप्रभुभिः प्रतिपादितेति. यस्माद् **''...भगवति तस्मिन् वासुदेवे एकान्ततो भक्तिः... यस्यामेव... परया निर्वृत्त्या हि आपवर्गिकम् आत्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमेव आसादितं नोएव आद्रियन्ते भगवदीयत्वेन परिसमाप्तसर्वार्थाः''** (भाग.पुरा.५।६।१६-१७) इति भगवदीयतायाः अनितरसाधारणं माहात्म्यं भक्तिमार्गे अंगीचकार श्रीमद्भागवतकारः. तत्र साधनात्मकनिरोधापेक्षायामपि तद् भगवदीयत्वं पुनः

''पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं धर्मो अर्थो हरिरेव हि कामो हरिदिदृक्षैव, मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्'', **''अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति मे मतिः''** (वृत्रा.चतु.व्या.१, चतुश्लो.४) इति श्रीभागवत-महाप्रभ्वोः वचनयोः ऐकवाक्यानुरोधाद् भक्तिमार्गीया जीवन्मुक्तिरेव अवतारानवतारकालसाधारणी. इह साधनफलयोः ऐक्यबोधानात् तदुपलब्धिनान्तरीयकैः लौकिकप्रमाणोपकरणैः स्वज्ञानेच्छाप्रयत्नरूपैः, तथैव अलौकिकप्रमाणोपकरणैः ज्ञानभक्तिकर्मरूपैः, अवगम्यमानं प्रमेयमपि मिथः एकवद्भावापन्नमिति अर्थापत्त्यैव लभ्यतइति. एवं चतुर्णामपि भगवति निरोधैकपर्यवसायित्वेन तस्याएव आशंसा इह **''रतिः अस्तु''** इत्यनेन प्रतिपादिता. तथाहि :

(नन्दगोपव्रजे प्रादुर्भूतस्य भगवतो भक्तनिरोधकृद्-बाह्यस्वरूपगुणगानं द्वाभ्याम्)

इह श्लोकद्वयेन ऐश्वर्यादिषड्धर्मोपेतो धर्मी सप्तभिः विशेषणैः विशिष्टो निजबाह्यस्वरूपेण संयोगसुखानन्ददानपरो व्रजराजसुतो गीयते, **''बाह्याभावेतु आन्तरस्य व्यर्थता''** (सुबो.१।६।०।२) इति वचनात् :

व्रजराज - विराजित - घोषवरे वरणीय - मनोहर - रूपधरे[धर्मी] ॥
धरणी-रमणी-रमणैकपरे[ऐश्वर्यं] **परमार्ति-हर-स्मित-विभ्रमके**[यशः] ॥१॥
मकराकृति-कुण्डल-शोभिमुखे[ज्ञानं] **मुखरीकृत-नूपुर-हृद्यगतौ**[श्रीः] ॥
गतिसंगत-भूतलताप-हरे[वीर्यं] **हरशक्र-विमोहन-गानपरे**[वैराग्यं] ॥२॥

व्रजराज-विराजित-घोषवरे इति अक्षरब्रह्मात्मके नन्दगोपव्रजे इति अर्थः. नच प्राकृतप्रपञ्चस्यैव अक्षरब्रह्मात्मकत्वे अभ्युपगते व्रजराजविराजितघोषे को विशेषः? इति आशंकनीयम्, **''यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी... गोकुलं वनवैकुण्ठं... गोपरूपो हरिः साक्षाद्''** (कृष्णोप.३-१०) इति उपनिषदा **''अह्न्यापृतं निशि शयानम् अतिश्रमेण लोके विकुण्ठ उपनेष्यति गोकुलं स्म''** (भाग.पुरा.२।७।३१) इति श्रीभागवतेनापि व्रजस्य नूतनं

किमपि वैलक्षण्यं भगवत्प्रादुर्भावहेतुकं प्रसाधितमेव. अतएव **''तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् हरेः निवासात्मगुणैः रमाक्रीडम् अभूद्''**, **''नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो नृप! अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः''** (भाग.पुरा.१०।५।१८, १०।२६।१४) इति दशमे निरूपितम्. ननु भगवत्प्रादुर्भावस्तु तत्र जातो वर्णितश्च इति तत्क्रीडम् अभूद् इति युक्तं तत्स्थाने रमाक्रीडम् अभूद् इति निरूपणस्य को हेतुः ?

तदेतद् महाप्रभुणैव समाहितं :

> **''यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव... तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपं... साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा... यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत् करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति... अनेन अवतारेषु भोग्या लक्ष्मीरूपाएवेति स्वरूपतः आवेशतो वा''**.
>
> (सुबो.२।९।१३-१४)

तस्माद् नन्दगोपेन अलंकृतस्य घोषस्य दिव्यं श्रैष्ठ्यं चकास्ति, तत्र **वरणीय-मनोहर-रूपधरे** इति, धर्मीभूतस्य नटवरवपुषो भगवतो रूपद्वयम् इह निरूपितम्. आद्यं प्रत्यग्रभोक्तृभूतवररूपं बाह्यं तावद् 'वरणीय'पदेन. द्वितीयं रसनाटनपरं आन्तरं परोक्षं 'मनोहर'पदेन. तत्र द्वितीयेन पदेन विप्रयोगात्मकसाधनरूपा निरोधकारिता व्रजलीलायां भगवद्गृहीते रूपे द्योतिता. आद्येन 'वरणीय'पदेन संयोगात्मकफलरूपा निरोधकारिता च. रूपे मनोहरत्वं इतरासक्तिनिवारणेन हठात् स्वासक्तिसम्पादकत्वं यथाच अस्मत्तातचरणसुहृद्भिः प्रतिवादिभयंकर-रामानुज-पीठाधिष्ठितैः श्रीमद्भिः अण्णंगराचार्यैः तातचरणाय ग्रन्थोपायनलेखतया तत्र लिखितं **''गणिविडम्बनि तस्य मनोहरे वपुषि मग्नमना मुनिमण्डिली जपम् अमुञ्चत होमम् अमुञ्चत व्रतम् अमुञ्चत सर्वम् अमुञ्चत''** इति. इत्थम्भूतेन रूपेण तावद् मनसो हरणं न मनःस्वभावानुपाति

किमुत त्रैलोक्यसौभगमनोहररूपवैशिष्ट्यानुपात्येवेति इतरासक्तिवारणेन निरोधपूर्वांगसम्पत्तिः उक्ता. तादृशो मनसो वरणीयरूपालाभे अनिरुद्धतैव तिष्ठेदित्यतो तदनु वरणीये रूपे निरुद्धता भृशं फलायते. तद् उक्तं **''भक्तानाम् अनुग्रहार्थमेव भक्तसमानरूपं देहम् आस्थितो, विजातीये तेषां विश्वासो न भवेदिति. ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय मानुषो देहः प्रदर्शितः एवं गोपिकानामपि अनुग्रहाय स्वानन्दं गोकुले दातुं तादृशीः क्रीडाः भजते''** (सुबो.१०।३०।३७) इति. एतादृग्वरणीयरूपलाभेतु **''तावद् भयं द्रविण-देह-सुहृन्-निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः तावद् 'मम'इति असदवग्रहो आर्तिमूलं यावद् न ते अंघ्रिम् अभयं प्रवृणीत लोकः''**, **''... 'वृणीत' इति यथा कन्या वरं वृणीते स्वेष्टपूरकत्वेऽपि स्वयमेव तदीया भवति नतु स स्वकीयः. 'लोकः' इति विशिष्टाधिकारी''** (सुबो.३।९।६) इत्यत्र उक्तं भक्तकृतं भगवद्वरणं मुक्तिरूपफलं भगवदीयत्वापरपर्यायरूपं ज्ञेयम्. तादृशे घोषवरे वरणीय-मनोहर-रूपधरे नन्दनन्दने मम रतिः अस्तु इति उत्तरेण अन्वयः.

धरणीरमणी-रमणैकपरे इति, धरण्येव रमणी धरणीरमणी यथाच उच्यते **''किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिता अंगरुहैः विभासि''** (भाग.पुरा.१०।२७।१०) इत्यत्र. अथवा रमांशरूपा रमाविष्टा वा धरण्यां जाताः याः रमण्यो यासां शृंगारिकरसे भगवता रमारूपा हि आत्मरतिः, मूर्तौ देवतेव प्रतिष्ठापिता, ताएव सर्वात्मभावत्यो भवन्ति. तथाच उक्तं **''यत् पत्यपत्यसुहृदाम् अनुवृत्तिः... अस्तु एवम् उपदेशपदे त्वयि ईशे प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुः आत्मा... कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्''** (भाग.पुरा.१०।२९।३२-३३) इति, सर्वात्मभावतीभिः सह रमणैकपरे तद् उक्तं **''कृत्वा तावन्तम् आत्मानं यावतीः गोपयोषितः रेमे स भगवान् ताभिः आत्मारामोऽपि लीलया''** (भाग.पुरा.१०।३०।२१) इति. अतो ज्ञायते भगवता रमारूपा आत्मरतिः तासां वात्सल्य-सख्य-शृंगारादिरतौ प्रतिष्ठापिता, मूर्तौ देवतावद् इति.

ततः व्रजभक्तैः साकं रमणैकपरे भगवति. **परमार्ति-हरस्मित-विभ्रमके**

इति, स्मितसहितविभ्रमकस्य परमार्तिहरत्वेन परमं यशः. यथा एतद् **''कृत्स्नगोधनम् उपोह्य दिनान्ते गीतवेणुः अनुगेडितकीर्तिः उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनाम् उन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् दित्सया एति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूः उडुराजः''** (भाग.पुरा.१०।३३।२२-२३) इत्यत्र वर्णितो विभ्रमो गोपीजनैश्च गीतोऽपि. तद्वतो भगवतो वृन्दावने या गोचारणलीला तत्कृता च या गोष्ठे परमार्तिः तदपहारकस्य स्मितस्य यद् विलक्षणं यशः तद्युक्ते भगवति रतिः अस्तु इति पूर्ववत्.

ननु *निरोधो न तावत् प्रपञ्चप्रविलयात्मको हि अत्र अभिमतः. ततो विद्यमाने खलु प्रपञ्चे, विद्यमाने च प्रपञ्चमध्यपातिषु भगवच्चिदंशेषु, तेषां तत्र संसृतिजनकेषु हि अविद्यायाअपि स्वरूपाज्ञानादिपञ्चपर्वस्वपि विद्यमानेषु सत्सु, तन्नाशिकां वैराग्यसांख्ययोगतपोभक्तिरूपां पञ्चपर्वात्मिकां विद्यां ऋते मोक्षोपमो निरोधः कथंनु सम्भवेत्? यदपि महाप्रभुणा उक्तं **''भक्तिवद् रूपसम्पत्त्या सर्वान् मोचयितुं क्षमः...'' ''भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टाः ते रोद्धव्या विमुक्तये. कृष्णे निरुद्धकरणाद् भक्ताः मुक्ताः भवन्ति हि. भक्तेश्च शुद्धचतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद् विनिवारणम्; आसक्तिः आत्मनि तथा, निरोधार्थं न संशयः''** (त.दी.नि.३।९।१७२-१७६, १०।१४-१७) इति तदपि कथम् उपपद्येत? नच अवतीर्णभगवद्रूपे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यस्य सद्भावादेव न काचिद् अनुपपत्तिः इति वाच्यं, तथा सामर्थ्यवत्त्वेऽपि संसृतिजनकाविद्या-तन्नाशकविद्ययोः नाशात्मक-कार्यकारणभाव-भंगप्रसंगस्तु दुष्परिहरएव स्याद्* इति चेद् न, **''विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ते जीवस्यैव न अन्यस्य दुःखित्वं चापि अनीशता''** (त.दी.नि.१।३१) इति उक्तेः स कार्यकारणभावनिर्बन्धो हि अनीशेषु जीवेष्वेव न पुनः सर्वेशे भगवति. अतएव निबन्धारम्भएव —

> **''सएव परमकाष्ठापन्नः कदाचिद् जगदुद्धारार्थम् अखण्डः पूर्णएव प्रादुर्भूतः सन् 'कृष्णः' इति उच्यते. ननु पूर्वं साधनानि सिद्धान्येव सर्वत्र, तत्र अनधिकारेण साधनाभावे भगवानपि अवतीर्य किं करिष्यति? इति आशंकायाम् आह 'अद्भुतकर्मणे' इति. भगवतो अद्भुतकर्मत्वम्... असाधनं साधनं करोति इति''.**
>
> (त.दी.नि.प्र.१।१).

इति महाप्रभुणैव समाहितत्वेन 'साधननिरोधः' तावद् जीवोद्धारार्थम् अपेक्षितसाधनानां भगवति जीवानुष्ठिततानैरपेक्ष्यमेव. यथा प्रबलप्रवाहे निमज्जतो तरणासमर्थस्य उद्धरणे तत्समर्थस्य जलप्रवाहे तरणसामर्थ्यं, तादृशस्य समर्थस्यापि पुनः इतरतारणसामर्थ्याभावे उद्धारकत्वानुपपत्तिवत् च. अतो विद्यायाः पञ्चानामपि पर्वाणां व्यापारो भगवत्येव संनिरुद्धइति न भगवान् भक्तेषु तदनुष्ठानम् अपेक्षते. तद् उच्यते **''भगवान् निरोधलीलाम् एतदर्थं कृतवान्. यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टः तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा तेभ्यः तान् मोचयति''** (सुबो.१०।२५।३) इति. तदेव इहापि वर्णयन्ति **मकराकृति-कुण्डल-शोभिमुखे** इति व्रजराजसुतविशेषेण. तद् उपपादितं **''भृत्यानुकम्पितधिया इह गृहीतमूर्तेः... भगवतो वदनारविन्दं यद् विस्फुरन्मकरकुण्डलमण्डितेन''** (भाग.पुरा.३।२८।२९) इत्यस्य सुबोधिन्यां :

> **''तदेव वदनारविन्दं ध्येयं यत् सर्वजनीनं; तदैव च सर्वजनीनं भवति यदि भूमौ अवतरति. अवतारश्च तदैव भवेद् यदि भृत्यानां दुःखं भवति. तद् आह 'भृत्यानुकम्पितधिया गृहीता मूर्तिः' येन. अवतीर्णस्य अन्यथाशंकाव्युदासाय आह 'भगवतः' इति. दृष्टिमात्रेणैव तापापनोदनाद् अरविन्दत्वम्. तद् मुखारविन्दं... यद् मुखारविन्दं विशेषेण स्फुरती मकराकृते कुण्डले ताभ्यां मण्डितेन गण्डयुगलेन... नवविशेषणानि मुखे निरूपितानि नवरसजननाय सर्वेषां वशीकरणाय, नवविधा भक्तिश्च निरूप्यते. मुखम् आनन्दरूपस्य भगवतो भक्तिरसात्मकं फलं भवति... कपोलौ च भक्तिरसानुभवे भक्तानां समाजस्थानमेव भवति; तत्र क्रियापराः ज्ञानपराः**

च भक्ता: उल्लसन्ति. सांख्ययोगौ मकरकुण्डले... सांख्ययोगयो: यो अयम् अनुभाव: तद् वल्गितम्. तेन विद्योतितत्वं क्रियाज्ञानशक्त्या आविर्भाव:...''.

(सुबो.३।२८।२९).

एतेन विद्याया: साधनरूपाणां निखिलानामपि पर्वाणां भक्तिफलात्मके भगवन्मुखारविन्दे निरोध: ज्ञानवैराग्यरूप-साधननिरोधात्मना अवगन्तव्य:. तद् उच्यते :

''जातश्रद्धा मत्कथासु निर्विण्ण: सर्वकर्मसु वेद दु:खात्मकान् कामान् परित्यागेऽपि अनीश्वर:. ततो भजेत मां प्रीत: श्रद्धालु: दृढनिश्चयो जुषमाणश्च तान् कामान् दु:खोदर्कान् च गर्हयन्. प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मा असकृद् मुने: कामा: हृदय्या: नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते... तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेद् इह. यत् कर्मभि: यत् तपसा ज्ञानवैराग्यत: च यद्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभि: इतरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा''.

(भाग.पुरा.११।२०।२७-३३).

एतेन निखिलविद्यापर्वात्मकस्य भक्तिफलानुभावात्मकस्य भगवन्मुखारविन्दस्य या साधननिरोधभावापन्नता लीलायां प्रसिद्धा तां निरूप्य तादृङ्मुखारविन्दवतो भगवतएव फलनिरोधरूपतामपि वर्णयितुम् आहु: **मुखरीकृत-नूपुर-हृद्यगतौ** इति. अत्र 'हृद्यगतौ' इतिपदेन भक्तेभ्यो बाह्यावस्थित: आलम्बनविभावात्मा भगवान् निजचरणधारितयो: नूपरयो: मुखरीकृतध्वनिभि: भक्तहृदयाभ्यन्त:प्रवेशनरूपां यां लीलां करोति सैव हि तस्य हृद्या गति: इति प्रतिपाद्यते. यस्माद् **''यावद् बहिस्थितो वह्नि: प्रकटो वा विशेद् नहि तावद् अन्त:स्थितोऽपि एष न दारुदहनक्षम: एवं सर्वगतो विष्णु प्रकट: चेद् न तद् विशेत् तावद् न लीयते सर्वम् इति कृष्णसमुद्यम:** (सुबो.१०।१।१) इत्यत्र उपपादितां भक्ताभ्यन्त:प्रवेशनरूपां लीलां प्रकटीकर्तुं प्रमेय-फल-प्रकरणगतयो: वेणुगीत-युगलगीतयो: संकीर्तिता भगवत: भक्तहृदयाभ्यन्त:प्रवेशावस्थानयो: लीला इहापि प्रतिपित्सिता. यथाच उक्तं फलप्रकरणारम्भे सुबोधिन्याम् **''बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम्''** (सुबो.१०।२६।०।४) इति 'परम्'=उत्कृष्टम् इति अर्थ:.

अन्ते **गतिसंगत-भूतलताप-हरे हरशक्र-विमोहन-गानपरे** इति विशेषणद्वयेन भगवत: वीर्यवैराग्ये निरूप्येते. तद् उपपादितं महाप्रभुणा **''रमते च रमातोऽपि विशेषेण रतिप्रद:, परोक्षेऽपि रतिं चक्रे तेन वीर्यम् उदीरितम्''** (त.दी.नि.३।१०।पूर्वा.१०१) इति. तथाहि श्रीभागवतेऽपि **''गोप्य: कृष्णं वने याते तम् अनुद्रुतचेतस: कृष्णलीलानुगायन्त्यो निन्यु: दु:खेन वासरान्'', ''एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायती: रेमिरे अह:सु तच्चित्ता: तन्मनस्का महोदया:''** (भाग.पुरा.१०।३२।१, १०।३२।२६) इति. यत्रापि भगवान् गच्छति विहरति वा तत्र सर्वत्र भगवत्येव मनसो निरुद्धत्वेन तल्लीलापरिकराणां मनसां अनुगमनात्मिका तादृशी संगति: जायते. यादृश्या संगत्या भूतलस्थितानां सर्वेषामपि सर्वविधतापापहरणं सिद्ध्यति, **''मानसी सा परा मता... तत: संसारदु:खस्य निवृत्ति:''** (सिद्धा.मुक्ता.१-२) इति उक्ते:. एतेन बाह्यदेशे भगवत: परोक्षतायां भगवद्वियोगजं यद् दु:खं भवतीति दु:खतप्तेन मनसा भगवल्लीलास्थल्यादौ भगवति निरुद्धमनसां स्वारसिकं मनोनिर्गमनं तादृग्दु:खनिवारकं सद् आभ्यन्तरलीलानुभूत्यात्मना सम्पद्यते. तादृश्या तन्निष्पत्त्या परं फलं चापि वर्णितं ज्ञेयम्. तद् उक्तं **''प्रेष्ठ! त्वद्वदनाम्बुजं हृदि समागच्छेत् कथञ्चिद् मम, प्राणान् स्थापयति स्वभावशिशिरस्निग्धालकालिश्रितान्, नोचेत् त्वद्विरहेण दावदहनज्वालायितेन द्रुतं जीर्णा: पञ्चशिलीमुखान्तररुजा गच्छेयुरेव आतुरा:''** (९ विज्ञ.५।१२) इत्यत्र प्रभुचरणेनापि. ततश्च तादृकृतापहरे भगवति रते: आशंसा इति पूर्ववत्.

तस्माद् युगलगीतोदिते भगवद्रूपलीले इह अनुसन्धेये इत्यत: **''सवनश:**

तद् उपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः... कश्मलं ययुः अनिश्चिततत्त्वाः'' (भाग.पुरा.१०।३२।१५) इति कारिकोदिता अस्य फलात्मकस्य भगवतो आन्तररसानुभूतेः देवदुर्लभतापि संसूचिता. तद् उक्तं देवर्षिणापि ''**नैव अद्भुतं त्वयि... ब्रह्मादिभिः हृदि विचिन्त्यम् अगाधबोधैः**'' (भाग.पुरा.१०।६६।१८) इति अगाधबोधैरपि देवैः अचिन्त्यत्वेन तेषु भगवद्वेणुवादश्रवणेन विमोहो जायते : भगवान् लौकिकगोपरूपेण अवतीर्णइति गोपलोकानुवर्तनायैव वेणुवादनमपि करोति आहोस्विद् अन्येनापि केनचिद् अज्ञातेन प्रयोजनेन! व्रजभक्तेषुतु पञ्चपर्वात्मिकायाः विद्यायाः फलं वेणुवादनेनैवेति तत्कृतसाधननिरपेक्षो भगवान् सम्पादयति इति. अयम् आशयः : देवाश्च सर्वे ''**देवाः नारायणांगजाः... दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः**'' (भाग.पुरा.२।५।१५-३०) इति आत्मरतेः भगवतो स्वांगेषु वैराग्यपूर्विका व्रजलीलापरिकरभूतानां गो-गोप-गोपिकासु विद्यायाः पञ्चपर्वाणां फलसम्पत्त्यै यद् भगवद्वैराग्यबोधकं वेणुवादनं तत्परे भगवति रतिः अस्तु इति आशंसा.

एतावान् परं विशेषो व्रजलीलायां शुद्धपुष्टिलीलारूपायां वात्सल्य-सख्य-दास्य-माधुर्यादिभाववतां लीलापरिकराणाम् मध्ये व्रजराजात्मजस्य भगवतो अवस्थानं तेषां तादृक्तादृग्भावालम्बनविभावितरूपेण तेभ्यो बाह्ये भवति; तथैव, तेषां हृदयाभ्यन्तरेष्वपि तादृक्तादृक्स्थायिभावात्मनापि भवत्येव. तस्यैव व्रजराजात्मजस्य वदनावतारेण महाप्रभुणा प्रकटिते पुष्टिपुष्ट्यादिलीलारूपेतु निर्गुणभक्तिमार्गे कीर्तन-पादसेवना-ऽर्चन-वन्दन-दास्य-सख्यात्मनिवेदनानां विषयीभूतो यो भगवद्विग्रहो भजनरसावलम्बनविभावात्मना नाम भजनीयमूर्तितया भक्तबाह्यदेशे खलु अवस्थितो भवति. पुनः श्रवण-कीर्तन-स्मरण-भावनादिभिः निष्पन्नस्य माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोधिकस्नेहरूपस्य भक्तिरसस्य स्थायिभावतयापि भक्तहृदये आभ्यन्तरावस्थितिः तस्य विलसति. तद् उक्तं ''**यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैः वैदिकैरपि**'' (चतुश्लो.३) इत्यत्र. एवम् भक्तिरसालम्बनविभावरूपस्य भगवद्विग्रहस्य भक्तहृदयाभ्यन्तःप्रवेशनरूपां स्वप्रवणचित्ततासम्पादिकायाः लीलायाः तत्कर्तुः च भगवत्स्वरूपस्य गुणगानं कृत्वा इतः परं भक्तिरसस्थायिभावात्मना

भक्तहृदि अन्तःप्रविष्टस्य तस्य 'आसक्तिभ्रम'न्यायेन बाह्यानुभूतिजनिकां लीलां स्वरूपं गुणान् च वर्णयितुम् आरभन्ते :

(नन्दगोपव्रजे प्रादुर्भूतस्य भक्तनिरोधकृद्-आभ्यन्तररतिरूपस्य भगवतो गुणगानं द्वाभ्याम्)

परम-प्रिय-गोपवधू-हृदये दयया दिनताप-हरे सुहृदाम्[वीर्यं] ॥
हृदयस्थित-गोकुल-वासिजने[वैराग्यं] **जन-हृद्य-विहार-परे सततम्**[ऐश्वर्यं] ॥३॥
तत-वेणु-निनाद-विनोद-परे[ज्ञानं] **पर-चित्तहर-स्मितमात्र-कथे**[श्रीः] ॥
कथनीय-गुणाकर-पादयुगे[यशः] **युगले-युगले सुदृशां सुरतौ** ॥४॥

रतिरस्तु मम व्रजराजसुते

परम-प्रिय-गोपवधू-हृदये दयया दिनताप-हरे सुहृदाम्[वीर्यं] इति, 'दयया परमप्रिय-गोपवधू-हृदये सुहृदां दिनतापहरे रतिः अस्तु' इति पूर्ववदेव योजना. अत्र वृन्दावने भगवतो या दिवसकालिकी गोचारणलीला तया जातो यो वियोगरूपः तापः तदपहारकं च सायंकाले भगवतो गोष्ठागमनात् पूर्वमपि भावात्मकं यत् पुनरागमनदर्शनं तदेव वर्णितम्. तद्विषयिण्या भावनया मध्याह्निकसेवोत्तरो यो अनवसरकालिको भगवद्वियोगो तदपहारकश्च उत्थापनकाले पुनः भगवतः संयोगविषयको यो भावः जायते. तत्साधिका च संन्यासनिर्णय-निरोधलक्षणग्रन्थयोः उपदिष्टा व्रजलीलाभावना चापि. तयैव च भक्ताभ्यन्तःस्थितस्य भगवतो बाह्याविर्भावे मनोरथाः तेषु भरोऽपि निरूपितः.

तथाहि :

''**यदुपतिः द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिव एष दिनान्ते मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्**''.

''गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते यथा तथा शुकादीनां नैव आत्मनि कुतो अन्यतः ? क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः, सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः. हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्. तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः सदानन्दपरैः गेयाः सच्चिदानन्दता ततः''.

(भाग.पुरा.१०।३२।२५ , निरो.लक्ष.६-९).

इति, बाह्यावस्थितस्य रसात्मकस्य भगवतो यद्वद् अन्तःकरणे अनुभूतिः फलरूपा तद्वदेव अन्तःस्थितस्य तस्य बाह्यानुभूतिरपि तथेति न लेशतोऽपि तारतम्यं तत्र मन्तव्यम्.

ननु * आन्तरानुभूतिः परमफलरूपा चेत् का वा अपेक्षा बाह्याविर्भास्य यावता **''बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरन्तु परं फलम्''** (सुबो.१०।२६।०।४) इति वचने आन्तरानुभूतेरेव परमफलत्वांगीकारात्.

नच **''यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषाद्''** (ब्र.सू.४।१।११) इत्यस्य भाष्ये **''बहिः आविर्भावो येभ्यः येभ्यश्च अन्तः तेषां मिथः तारतम्यम् अस्ति न वा ? इति तत्र निर्णयम् आह 'यत्र'=भक्तेषु एकाग्रता भगवत्स्वरूपे प्रकटएव एकस्मिन् ग्राहकचित्तधारा नतु अन्तर्बहिर्विज्ञानं तत्र उभयोः अन्तःपश्यतो बहिःपश्यतः च भावे भगवत्स्वरूपे च विशेषाभावाद् न तारतम्यम् अस्ति''** (ब्र.सू.भा.४।१।११) इति बाह्याभ्यन्तरयोः तारतम्यस्य अनंगीकारात् का वा हानिः उभयथापि फलानुभूतेरेव सातत्याद् इति वाच्यं,

''यत् चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यद् इदम् उपासते'', ''स मानसीनः आत्मा जनानाम्

अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'' (केनोप.१।६ , तैत्ति.आर.३।११।१) इति श्रुतिभ्यां ब्रह्मणो बाह्यविषयत्वानंगीकारेण आन्तरत्वोपदेशात् च बाह्यानुभूतेस्तु साधनतायाः अन्यथोपपत्तेः शक्यत्वेनापि फलरूपतानुपपत्तिः * इति चेद्

न, **''प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्''** (बृह.उप.४।३।२१) इति भूमानन्दानुभूतौतु बाह्याभ्यन्तरयोः उभयविधानुभवयोरपि निषेधो दृश्यते, सतु स्वरूपदृष्ट्यैव. लीलायान्तु भगवतो बहिराविर्भावितरूपदृष्ट्या उभयथापि अनुभवस्य शक्यत्वेन भाष्यकारैरपि **''अत्र रसात्मकस्वरूपलाभे सति आनन्दवत्त्वं... स रसस्तु संयोग-विप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवति अनुभूतो नैकतरेण''** (ब्र.सू.भा.४।२।१३) इत्येवं प्रतिपादयद्भिः उभयत्र भगवदनुभूत्यभावे रसानुभूतेः अकृत्स्नतोपपादनात् च. तेच उभे भगवत्संयोगवियोगानुभूती एकतरस्मिन् बाह्यदेशे हृदयाभ्यन्तर्देशे वा भगवत्संयोगस्य या भगवद्वियोगस्य वा अनुभूतिनैरन्तर्ये नैव शक्ये. तस्माद् यथा बाह्यतो वियोगे आन्तरसंयोगः; तथा, बाह्यसंयोगसुखेऽपि रसानुभूतिस्वाभाव्यात् कदाचित् स्वारसिकी वियोगानुभूतिरपि न न शक्या. उपपादितं च एतत् प्रभुचरणैः तथाहि :

''पूर्वम् अनुभावितो यो भजनानन्दः सतु ब्रह्मानन्दतः शास्त्रीयभजनानन्दतः च कोटिगुणाधिको अनिर्वचनीयः च भवति. तथाच सन्निकर्षेतु अग्रिमाग्रिमनूतनरसाकांक्षा तदनुकूलो यत्नः च भवति नतु पूर्वानुभूतलीलास्वरूपतलस्पर्शः कदापि. विप्रकर्षेतु मनआदीनां बहिःस्वविषयालाभे अन्तर्विद्यमानमेव तं गृह्णन्ति तदा यथा बहिःप्रकटात् प्रियाद् रसानुभवः पूर्वम् आसीत् तथा अन्तप्रकटात् प्रियात् पूर्वस्मादपि विलक्षणो रसो अनुभूतो भवति यः संगमेऽपि दुरापः''.

(सुबो.टिप्प.१०।४४।३५-३६).

इति भगवतोऽपि लीलार्थं रसात्मकवपुःप्राकट्ये रसमर्यादानुसरणं भक्तानां कृते लीलारस-भक्तिरसप्रकर्षायैव न जातु अपकर्षाय नचापि एतावता तस्य मायिकत्वम् इति भ्रमितव्यम्. तथाच उक्तं **"तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति"**, **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्"**, **"त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज... यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय"**, **"स्वयं तदन्तर्हृदये अवभातम् अपश्यत अपश्यत यद् न पूर्वम्"** (मुद्ग.उप.३।३ , भग.गीता.४।११ , भाग.पुरा.३।९।११, ३।८।२२) इत्यत्र.

हृदयस्थित-गोकुल-वासिजने [वैराग्यं] इति, ननु *"**ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्**", "**तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते**", "**आत्मैव इदं सर्वम् इति स वा एष एवं पश्यन् एवं विजानन् आत्मरतिः आत्मक्रीडः... आत्मानन्दः**" (बृह.उप.१।४।१० , तैत्ति.उप.२।७ , - छान्दो.उप.७।२६।२) इत्येवमादिवचनेभ्यो ब्रह्मैव सर्वभावापन्नं भवति. साचेयं सर्वरूपता तस्य सुकृतिरूपा न पुनः दुष्कृतिरूपा तस्मात् तस्य सर्वनामरूपकर्मसु आत्मत्वदृष्ट्या आत्मानन्दरूपा आत्मरतिरूपा भगवतः आत्मक्रीडतैवेति हेये वस्तुन्येव वैराग्यस्य शक्यत्वेन ब्रह्मणि वैराग्यसम्भावनैव नास्तीति श्रीव्रजराजसुतस्य ब्रह्मत्वे एतद्विशेषेण वैराग्यगुणनिरूपणं न शक्यम्* इति चेद् न, भगवतैव **"समो अहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो अस्ति न मे प्रियः ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषुचापि अहम्"**, **"अहं... साधुभिः ग्रस्तहृदयो भक्तैः भक्तजनप्रियो नाहम् आत्मानम् आशासे मद्भक्तैः साधुभिः विना श्रियं च आत्यन्तिकीं... साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्तु अहं, मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि"** (भग.गीता.९।२९ , भाग.पुरा.९।४।६३-६८) इति लीलायां अद्वयानन्दात्मरूपे स्वस्मिन् यथा सदसद्-धर्माधर्म-सुखदुःखादिद्वैतप्राकट्यं तथा आत्मानन्दरूपायाम् आत्मरतावपि भक्तानुरागिता अभक्तविरागिता च लीलात्मिकैव प्रकटीकृतेति न दोषः कश्चन. नच एतावता भगवतो व्रजराजात्मजस्य परब्रह्मत्वे काचिद्

न्यूनता **"एकः सन् बहुधा... रोहिणी पिंगला एकरूपा... अयं यः श्वेतो रश्मिः परि सर्वम् इदं जगत्... श्वेतो रश्मिः परि सर्वं बभूव"** (तैत्ति.आर.३।११।२-११) इति श्रुतेः. अतएव मथुरावस्थितोऽपि **"गच्छ उद्धव! व्रजं सौम्य पित्रोः नौ प्रीतिम् आवह गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैः विमोचय. ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्मि अहम्"** (भाग.पुरा.१०।४३।३-४) इति स्वस्य हृदयस्थित-गोकुलवासि-जनत्वम् आविश्चकार. तथाविधे भगवति अस्माकमपि फलनिरोधरूपा रतिः अस्त्विति तत्र साधननिरोधरूपा स्वस्य तद्हृदये वासविषयिणी आशंसा इह विद्योतिता.

जन-हृद्य-विहार-परे सततम् [ऐश्वर्यं] इति, इदम् अत्र आकूतं : अविकृ-तपरिणामवादप्रक्रियाम् अंगीकुर्वता ब्रह्मवादिना यद्यपि प्रापञ्चिकविषयाणामपि **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्"** (छान्दो.उप.६।८।७) इति श्रुत्या ब्रह्मात्मकता सर्वथा अभ्युपेतैव. तथापि सृष्टिलीलायां इन्द्रियान्तःकरणयोः ब्रह्मात्मकैरपि विषयैः सह, यद् बाह्यं वा आन्तरं वा, रमणं तत् त्रिगुणात्मकानां विषयाणामेव आद्यन्तवत्त्वेन, सततं न सम्भवति. ततश्च विषयैः सह इन्द्रियाणां बाह्यरमणस्य स्वरूपं **"यद् मैथुनादि गृहमेधिसुखं तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्"** (भाग.पुरा.७।९।४५) इति निरूप्यते. तथैव आन्तररमणस्यापि **"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगः तेषु उपजायते, संगात् सञ्जायते कामः... क्रोधः... संमोहः... स्मृतिविभ्रमः... बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"** (भग.गीता.२।६२-६३) इत्येवं विनिरूपितः. अतएव श्रीभागवते विषयैः सह इन्द्रियान्तःकरणयोः रमणे **"बह्व्यः सपत्न्यइव गेहपतिं लुनन्ति"** (भाग.पुरा.७।९।४०) इति एतादृग्रमणस्य शोकमोहपर्यवसायित्वम् आहोस्वित् रन्तुः आत्मनएव विनाशो भवतीति असातत्यं किल द्योतितम्. नच **"विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्. मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितम्"** (सुबो.२।९।३३) इति अंगीकाराद् विषयैः इन्द्रियादीनां रमणेऽपि न भगवता सह अरमणं वक्तुं न युक्तम् इति वाच्यं, महाप्रभुणैव **"इन्द्रियाणाम् अर्थः इन्द्रियार्थो अन्तर्हितश्च असौ इन्द्रियार्थश्च, भगवान्**

सर्वेन्द्रियातीतोऽपि स्वेच्छया भक्तेन्द्रियाणाम् अर्थरूपो जातः'' (सुबो.२।९।-३८) इति समाहितत्वेन इन्द्रियव्यापारैः गृहीते विषये मायिकविषयतापराक्रमो भगवत्कृपाव्यापारेणतु इन्द्रियैः गृहीते भगवति न तत्पराक्रमइति. भगवतस्तु पुनः **''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः''** (भाग.पुरा.२।९।१४) इति वचनात् द्रव्यकर्मकालाद्यतीततया न इन्द्रियादिसामर्थ्याद् ग्राह्यत्वं किन्तु येषु निजस्वरूपदर्शनप्रदानाय अनुग्रहो **''यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः''** (मुण्ड.उप.३।२।३) इति वचनाद् भगवतो दृग्गोचरतया यथेच्छं सातत्यनिर्वाहइति तादृशे भगवति रत्याशंसा इह प्रकटीकृता.

तत-वेणु-निनाद-विनोद-परे [ज्ञानं] इति, ननु किदृशोऽयं विनोदः? भगवद्धर्मरूपज्ञानात्मकः इति ब्रूमः. तद् भगवतो ज्ञानं क्वचिद् विनोदात्मकं क्वचित्तु सायुज्यैकत्वप्रदानात्मकं सद् भक्तानां कृते अविनोदात्मकमपि भवितुम् अर्हति, **''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः''** (भाग.पुरा.३।२९।१३) इति वचनात्. भगवता **''भक्त्यातु अनन्यया शक्यः अहमेवंविधो अर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च''** (भग.गीता.११।५४) इति उक्त्वापि **''मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते''** (भग.गीता.१४।२६) इति इह ब्रह्मभूयस्त्वं ब्रह्मणा सह ब्रह्मात्मकस्य भक्तानां ब्रह्मात्मिकायां लीलायां ब्रह्मात्मकएव लीलाविहारसातत्यं ज्ञेयम्. अन्यथा भक्तानभीष्टमेव ब्रह्मप्रवेशरूपं सायुज्यम् एकत्वं वा भक्तानां कृते अविनोदात्मकं स्यात्. तद् उक्तं **''दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोः चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः न परिलषन्ति केचिद् अपवर्गमपि ईश्वर! ते चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः''** (भाग.पुरा.१०।८४।२१) इत्यत्र. वस्तुतस्तु भगवत्स्वरूपलीलागुणानन्दानुभवार्थमेव भगवति ब्रह्मानन्दसायुज्यं वा ब्रह्मानन्दैकत्वं वा भगवतो अवतीर्णरूपस्य स्वरूपं लीलाः गुणाः वा भक्तभावपोषणाय भगवता प्रकटीकृताः तान् अनादृत्य मूलाद्वितीयरूपे द्रष्टृ-दृश्य-दर्शनभेदैः अनुभूत्यनर्हे भक्तहृदयावर्जकत्वाभावम् आलोच्य

भक्त्यालम्बनविभावात्मतया भगवानेव भक्तेषु भक्तिस्थायिभावतया चापि अन्तःप्रविष्य सर्वाअपि स्वलीलाः भक्तान्तःकरणेष्विव घनीभूतः सन् बहिरपि प्रकटीकरोतीति. तस्माद् भक्तौ भगवानेव भक्तसायुज्यम् अवाप्नोति. अनया च प्रक्रियया भक्तस्य देहेन्द्रियाद्यन्तःकरणादिरूपो भूत्वा भक्तैकत्वम् आपद्यतइति! भगवतो भवितुम् अभवितुम् अन्यथाभवितुं समर्थत्वाद् विरुद्धधर्माश्रयत्वात् च एवम्. एतादृश्या हि ब्रह्मात्मिकया वेणुवादनविद्यया भगवान् भक्तानां मनोरथपूरकइति तत्परे रतिः अस्तु इति पूर्ववदेव अन्वयः.

पर-चित्तहर-स्मितमात्र-कथे [श्रीः] इति, ननु *केयं स्वस्मितमात्रेण परचित्तापहारिका कथा! किं भगवत्स्मिते सौन्दर्यातिशयमूला आहोस्वित् तत्स्मिते काचनालौकिसामर्थ्यमूला वा? नोभे प्राकृतजनस्मितेऽपि तन्मुग्धचित्तानाम् एवम्भावसम्भवाद् वैलक्षण्यानुपपत्तेः* इति चेद् न, अवतीर्णभगवद्रूपस्य निजलीलापरिकरचित्तेषु प्रविश्य स्वशास्तृत्वप्रकटनरूपा इयं लीला, **''अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा''** (तैत्ति.आर.३।११।१) इति वचनात्. स्वेतरविषयकवासनाविशिष्टचित्तेभ्यो विषयवासनजन्यरतिनिरसनेन आत्मरत्यात्मना प्रकटीकरणरूपा किल इयं कथा! चित्तस्य भगवन्नियम्यत्वे न विषयवासनाप्रयुक्ता रतिः किमुत सैव भगवदात्मरतिरूपतया सम्पद्यते. तादृश्या आत्मरत्या चित्तस्य भगवत्प्रवणत्वे भगवदर्थायाः क्रियाध्यानोपासनाभ-क्त्यादेः न साधनरूपता अपितु भगवद्रूपतैव. तथाच :

> ''प्रमेयबलनिष्ठस्य प्रमाणं जायते हरिः, प्रमाणबलनिष्ठस्य प्रमेयात्मा स जायते. भक्तिनिष्ठस्य श्रद्धादिः भजनीयश्च सैव हि, भगवत्स्वरूपनिष्ठस्य हृदि भक्तिः स जायते. दिदृक्षोः सहि दृश्यात्मा विवक्षोः वाच्यतां गतः. अविद्या सो ह्यजिज्ञासोः विद्या जिज्ञासोरप्युत. बिभन्त्सोः विषयासक्तिः मुमुक्षोः विरतिः सदा'' इति.

तदेतद् उपोद्बलितं भक्तप्रह्लादेन **''नैव आत्मनः प्रभुः अयं**

निजलाभपूर्णो मानं जनाद् अविदुषः करुणो वृणीते यद्यद् जनो भगवते विदधीत मानं तच्च आत्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः'' (भाग.पुरा.७।९।११) इति उक्त्या भगवान् करुणया यं वृणीते तस्य हृदये तदनुकूलभावात्मकं रूपं धृत्वा बहिरपि तद्भावविभावितं स्वस्वरूपम् आविष्करोति. नचैषा कथा भगवतो अन्यत्र क्वचन किदृगपि परचित्तापहारके वस्तुनि व्यक्तौ वा शक्येति युक्तम् उक्तं 'परचित्तहरस्मितमात्रकथे' इति. तादृशि व्रजराजसुते मम रतिः नाम आत्मरतिः अस्तु इति आशंसा. तदेतद् महाप्रभोः **''तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः आत्मानन्दसमुद्रस्थः कृष्णमेव विचिन्तयेद्''** (सिद्धा.मुक्ता.१५-१६) इति सिद्धान्तानुरोधाद् आशंसितं ज्ञेयम्.

क थ नी य-गु णा क र-पा द यु गे [यशः] इति, ननु * प्राकृतगुणानाश्रयस्य अप्राकृतानन्तगुणाश्रयस्य भगवतः पादयुग्मयोः गुणाअपि भक्तिमार्गीयैस्तु यथा कीर्तनीयाः, तथा उपासनामार्गीयैः ध्यातव्याः, योगाभ्यासपरैरपि साधकैः ध्यानधारणाभ्यां चिन्तनीयाः च. तद् अत्र 'कथनीय'तामात्रप्रतिपादने को हेतुः ? तत्र ब्रूमः भगवत्पादयुग्मयोः गुणानां ध्यानं वा धारणा कीर्तनमपि वा सेवानवसरे तावद् आवश्यकमपि न भगवत्सेवावसरे तेषाम् ध्यानधारणास्मरणादीनां प्रासंगिकता. नच तदा तत्कथनमपि तथैव इति समारब्धां सेवां त्यक्त्वा मध्ये गुणकथने प्रवृत्तिस्तु निरर्थकेन कालक्षेपेण सेव्यपरिश्रमजनिकैव भवित्री इति वाच्यं, यस्माद् इह गुणानां 'कथनीयता'कथनं तेषां स्मारणाभिप्रायकं वा प्रत्यभिज्ञापनाभिप्रायकं वा इति अवगन्तव्यम्. नच अवगतनिजगुणस्य गुणिनः तद्गुणज्ञापनम् अप्रतिपित्सितं निष्प्रयोजनकं च इति वाच्यं, भजनविधौ **''प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्, सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च''** (वि.धै.आ.२) इति प्रार्थनायाः निषेधोपलम्भेऽपि भक्तानां भगवद्विषयकनिज-मनोरथानां प्रकटनं न दोषायेति तदपि निषिद्धत्वेन न याच्ञारूपेण किन्तु भगवद्गुणानां भगवते दास्यभावेन प्रत्यभिज्ञापनेनैव. तद् उक्तं **''गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते... हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्ण प्लावयते जनान्''** (निरो.लक्ष.६-८) इति.

अतो येहि भजनीयस्य प्रभोः चरणयुगलयोः कथनीयाः ध्वजाम्भोजचक्रां-कुशयवादयो भक्तकार्यसिद्ध्यर्थमेव धारिताः तादृग्गुणानाम् आकरीभूतस्य भगवच्चरणयुगस्य आरात्रिकदीपावर्तनेन विद्योतनौपयिकं मन्त्रलिंगरूपम् विशेषणम् इदम्.

ननु * तथात्वेतु पुरुषोत्तमस्य भगवतः तद् आदावेव भवितुम् अर्हति नतु व्युत्क्रमेण अन्ते, यस्माद् भगवत्स्वरूपध्यानविधौ **''ध्यायेद् देवं समग्रांगम्''** इति आदौ, मध्येतु **''स्थितं व्रजन्तम् आसीनं शयानं वा गुहाशयं प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेद् शुद्धभावेन चेतसा''**इति उक्त्वा अन्ते **''संचितयेद् भगवतः चरणारविन्दं... जानुद्वयं... ऊरू... नाभिहृदं... वक्षो... बाहून्... वदनारविन्दम् नेत्रं... स्निग्धस्मितानुगुणितम् अवलोकं... हासं... प्रहसितम्''** (भाग.पुरा.३।-२८।१८-३३) इत्येवम्भूतः क्रमो दर्शितः. तद् अत्र व्युत्क्रमो अप्रामाणिको भाति * इति चेद् न, रसशास्त्रे भोग्यभावापन्नानां नायिकानां मुखाद् आरभ्य चरणं यावद् वर्णनं भवति. भोक्तृभावापन्नानां नायकानान्तु चरणाद् आरभ्य वदनं यावद् वर्णनम् इति रसशास्त्रीया रीतिः. व्रजलीलायान्तु भगवतो भक्तार्थमेव प्रादुर्भावस्य अंगीकृतत्वेन तेषां भगवत्स्वरूपानन्दे भोक्तृभावोपेततया व्युत्क्रमेणापि वर्णनं न दोषाय. अतएव प्रमाणप्रकरणे **''अव्याद् अजो अंघ्रिम्... मुखम् उरुक्रम ईश्वरः कम् बुद्धिम्...''** (भाग.पुरा.१०।६।२२) इति क्रमोपलम्भेऽपि फलप्रकरणगते युगलगीते **''वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुः अधरार्पितवेणुम्... मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्''** (भाग.पुरा.१०।३२।२-२५) भगवद्वदना-न्दसुधापानतृष्णया व्युत्क्रमो रसपोषकएव. युगलगीतोदिता हि भावाः अत्र राजभोगारात्रिकायां भावनीयाः इति आवेदितत्वात्.

अत्र प्रसक्तानुप्रसक्तं भगवत्पादयुगयोः गुणाकरत्वविवेचनं महाप्रभुणा **''तस्य तत्कार्यार्थं पदे चिह्नानि भवन्ति. प्रकृतेऽपि तेषाम् उपयोगइति तदभिव्यक्तिः क्रियते. तानि... ध्वजस्य स्थापनं भक्तानां निर्भयवासार्थम्. अम्भोजस्थापनं सुखसेव्यत्वाय. चक्रस्थापनं रक्षायै. मनोनिग्रहार्थम्**

अंकुशस्थापनम्. **कीर्तिसिद्ध्यर्थं यवः. वज्रादयोऽपि 'आदि'शब्देन उच्यन्ते पापपर्वतनिराकरणार्थाः''** (सुबो.१०।२७।२५) इत्यत्र कृतम् इहापि अनुसन्धेयम्. अन्येषामपि चिह्नानां निरूपणं महानुभावश्रीमद्हरिरायकृत-'भगवच्चरणचिह्नवर्णनम्'ग्रन्थे अवलोकनीयम्.

युगले - युगले सुदृशां सुरतौ रतिः अस्तु मम व्रजराजसुते इति, **सुदृशां** भगवन्मुखारविन्दसुधापानाय भृशं तृषितानां, **युगले-युगले** युगलगीते प्रत्येकगोपीद्वयवर्णिते दिनतापहारिणि **व्रजराजसुते** सायंकाले पुनः निजमुखारविन्दसुधाप्रदानानौपयिकायां **सुरतौ तादृक्पानातुरताजनके भावे मम** श्रीमत्प्रभुरणस्य तद्व्याजेन च तदनुवर्तिनामपि सकलानां भगवत्सेवापराणां राजभोगारात्रिकाकर्तॄणां **रतिः** व्रजभक्तरतिभावानुकूला भावना **अस्तु** इति परमा आशंसा.

([घ] कथं च तद् विधेयम् इति ? प्रयोगविधिः)

अस्य गानम् उच्चैः न भवति यथा मंगलारात्रिकार्याया प्रैंखपर्यंकारात्रिकार्यायाः क्रियते. अस्यास्तु उपांशुरेव प्रयोगः. यस्मात् प्रभुरेव प्रत्यभिज्ञापनीयतया अत्र अभिप्रेतो न अन्यः. किञ्च माधुर्यभावस्य रहस्यभावात्मकतयापि. इतरयोस्तु **''ताः आशिषः प्रयुञ्जानाः 'चिरं पाहि!' इति बालके हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो अजनम् उज्जगुः''** (भाग.पुरा.१०।५।१२) इति न्यायेन उच्चैरेव गानं मोदप्रमोदावहम्. इति अलमिह पल्लवितेन!

(उपसंहारः)

ननु बाह्यस्वरूपे षड्विधगुणतद्धर्मी इति सप्तभिः विशेषणैः वर्णितो भगवान् इहतु आन्तरस्वरूपे षड्विधधर्माणामेव विशेषणैः निरूपणमिति किं केवलगुणपरत्वबोधनाय उत **''बाह्याभावेतु आन्तरस्य व्यर्थता''** (सुबो.१।६।०।२) इति धर्मिणो निरूपणं बाह्यतयैव अभिलषितम्? नच एतद्वचनस्य प्रथमस्कन्धीयत्वेन इह अप्रासंगिकत्वं शंकनीयं दशमे फलप्रकरणेऽपि

''अन्तःस्थितो रसः पुष्टो बहिः चेद् विनिर्गतः तदा पूर्णो नैव भवेद्'' (सुबो.१०।२८।२)इति प्रतिपादनोपलम्भाद् आन्तरे काचिद् न्यूनता अभ्युपगन्तव्यैव इति चेद् न, उक्तमेव भाष्यकारेण **''स रसस्तु संयोग-विप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवति अनुभूतो नैकतरेण''** (ब्र.सू.भा.४।२।१३) इति बाह्याभ्यन्तरयोः एकतरस्य यस्य कस्यचन अभावे हि अपूर्णतातु ध्रुवैव, नटवरवपुषो भगवतो द्विदलात्मकत्वांगीकारात् च. तस्माद् भक्तिसाधनायामपि लीलानुकरणभावनोपदेशाद् भगवत्सेवा-तदनवसरयोः समं प्राधान्यम् अंगीकरणीयम्. तस्माद् बाह्यस्वरूपस्य धर्मभूतगुणबोधकैः विशेषणैः सह वर्णितो धर्मिणः अनुवृत्तिः इह आन्तरस्वरूपनिरूपणोपसंहारे नियततया योजनीया. यस्मात् **''स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति मे मतिः''** (चतुश्लो.४) इति पुष्टिभक्तिसम्प्रदायप्रवर्तकेन वाक्पतिना पुष्टिभक्तिमार्गीयाः प्रेर्यन्ते. इति अलम्.

आविद्यकान्यथारूपं विद्याप्राप्यां स्वरूपताम्॥
नो कामये ऋते भक्तिं विद्ययाविद्ययापि वा॥१॥
व्रजराजसुते न निरुद्धोऽहं
नहि तद्भजनेऽपि सदा निरतः॥
विरतो न भवेयमितीदृशी मे
रतिरस्तु सदा व्रजराजसुते।२॥
वितथं लिखितं मतिमान्द्यवशाद्
अखिलं तत् करुण! क्षन्तव्यम्!॥
ननु कोहि दरो विदरात् स्वमतेस्
तव नाममाहात्म्यवराश्रयणात्॥३॥
वाक्पतिप्रेरणोद्धूतानिलान्दोलितवृक्षतः॥
मत्तः फलं निर्गलितं भक्तैकास्वाद्यमेव हि॥४॥
जिज्ञासापरिप्रश्नाभ्यां नामसेवादिनिष्ठया॥
तुष्टेनानिलनिर्बन्धादपि व्याख्या विनिर्मिता॥५॥
राजभोगारात्रिकार्यां 'वर्तिकादीप्ति'नामिका॥

रथयात्रोत्सवे पूर्णा मनोरथसुपूरिका॥६॥

इति गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणविरचितराजभोगारात्रिकार्याया:
तदनन्यभावभावुकगोस्वामिश्रीदीक्षितसुतेन
श्यामनोहरेण निर्मिता 'वर्तिकादीप्ति:'
सम्पूर्णा

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्रीमदनमोहनो जयति ॥

॥ श्रीद्वारकेशो जयतितराम् ॥

॥ वसंत अष्टपदीकी व्रजभाषाटीका ॥

अब शृंगाररसमंडनग्रंथमें एक प्रकरण उद्धवको हे. तामें मुख्य श्रीस्वामिनीजीको परस्पर विप्रयोग और क्रीड़ा श्रीगुसांईजी वर्णन करे हें. तामें की एक अष्टपदी जो वसंतके खेलमें गाई जाय हे. ताकी भाषा टीका और मूल राग वसंत. या अष्टपदीके पूर्वकी कथा श्रीस्वामिनीजीको विप्रयोग करिके विकल देखिके सहचरी हे सो जहां निकुंजमें दूसरे भक्तनूके जूथमें प्रभु विहार करे हें. ताके समीप दूसरी निकुंजमे जहां ते स्वामिनी विहार देखें और स्वामिनीकुं कोई देखे नहीं तहां ले जायके विहार वर्णन यह अष्टपदीमें सहचरी करे हे.

मूल प्रथम पद :

हरिरिह व्रजयुवतीशतसंगे॥

विलसति करणीगणावृतवारणवरइव रतिपतिमानभंगे॥ध्रुवपद॥

टीका :

सहचरी कहे हे : हे! रतिपति - मानभंगे अर्थात् हे श्रीराधिका! तुमने रतिको पति कामदेव ताको मान भंजन अपनी सुंदरता करिके कियो हे. तातें श्रीकृष्णके मानको भी भंजन करोगी. विप्रयोगते विकल मत होहु. श्रीकृष्णको विहार देखो और सुनो. इति भावार्थ.

अब सहचरी कहे हे : हरि जो तुमारे मनहर्ता श्रीकृष्ण या समे व्रजयुवतीन् यूथशतमें जैसे गजेन्द्र करणीन् झुंड समूह करके घिर्यो, करणीनूके संग रमण करे हे तैसे क्रीड़ा करे हे. अब या जगे कोई

शंका करे प्रभुनूके क्रीड़ामें सर्वत्र हस्तीके रमणको दृष्टांत क्यों दें हें? ताको समाधान रतिको आनंद एक हस्ती ही जाने हे और एक हस्ती और अनेक झुंड हस्तनीनूको संतोष करे हे. और जहां वनमें रमण करे हे तहां दूसरो हस्ती भय करके आवे नहीं, कदापि आय जाय तो रमणकर्ता ताको तत्क्षण मार डारे. इत्यादि बातते रसशास्त्रमें उत्तम रमण हस्तीको हे. अब या पदमें 'रतिपति-मानभंगे' यह नाम श्रीस्वामिनीजीको हे ताको दूसरो अर्थ श्रीस्वामिनीजी रतिको गर्व और रति-पति कामदेवको गर्व, ये दोउनूके गर्वको भंजन करे हे. तातें रतिको यह गर्व हे मेरे पतिकी जैसी सुंदरता हे तैसी कहीं नहीं, सो इहां श्रीस्वामिनीजीके पति श्रीकृष्णकी सुंदरता देखके काम कामदेव मोहित होय हे. तातें कोटि-कंदर्प-लावण्य और साक्षात् मन्मथमन्मथ यह सर्वत्र स्फुट हे. या प्रकार तो रतिके गर्वको भंजन करे हे. और कामदेवको यह गर्व हे जो मैंने शिवजी सरीखेनूको अपने वश कर लिये, एक मोहनीके पीछे भगायके स्खलित कर दीनो. सो इहा श्रीकृष्णके पीछे अनेक शत मोहनी डोले हें, सबके मनोरथ आप पूर्ण करे हें और अच्युत बने हें. या प्रकार कामदेवको मानभंजन करे हें.

अब आगे पदमें सहचरी विहार वर्णन करे हें :

विभ्रमसंभ्रमलोलविलोचन-सूचितसंचितभावम्॥

कापि दृगंचलकुवलयनिकरैर् अंचति तं कलरावम्॥२॥

टीका :

हे श्रीराधिका! देखो या समे सब गोपिकामें कोई गोपी अपने नेत्रकमलनूते श्रीकृष्णको पूजन करे हें. **'अंच'** धातुको अर्थ पूजामें हे अर्थात् अपने सुंदर कटाक्षनूते मोहित करे हें. तब प्रभु ताके संग विहारमें निमग्न होयके अपने चंचल सुंदर कटाक्षनूते संचित भावकी सूचना करे हें. और मधुर वचन कामके उद्बोधक बोले हें. अथवा

'**कलराव**'पदको अर्थ ता समें वेणुनाद करे हें. यह पदमें प्रथम सात्त्विक - सात्त्विक भक्तके संग क्रीड़ा भासे हे. काहेतें जो पूजन धर्म सात्त्विक हे, तामें भी कमल सात्त्विकमें सात्त्विक हे.

आगे दूसरे भक्तके संग विहार वर्णन :

स्मितरुचि-रुचिरतरानन-कमलम् उदीक्ष्य हरे रतिकंदम्॥
चुंबति कापि नितंबवतीकरतलधृतचिबुकम् अमंदम्॥३॥

टीका :

कोई नितंबवती गोपी अपने मनहर्ता श्रीकृष्णको सुंदर श्रीमुख निरखके अपने करतलते चिबुक पकड़के श्रीमुखचुंबन करे हे. ता समे प्रभुको अमंद आनंदको कंद जो श्रीमुखकमल हे सो मंद मुसकान करके अत्यंत सुशोभित हे. ताते भक्तजनके मनहरण करे हे. और इहां गोपीको नाम नितंबवती हे ताको अर्थ कटिके पीछे-नीचे को भाग अति सुंदर जाको होय सो 'नितंबवती' कहावे हे. और या पदमें सात्त्विक - राजस भक्तके संग विहार भासे हे. काहेते जो श्रीमुख निरख तो सात्त्विक धर्म तामें चुंबन राजस धर्म हे.

अब आगे पदमें दूसरे भक्तके संग विहार वर्णन :

उद्भटभाव-विभावितचापल-मोहननिधुवन-शाली॥
रमयति कामपि पीनघनस्तन-विलुलितनववनमाली॥४॥

टीका :

'निधुवनशाली' जो प्रभु अर्थात् निधुवनको शोभित करवेवारे जो श्रीकृष्ण सो कोई गोपांगनाको अपने उद्भटभावतें विभावित करके और चपलता करके ताके संग आप रमण करे हें. अथवा गोपांगनाके उद्भटभावतें और चपलतातें आप मोहित होयके रमण करे हें. ता समें ताके अत्यंत सुंदर पीन स्तनके ऊपर आपकी नवीन वनमाला

विलुलित होय हे. या प्रकार सात्त्विक - तामस भक्तके आप मनोरथ पूर्ण करे हे. यह भक्तजनमें प्रभुके अनुकूल रमण तो सात्त्विक धर्म और उद्भटभाव तामस धर्म. या प्रकार भासे हे.

अब आगे पदमें दूसरे भक्तके संग क्रीड़ा वर्णन सहचरी करे हे :

निजपरिरंभ-कृतेन द्रुतम् अभिवीक्ष्य हरिं सविलासम्॥
कामपि कापि बलाद् अग्रे कुतुकेन करोति सहासम्॥५॥

टीका :

हे राधिका! अब देखो एक गोपांगनाने देख्यो श्रीकृष्ण क्रीड़ा रसके वस दौरिके आलिंगनके लिये चले आवे हें, तब ताने बलात्कार एक दूसरी गोपांगनाको आगे करि दीनो. आप पीछे हटके हसवे लगी, अथवा यह कौतुक देखके आप हसे. इहां प्रभुन्को '**हरि**'नाम करिके ताने जान्यो यह तो सर्वत्र रसको हरण करे हे. ताते अपनो रस अधिक पुष्टिके लिये दूसरीको आगे करि दीनो आप पीछे हट गई. ताते यह भक्त तो राजस - राजस हे और जो भक्त प्रभुन्के सन्मुख होयके आलिंगन दीनो सो भक्त राजस-सात्त्विक हे. या प्रकार दोय भक्तके संग क्रीड़ा या पदमें भासे हे. यह पदमें संबोधन पदको अध्याहार हे.

अब आगे पदमें दूसरे भक्तके संग विहार वर्णन :

कामपी नीवीबंधविमोक-ससंभ्रम-लज्जितनयनाम्॥
रमते संप्रति सुमुखि बलादपि करतल-धृत-निजवसनाम्॥६॥

टीका :

हे सुमुखी श्रीराधिका! देखो श्रीकृष्ण या समें एक गोपीके नीवीके बंधन खोलवेको प्रवृत्त भये. तब ताके संभ्रम करके नेत्र लज्जित

होय गए और बल करके नीवीकों थांबे हे. अर्थात् बंधन खोलवे नहीं दे हे. ऐसी गोपांगनाके संग आप रमण करें हें. यह भक्त राजस-तामस भासे हे काहेते जो नेत्र लज्जित होने तो राजस धर्म हे तामें हठ करनो यह तामस धर्म हे.

अब आगे पदमें दूसरे भक्तके संग क्रीड़ा वर्णन सहचरी करे हे :

प्रियपरिंभ-विपुल-पुलकावलि-द्विगुणित-सुभग-सरीरा॥
उद्‌गायति सखी कापि समं हरिणा रतिरसरणधीरा॥७॥

टीका :

हे सखी श्रीराधिका! देखो या समें एक गोपी जो रतिसंग्राममें बड़ी निपुण हे सो प्यारे श्रीकृष्णको आलिंगन करिके ताको भयो जो हर्ष ताते सर्वांगमें रोमांच करिके पहेलेतें दूनी सुंदर पुष्ट भई हे. और श्रीकृष्णके संग मिलके ऊंचे सुरते गान करे हे. अर्थात् यह भक्त रतिसंग्राम तामस धर्म हे तामें गान सात्त्विक धर्म हे.

अब आगे पदमें दूसरे भक्तके संग क्रीड़ा वर्णन सहचरी करे हे :

विभ्रम-संभ्रम-गलद्-अंचल-मलयांचितम् अंगम् उदारम्॥
पश्यति सस्मितम् अति-विस्मित-मनसा सुदृशा सुविकारम्॥८॥

टीका :

हे श्रीराधिका! देखो या समें एक गोपी विस्मय-संयुक्त और मंद मुसकान-संयुक्त अपने सुंदर नेत्र करके श्रीकृष्णको देखे हे. ता समें श्रीप्रभुन्की शोभा विहारके संभ्रम करके पीतांबरको अंचर लटके हे. **'मलय'** जो चंदन तातें अंग चर्चित और भक्तजनके मनोरथ पूरण करवेमें उदार और सविकार हे. अथवा **'सविकार'** पदको क्रियाविशेषण

करके और विस्मित मन करिके सूचित होय हे. यह गोपांगनाकी अभिलाषा पूर्ण भई नहीं आपु समुदायमें क्रीड़ा करवे लगेते कछु क्रोध दृष्टिते देखे हें. तामें मंद मुसकान भी करे हें. याहीते यह धर्म तामस-राजस भासे हें. और चंदनचर्चित श्रीअंग हे तातें भासे हे गुलाल आदि वसंतके खेलकी वस्तु भी सब होयगी काहेते जो यह अष्टपदी वसंत के खेलमें अवश्य गावे हें.

अब छेल्ले पदमें तामस-तामस भक्तके संग क्रीड़ा वर्णन करके सहचरी अष्टपदी समाप्त करके स्वामिनीन्को अनुमोदन करे हें :

चलति कयापि समं सकरग्रहम् अलसतरं सविलासम्॥
राधे तव पूरयतु मनोरथम् उदितम् इदं हरिरासम्॥९॥

टीका :

हे श्रीराधिका! देखो या समें एक गोपांगना श्रीकृष्णको अपने संग ले जाय हे. ता समें अत्यंत आलससंयुक्त प्रभु हें और विलाससंयुक्त भी हें. तातें भक्तजनने श्रीहस्त पकड़ लियो हे. इहां ऐसे हे, भक्तजनके समुदायते क्रीड़ा छोड़ायके अन्यत्र निकुंजादिकमें पधरायके ले जाय हे. प्रभुन्के परिश्रमको विचार भी याने नहीं कियो तातें तामस-तामस भक्त हें. या प्रकार रस गुण भक्तजनके समुदायमें विहार वर्णन करिके फिर सहचरी श्रीस्वामिनीन्ते कहे हें तुमारे मनहर्ता श्रीकृष्णको यह **'रास'**नाम रसन्को समूह विलास जो तुम देखो हो तुमारे मनोरथको भी पूर्ण करेंगे. अर्थात् तुमारी संमतिते दूसरे सब भक्तजनके मनोरथ प्रभु पूर्ण करे हें. परंतु तुमको विप्रयोग बाधा करे हे सो अब प्रभु तुमारे पास पधारके तुमारे मनोरथ पूर्ण करे हें. इति भावार्थ.

इति भाषाटीका समाप्त

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ शयनारार्तिकार्या ॥

(दीपशिखा)

(मंगलाचरणेन उपक्रमः)

**श्रीमद्विट्ठलनाथो ज्ञानशून्यानुग्रहैकशीलो यः ॥
तदनुग्रहैकलभ्या बुद्धिर्मे तद्भावावगाहिनी ॥१॥
शेते वेदात्मके शेषे स्वभक्तहृदयेषु च ॥
श्रीमदाचार्यकृपया भक्तानां स्वगृहेष्वपि ॥२॥
अनन्तरश्चाबाह्यो यो बाह्याभ्यन्तरयोरपि ॥
विभावभक्तिभावात्मा भवेद् भक्तनिरोधकृत् ॥३॥
यद्यप्यन्तर्यामिपरमात्मतयैव त्वाम् अन्तर्मन्ये ॥
बाह्ये गृहे विराजन् कदा मद्हृदि त्वं स्थिरो भायाः ! ॥४॥**

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः भगवत्सुखशयनसेवासामयिकनीराजनार्या प्रकटीकुर्वन्तो निजसेव्यं प्रभुं संस्तुवन्ति. नूनं स्तुतिरियं स्वहृद्यन्तर्भूयोः भगवत्स्वरूपलीलयोः स्नेहानुभावरूपानुस्मरणात्मिकैव. यद्यपि तथाविधानुस्मरणस्य स्वरूपासंनिधाने तु तावद् ''**बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरन्तु परं फलम्**'' (सुबो.१०।२६।०४) इति वचनात् परमफलरूपता शक्येदपि मन्तुं; तथापि, ''**आ समन्ताद् धर्मसहितं सर्वमेव अभिनिविष्टं स्वाधीनं जातं— यदैव इच्छति तदैव हृदये पश्यति — तथापि न अतृप्यद् अलम्भावं न कृतवती**'' (सुबो.१०।२९।७) इति वचनान्तराद् भगवत्स्वरूपसंनिधाने तु तत्सौन्दर्यामृतपानानुकूलसपर्योत्कण्ठयैव अवस्थानं रसात्मकं भवति. अन्यथा ''**धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि विस्रब्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु नीविं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्य शपामि यदि किञ्चिद् अपि स्मरामि**''

(सुभा.रत्न.१९।१६) इति कस्यचिदुक्तिवद् अत्र अलौकिकेऽपि संयोगलीलायां पूर्वानुभूतस्वरूपलीलयोः अनुस्मरणं नूनं रसाभासायैव भवेद्. इदम् अत्र प्रभुचरणैरेव प्रपञ्चितम् अवधेयं भवति : ''**संगमे हि अग्रिमरसार्थं नवो-नवः प्रयत्नो भाव्यते. नतु पूर्वानुभूतो रसः पोष्यते, सर्वेषां स्वतन्त्रत्वात्**'' (सुबो.टि.१०।२९।०) इति, संयोगे तावद् अग्रिमरसार्थं नवनवप्रयत्नौत्कण्ठ्यन्तु ''**न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये सर्वाणि अंगानि किं यान्तु नेत्रताम् उत कर्णताम्**'' इति यथा केनचिद् उक्तं तथाविधौत्कण्ठ्यात् पूर्वानुभूतस्वरूपलीलयोः विस्मृतिरेव उचिततरा. सत्यपि एवम् ''**अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता**'' (महा.सुभा.सं.८४८) इति न्यायेन भगवच्छयनोत्तरसम्भाव्यमानविच्छेदभीरुताप्रयुक्तं भगवत्साम्मुख्येऽपि पूर्वानुभूतस्वरूपलीलयोः अनुस्मरणमपि न न संयोगरससुखपोषणाय भवेद्. ततश्च तदनुस्मरणानुभावकैः नामभिः स्वसेव्यप्रभोः नीराजनसमये तत्तल्लीलानुस्मारकैः नामभिः भगवतः स्तुतिवन्दने भगवत्संयोगसुखेऽपि विशेषचमत्काराधायकेएव कुतो न भवेताम् !

इह पुनः चमत्कृतिविशेषस्तु भगवत्सेवासामयिकसंयोगलीलायामेव पूर्वानुभूत-स्वरूपमाधुर्य-लीलानन्दयोः अन्तश्चर्वणा तया च सहकृतयोः स्वसेव्यस्तुतिवन्दनयोः पूर्वानुभूतानन्दानुस्मारकाणां नाम्नां रसविवशा मुखोद्गतिरिति हेतोः भगवति पुनः तथाविधानन्दप्रदानप्रार्थनागर्भिते स्तुतिवन्दने ध्वनिते ! तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः ''**भक्तिमार्गीयमिति आत्मवियोगम् अकरोद् हरिः. तदातु स्वतएव स्याद् भगवद्भावसन्ततिः**'' (सुबो.का.१०।३।४६।२) इति. अतः पूर्वानुभूत-रसपोषण-समुच्चिताग्रिम-रसौपयिक-नवनव-प्रयत्नोऽपीति महतीयम् उभयरसानुभूतिचमत्कृतिः ! एतया पुनः आरार्तिकार्यागायकस्य प्रभुचरणस्य चेतसि स्मृत्यनुभूत्योः एकतरयोः अवस्थानाक्षम-मनोद्वन्द्वावेग-जनितं रसात्मकं वैकल्व्यं च सम्भाव्यते. अतएव मंगलाचरणरूपायाः आद्यकारिकायाः पश्चाद् मनोमुखयोः उद्गातानि भगवन्नामानि न लीलाक्रमानुरोधीनि प्रत्युत अक्रमव्युत्क्रमागतानि संलक्ष्यन्ते.

(स्वरूपलीलानामभिः एतदार्याकर्तृकं भगवद्वन्दनम्)

तस्यामेतस्यां शयनारार्तिकार्यायां स्वरूपलीलानुस्मारकाणां भगवन्नाम्नाम् एकत्रिंशती इह प्रभुचरणैः भगवतो वन्दनात्मकक्रियायाः कर्मकारकतया प्रकटितानि. तेषु आद्यायां किल कारिकायां चत्वारि भगवद्धर्मबोधकतया प्रयुक्तानि अवशिष्टानि तु सप्तविंशतिनामानि अक्रमव्युत्क्रमागतानि भगवल्लीलानुस्मारकाणि बोध्यानि. निखिलैरपि एतैः नामभिः अन्तिमकारिकागतं वाक्यं **''घोषाधिपतिं कमलाधिपतिं वन्दे तमहं मथुराधीशम्''** इति कर्मविभक्त्योपात्तानां क्रियापदेन असंनिहितेनापि अन्वयः परस्पराकांक्षयैव युज्यन्ते. तथाहि **शरणागतभीतिनिवृत्तिपरं घोषाधिपतिं कमलाधिपतिं वन्दे तम् अहं मथुराधीशम्** इति ध्रुवागीतौ ध्रुवापदवद् अवगन्तव्यम्.

ननु **'वन्दे'** इति एकेनैव क्रियापदेन प्रत्येकनाम्नाम् अन्वये वाक्यभावसम्पूर्तौ किमिति **'घोषाधिपति'**-आदिपदानामपि अनपेक्षितो अन्वयः ? सत्यं इतरेतरापेक्षिणोः क्रियाकर्मणोः अन्वयेनैव शाब्द्याः आकांक्षायाः पूर्तावपि न तावद् आर्थ्याः आकांक्षायाः पूर्तिः वक्तुं शक्या. आह केयम् आर्थी आकांक्षा नाम ? इति चेद् विशेषण-विशेष्यभावप्रयुक्ता तावद् आर्थी आकांक्षा इति ब्रूमः. ननु एवमपि **'घोषाधिपति-कमलाधिपति-मथुराधीश'**रूप-पदत्रय्यां मध्ये एकेनापि केनचिद् विशेष्यभूतेन नाम्ना अत्र घोषाद्यन्यतमेषु कृतायाः लीलायाः अनुरोधाद् अन्वयो वाच्यो न पुनः अवशिष्टयोः द्वयोः अनाकांक्षितयोरपि ? इति चेद् अत्र उच्यते : वन्दनीयो हि इह **'घोषाधिपतिः'**पदाभिधेयो भवतु **'मथुराधिपतिः'**पदाभिधेयो वा **'द्वारकाधिपतिः'**पदाभिधेयो वापि ! सर्वाण्यपि श्रीकृष्णस्यैव एतानि नामानि. सोऽयं **'कृष्ण'**पदार्थस्तु, भक्तेः अंशद्वयात्मकत्वेन आद्यांशनिर्वाहाय १.आश्रयणीयतया मृग्यः. द्वितीयांशनिर्वाहाय २.भजनीयतया चेति. अतो महाप्रभुणापि द्विधैव तावद् व्याख्यातः. तथाहि : १.**''सएव परमाकाष्ठापन्नः कदाचिद् जगदुद्धारार्थम् अखण्डः पूर्णएव प्रादुर्भूतः 'कृष्णः' इति उच्यते''** (त.दी.नि.१।१) २.**''स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति कृष्णपदार्थो क्वचिद् विवृतः (लक्ष्मीसमानत्वं रसोद्रेके भोग्यत्वं भगवतो भोग्यत्वेन**

भक्ताधीनत्वाद् भक्तानां भोक्तृतया स्वाधीनत्वात् 'कृष्णाधीनातु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिः' इति. वेणुवादनेन विवृतो नाम हृद्यन्तः अनुभावितः)'' (सुबो.१०।१८।५) इति. सत्यप्येवं माहात्म्यज्ञानेन आश्रयणीयो अन्यो, अन्यएव पुनः सुदृढसर्वतोधिकेन स्नेहेन भजनीयः च यदि भवेत्, तदा श्रीकृष्णस्य अखण्डत्वमेव न निर्वहेत. तेन पूर्णपुरुषोत्तमत्वं खण्डितं स्यात् तेनच परमफलरूपत्वमपि. अतो भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वरूपे व्रजादिलीलाधिकरणभूतदेशादिभेदेन स्वरूपभेदांगीकारेतु पुष्टेः वृद्धिम् इच्छतां मूलमपि नष्टमिति कष्टतरं महद् व्यसनम् आपतितम् ! अतएव महाप्रभुणा त्रिविधनामावल्यां **''बाललीलानामपाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते, आसक्तिः प्रौढलीलायाः नामपाठाद् भविष्यति, व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलालीलाभिधानतः''** (त्रिवि.नामा.३।उपसं.) इति प्रतिपादितम्. यदि द्वारकास्थो भगवान् व्रजाधिपाद् अन्यो न्यूनो वा स्यात्, नैव स्यात् तदा तन्नाम्नां पाठाद् भक्तिकृतार्थतासम्पत्तिः.

ननु **''पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहएव... जातः. अन्यथा 'देवकीजठरभूः' इतिवत् 'तव सुत' इति कथं वदेयुः''** (सुबो.१०।२।१६) इति आचार्यचरणोक्तौ 'एव'कारानुरोधाद् मथुराद्वारकादिषु व्यूहत्वमेव न पुरुषोत्तमत्वम् इति चेद् न, भावानवबोधात् पुरुषोत्तमस्य नन्दगृहे जन्मसाधिका उपपत्तावेव देवक्याः उदाहरणत्वेन मातृत्वोक्तिः प्रतिज्ञाता. तथाच महानसाद्युदाहरणे धूमवह्न्योः नियतसाहचर्याभावे पर्वतेऽपि धूमहेतुका वह्निसिद्धिः नैव उपपद्येत. अथ देवकीगर्भाद् जननं लोकदृष्ट्यैव उक्तं चेद् यशोदासुतत्वमपि तथा लोकदृष्ट्यैव कुतो न उक्तं स्यादिति अन्यथैव उपपद्येत ? अतोहि उभयत्र पुरुषोत्तमजन्म अवश्यम् अंगीकार्यमेव. नच व्रजाद् अन्यत्र पुरुषोत्तमकार्याभावाद् न तज्जन्म इति वाच्यं, कार्यसत्त्वे द्रव्यसत्ता कार्याभावेतु द्रव्यासत्ता इतितु सौगतएव समयः. ब्रह्मवादिनान्तु **''अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति''** (सुबो.२।९।३२) इति अभिमतत्वेन यत्र पुरुषोत्तमः प्रकटो नानुभूयते तत्रापि विद्यमानएव अप्रकटइति मन्तव्यम्. अतो लोकदृष्ट्यातु यशोदागर्भतोऽपि न जातः तथापि निजानुग्रहाद् वस्तुस्तु जातएव इत्युक्ते देवकीगर्भाद् जातो वासुदेवोऽपि पुरुषोत्तमएव इति घट्टकुट्यां प्रभातः. एतस्मादेव हेतोः

शयनारार्तिकार्यायां तिसृणामपि लीलानाम् अनुस्मारकाणि नामानि उपनिबद्धानि.

(कमलाधिपति-वन्दनाभिप्रायः)

किञ्च एतेषु त्रिषु नामसु मध्यपातिनः **'कमलाधिपतिं'**नाम्नः तात्पर्यविचिकित्सायां तावद् **''यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत् करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति... अनेन अवतारेषु भोग्याः लक्ष्मीरूपाएवेति स्वरूपतो आवेशतो वा'', ''यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरेएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव. सापि सच्चिद्रूपा स्वार्थम्. तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्. साहि अक्षरानन्दस्वरूपा''** (सुबो.२।९।१४, २।९।१३) इति आचार्यवचनमेव सर्वसंशयापाकरणे नितान्तं कारणम्. अतो घोषो वा मथुरा वा द्वारका वा भवेद् यदि भगवतो हि भोग्याः इमाः भूमयः, तदा श्रियो भूमिभावो वा भूमौ तदावेशो वा अभ्युपेतव्यएव. तस्माद् एतासां सर्वासां लीलाधिकरणभूमीनां कमलया एकवद्भावोऽपि बोद्धव्यः. सोहि एकवद्भावः प्रभुचरणेनापि द्वयोः नाम्नोः मध्ये देहलीदीपन्यायेन **'कमलाधिपति'**नामयोजनेन कमलाधिपतित्वरूपसामान्यधर्मोल्लेखेन द्योतितः. यद्यपि मूलं कमलाधिपतित्वन्तु मथुरायां भगवता न प्रादुर्भावितं, घोषे द्वारकायां च राधारुक्मिण्यावेव मूलकमलारूपे. तथाहि **''निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः''**(भाग.पुरा.२।४।१४) इत्येवमादिवचनैः सिद्धम्. तथापि **''मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः'', ''तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्, हरेः निवासात्मगुणैः रमाक्रीडम् अभूद्'', ''द्वारकायाम् अभूद्... महामोदः पुरौकसां रुक्मिण्या रमया उपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम्''** (भाग.पुरा.१०।१।२८, १०।५।१८, १०।५४।८०) इत्यादिवचनैः सर्वत्र भगवद्भोग्यपदार्थमात्रे श्रीकमलारूपता निर्विचिकित्सितैव.

इदन्तु इह विशेषतो अवधेयं भवति : आद्यकारिकायां स्वरूपबोधकनामभिः निरूप्यमाणाः भगवतो स्वभावसिद्धाः हि धर्माः जीवेषु कर्तव्यधर्मतया

अवश्यानुष्ठेयाः भवन्ति. यथाहि सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः सत्ता चेतना आनन्दः चेति धर्माः जगति क्रमशः सत्त्वरजस्तमोजनितैः जडे जायतेऽस्तीत्यादिक्रियारूपैः, जीवेषु अज्ञानसंशयभ्रमस्मृतिनिश्चयनिद्रादिरूपैः, तथैव दैहिकैन्द्रियकमानसादिसुखरूपैः प्रादुर्भवन्ति. परस्य स्वयम्प्रकाशरूपतापि जीवात्मसु ज्ञानक्रियाद्रव्यरूपैः विविधैः अहन्तारूपैः अनुभूयते. ध्रुवाएव स्वरूपभूतैश्वर्यादिषड्गुणाः जीवात्मसु अध्रुवतयापि. **'भगवच्'**छब्दलक्षणो यो भगवति त्रिगुणातीतत्वरूपो धर्मः सएव ज्ञानिभक्तजीवेषु संसारनिवर्तक-ज्ञानयोग-निर्गुणभक्तियोगात्मकसाधनतया फलति. तदुक्तं **''ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणो द्वयोरपि एकएव अर्थो 'भगवच्छब्दलक्षणः''** (भाग.पुरा.३।३२।३२) इति. एवमेव आनन्दात्मके भगवति क्रियाज्ञानानन्दोच्छलनरूपा हि याः सृष्टिलीलाः ताएव जीवात्मसु पुष्टिमर्यादाप्रवाहौपयिकजीवदेहक्रियाभेदैः बन्धमुक्तिप्रदैः रूपैः प्रादुर्भवन्ति. तेनैतेन श्रीकृष्णस्य भगवतो याः व्रजमथुराद्वारकालीलाः ताएव प्रभुचरणचेतसि सम्भाव्यविप्रयोगवैक्लव्येन विवशतया शयनारार्तिकार्यया निराजनकर्मणि समुद्गताः इह अनुलक्ष्यन्ते. अथ रीतिरियं नायिकानां वर्णनं वा भवतु आभरणैः अलंकरणं वापि तद् मस्तकादि-पादान्तं भवति. नायकानान्तु वर्णनं पुनः पदादि-मस्तकान्तमेव भवतीति आदौ **'शरणागते'**त्यादिना आश्रयोपलक्षितभगवत्पादवर्णनं ततः कचकोशनिवेशितपुष्पचयान्तं वन्दनांगतया क्रियते.

तथाहि

(अथ आद्यकारिकायाः दीपशिखा)

[१]शरणागतभीतिनिवृत्तिपरं [२]परपक्षतमोनिकरांशुनिधिम्॥
[३]निधिसेवितपादसरोजयुगं [४]युगधर्मनिवर्तितकालकरम्॥१॥

(१.शरणागतभीतिनिवृत्तिपरम्)

[१]तत्र **शरणागत**...इति. शरणे आगतः **शरणागतः** तस्य भीतेः निवृत्तिः **शरणागतभीतिनिवृत्तिः** तत्कृते परः परायणः **तं शरणागतभीतिनिवृत्तिपरं घोषाधिपतिं कमलाधिपतिं मथुराधीशम् अहं वन्दे** इति अन्वयः.

इह शरणागतेः द्वैविध्यं भगवतो अवतारकालिकलीला सृष्टिलीला च इति फलसाधनरूपभेदेन अवगन्तव्ये. ननु **'सर्वं खलु इदं ब्रह्मे'**तिवादे केयं भेदकथा? ब्रूमः फलमपि ब्रह्म साधनमपि ब्रह्मेति मिथो भिन्नयोः इदंकारास्पदयोः फलसाधनादिरूपयोः सर्वयोः ब्रह्माभेदः इति सन्तोष्टव्यम्. तस्माद् उभयोः अवतारानवतारकालयोः प्रमाणप्रमेयसाधनफलभेदैः लीलाचातुर्विध्यात् शरणागतेरपि तथात्वम् अवसेयम्. तत्र भगवदवतारकाले तामसफलप्रकरणीयलीलायां भगवतो अन्तर्धाने **''विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणम् ईयुषां संसृतेः भयात्''**, **''प्रणतदेहिनां पापकर्शनं... श्रीनिकेतनम्''** (भाग.पुरा.१०।३१।५-७) इति भगवद्दिदृक्षया चरणध्यानशरणभावनेएव परमोपायभूते इति तद्ध्यानावेगवशाद् अस्याम् आर्यायामपि यथा आदौ प्रमाणसाधनभूते शरणागती तथा भगवतोऽपि तादृगेव प्रमाणसाधनभूतं शरण्यरूपम् आदौ निरूपितम्.

एतावान् परं विशेषः : गोपिकाभिस्तु अन्तर्हिते भगवति अन्वेषणाहंकारं परित्यज्य फलरूपा शरणागतिः प्रमेयबलाद् अनुष्ठिता इति तत्र स्पष्टम्. प्रभुचरणैस्तु भगवत्संनिधावेव भाविवियोगभावनया स्वस्य प्रमाणसाधनरूपा शरणागतिः भगवति निवेदिता च आर्याग्रन्थप्रकटीकरणेन उपदिष्टा चापि, पुष्टिसम्प्रदायाचार्यतया प्रादुर्भूतत्वात् श्रीमत्प्रभुचरणानाम्. तेनच वियोगभीतिनिवारकत्वं भगवति यद् वर्तते तस्य भगवते प्रपत्यभिज्ञापनं तदनु निजानुगामिनां तथाकरणाय उपदेशनमपि सदैन्यवन्दनेन उपनिबद्धम्.

यद्यपि **''शरणं गृहरक्षित्रोः''** (अम.को.५।२४४०) इति कोशात् स्वभावसिद्धा शरणागतिः सर्वस्यापि वस्तुमात्रस्य अस्त्येव तदर्थे भगवतो जीवानां वा प्रयत्नापेक्षापि नास्ति तथापि तत्त्वतः तदैकरक्ष्यानामपि **''अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता माम् आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तो अभ्यसूयकाः''** (भग.गीता.१६।१८) इति वचनाद् अहंकारबलाद्यन्याश्रयसत्त्वेऽपि भगवदाश्रयवैपरीत्यसम्भावनया भगवदनन्याश्रयसंकल्परूपा भावनरूपा वा शरणागतिः सततम् अनुष्ठेयैव. अतो भगवदाश्रयसंकल्पप्रभवं स्वभगवत्स्वरूपयोः तथाविधं

ज्ञानं तत्त्वस्मृतिरूपं जायते चेद् जीवो भक्तिप्रपत्तिभ्यां समर्थो भवति. अतो अज्ञानजनिताहंकारेण निजात्मनः प्रमाणसाधनरूपः संकल्पो अनवतारकाले अपेक्ष्यतएव. तदुक्तं **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्''**, **''समो अहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो अस्ति न प्रियो ये भजन्तितु मां भक्त्या मयि ते तेषु चापि अहम्''**(भग.गीता.४।११, ९।२९) इति. तथात्वेतु शरणागतपरिपालनं तावद् भगवतः खलु अंगीकृतो व्रतएव केवलः इति न मन्तव्यं किमुत स्वाभाविको धर्मोऽपि भवत्येव. तथाहि **''एष ह्येव आनन्दयाति. यदा ह्येव एषः एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सो अभयं गतो भवति. यदा ह्येव एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति. तत्त्वेव भयं विदुषो अमान्वानस्य''** (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुतेः परब्रह्मत्वेन अभयंकरत्वं भगवतः स्वभावसिद्धोऽपि धर्मो वर्ततएव.

तथैव दैवजीवानामपि अनवतारकाले भीतिरपि द्विधा बोद्धव्या : १.स्वधर्माननुष्ठानजन्या एका अधर्मानुष्ठानजन्या च अपरा. तयोः निवृत्तिः **''सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच''**, **''तस्मात् त्वम्... उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या हि अकुतोभयम्''** (भग.गीता.१८।६७, भाग.पुरा.११।१२।१४) इत्येवमादिवचनेभ्यः एतादृश्याः भीतेः निवारकता भगवता प्रतिश्रुता उपदिष्टा चेति आहुः **तं वन्दे** इति भगवतः प्रपन्नवन्द्यताबोधनेन इति तात्पर्यम्.

(२.परपक्षतमोनिकरांशुनिधिम्)

[२]सेयं भीतिः मूलतस्तु सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः तिरोहितानन्दांशकचिदंशत्वेन अशेषजीवानां भगवतः ऐश्वर्यादिषड्गुणतिरोधानाद् सञ्जायते. स्वरूपविस्मृतिहेतुका खलु इयं तावद् आदिमा. तत्कृता च अन्ये चत्वारो अन्तःकरण-प्राणेन्द्रिय-देहादिषु अहन्ताममताजनिताः आविद्यकपञ्चपर्वाध्यास-

रूपा:. यद्यपि एते दैवजीवेष्वपि साधारणा: तथापि तेषु एतादृक्पञ्चपर्वाध्यासजनितैव आध्यासिकबन्धाद् विमुक्तिकामना वा भगवद्भक्तिकामना वा विजायते. तथाच द्विविधयोरपि जीवयो: सृष्टिभेदात् पक्षभेदो भवति. सति चैवं दैवजीवपक्षापेक्षया भिन्नानां आविद्यकसंसारप्रवाहपतितानां जीवानां देहादिधर्मेष्वेव मोहजालबद्धानां भगवतो अविद्याशक्तिरूपेण तमसा जनिता: अनेकविधा: मोहा: — अहन्तास्पदेषु देहन्द्रियप्राणान्त:करणेषु ममतास्पदेषु च दारागारपुत्राप्तवित्तादिषु ये भगवद्भक्तिप्रपत्तिबाधका: तेभ्य: आसुराणाम् अभीरुत्वेऽपि दैवास्तु बिभ्यत्येव. तथाच तमोलीनानां पक्षो दैवसृष्ट्यपेक्षया परपक्ष:. तत्स्वरूपनिरूपणन्तु भगवद्गीतातएव स्फुटति. तथाहि:

''आसुरं पार्थ मे शृणु. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना: न विदु: आसुरा:... मोहाद् गृहीत्वा असद्ग्राहान् प्रवर्तन्ते... त्रिविधं नरकस्य इदं द्वारं नाशनम् आत्मन: काम: क्रोध: तथा लोभ:... एतै: विमुक्त:... तमोद्वारै: त्रिभि: नर: आचरति आत्मन: श्रेय:...''

(भग.गीता.१६।६-२२).

''तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्''.

(भग.गीता.१४।८)

''मत्त: स्मृति: ज्ञानम् अपोहनं च''.

(भग.गीता.१५।१५).

''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते''.

(भग.गीता.७।१४).

इति.

ननु जागरूके हि ब्रह्मवादे त्रिगुणात्मिकायाअपि **''प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम् आधार: पुरुष: पर: सतो अभिव्यञ्जक: कालो ब्रह्म तत्त्रितयन्तु अहम्''** (भाग.पुरा.११।२४।१९) इति वचनाद् ब्रह्मात्मकता. तस्या: त्रिगुणात्मिकाया: प्रकृतेरिव तदेकतमगुणजातस्य सर्वदेहिमोहकस्य अज्ञानस्यापि

वा भवतु अहंकारस्य वापि ब्रह्मात्मकत्वेनैव तल्लीलारूपतैव. न पुन: परपक्षीयतमोनिकरतेति श्रुतावपि **''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय... विज्ञानं च अविज्ञानं सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्... तदपि एष श्लोको भवति''** (तैत्ति.उप.२।६) इति उपलभ्यते. यद्यपि भगवान् **''दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता''** इति आसुरीं सृष्टिं विनिन्द्य **''असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहु: अनीश्वरम्.. मोहाद् गृहीत्वा असद्ग्राहान्''** (भग.गीता.१६।५-१०) इति आसुरजीवानां बन्धपर्यवसायित्वं तन्मतिस्वरूपं च तन्निन्द्यतां चापि उक्तवान्. तथापि सकलवचनैकवाक्यतासम्पादने आसुरयोनि-आसुरमति-तदसद्ग्राहादीनां सर्वेषामपि भगवल्लीलात्वमेव अध्यवसेयम्. तथासति तत्पक्षस्य परपक्षत्वं कथं सम्भवेद्?

अत्र ब्रूमो : भगवत्स्वरूप-विस्मृति-चित्ताहंकार-मनो-बुद्धीनामपि वासुदेवसंकर्षणानिरुद्धप्रद्युम्नरूपतापि भागवते प्रतिपाद्यतइति सर्वब्रह्मतादात्म्यवादसंक्षेप:. सत्यं तथापि दैवासुरविभागस्य लीलात्वेऽपि दैवानां कृते आसुरत्वस्य परपक्षता आसुराणां कृते दैवत्वस्य परपक्षतेति ऐच्छिकविभेदस्य अपह्नोतुम् अशक्यत्वम्. अतो या हि दैवी सम्पद् **''अभयं सत्त्वसंशुद्धि:... नातिमानिता भवन्ति सम्पदं दैवीम् अभिजातस्य''** (भग.गीत.१६।१-३) इतिवद् **''दम्भो दर्पो अभिमान:... अज्ञानं च अभिजातस्य''** (भग.गीता.१६।४) इति इतरेतरोपरमर्दकरूपप्राकट्यात्मिकैव भगवल्लीलापि अस्वीकर्तुं न शक्या. अतो भगवत्कृते न कस्यापि परपक्षता परन्तु तत्तत्पक्षान्तर्भूतानां जीवात्मानान्तु कृते अपर: पक्ष: कुतो न परपक्षो भवेद्? तत: स्वभावसिद्धभयनिवारकस्यापि ब्रह्मणो लीलायां मिथो भीतिरपि न अशक्यवचना. तत्र सर्वत्र अज्ञानस्य ब्रह्मज्ञाननिरस्यतया तया प्रक्रियया भीतिनिराकरणं ज्ञानमार्गे. भक्तिलीलान्त:पातिनान्तु सर्वत्र भगवल्लीलाबोधाद् भगवत्कर्तृकमेव अज्ञानाद्यासुरसम्पन्निराकरणकारणत्वम् अंगीकरणीयम्. लीलाबोधेतु नहि अस्मदाद्यज्ञानकृतोऽयं खलु अस्माकम् आध्यासिको बन्ध: किमुत भगवल्लीलासंकल्पजातइति बन्धमोक्षयो: उभयोरपि भगवत्कर्तृकतानुसंधानेन भगवत्प्रार्थनैव उचिता. अतएव सर्वत्र भगवल्लीलादिदृक्षूणां भक्तानां कृते दैवजीवानां कृते यावत् स्वस्मिन्

स्वबन्धमोक्षकर्तृताप्रत्ययः तावद् आसुरभावावेशजन्या भीतिरपि भवत्येव. अतः सुश्लोकितं खलु **'परपक्षतमोनिकरांशुनिधिम्'** इति. **परेषां** प्रावाहिकजीवानां **पक्षः** तेषु यो **तमोनिकरः** आविद्यकाः मोहाः बहुविधाः तेषां निराकरणाय **अंशुनिधिः** तमोनिकरनिवारकानां रश्मीनां निधी सूर्याचन्द्रमसौ इव यः **तं** भगवन्तं **वन्दे** इति पूर्ववत्. अत्र **''एकया उक्त्या 'पुष्पवन्तौ' दिवाकरनिशाकरौ''** (अम.को.१।७।२३५) इति न्यायाद् **अंशुनिधिः** शीतोष्णभेदेन उभौ हिमांशुः चन्द्रमा चैव सहस्रांशुः रविः तथेति अंशुनिधी ज्ञेयौ. एकस्य आविद्यकतमोमोहनिवारकता अपरस्य स्वलीलानन्ददानेन स्वरूपामृताप्यायकता च सूचिता. यस्मात् **''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपर ईश कुर्युः कर्तुः प्रभोः तव किम् अस्यतः आवहन्ति त्यक्तह्रियः तदवरोपितकर्तृवादाः** (भाग.पुरा.८।२४।२०) इति उक्त्या नायम् आध्यासिको बन्धः स्वकृतो नाप्यतो मुक्तिरपि स्वकृता दैवजीवैः मन्तुम् उचितेति; तथापि, भगवतैव स्वेषां कृते ये परपक्षाः सृष्टाः तेषां तमोनिकरं हे प्रभो अस्मासु त्वमेव दूरीकर्तुम् अर्हसि. तेन भक्तिभावविशतया यदपि अस्मदीयं तद् वस्तुतस्तु त्वदर्थमेवेति तत् स्वसर्वस्वं त्वयि भगवति समर्पणे त्वदीयो हि अहंकारो अस्मान् त्वदभिमुखं करोतु. न जातु त्वद्विमुखमिति एवमपि भगवान् इह वर्ण्यते **परपक्षतमोनिकरांशुनिधिम्** इति. एतेन जडजीवेश्वरप्रभेदेन विहरतो प्रभोः तव सदंशाद् जातो अयं देहादिसंघातः, चिदंशाद् जाता च जीवचेतना, तयोः संघातेन जाताः चित्ताहंकारमनोबुद्धिज्ञानकर्मेन्द्रियेषु जातो अहन्ताध्यासोऽपि, तथा आनन्दांशधर्म-भूतायाः आत्मरतेः जाता अहन्तास्पदेषु देहेन्द्रियादिष्विव ममतास्पदीभूतेषु दारागारपुत्राप्तवित्तादिष्वपि या खलु वैषयिकी रतिः सैषा सर्वापि सामग्रीः त्वत्क्रीडार्थं त्वदुपभोगार्थं समर्पणे परपक्षतमोजन्या बाधा मा भूद् इति ध्वनितम्.

ननु दैवासुरसम्पद्विभागयोगे भगवता आसुरजीवस्वरूपनिरूपणे **''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनाः न विदुः आसुराः न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते''** (भग.गीता.१६।७) इति सुनिर्धारितं तथात्वे सति

तएते गुणाः यदि परपक्षतया दैवजीवानां कृते स्युः तदा ये तु दैवजीवाः तेषु **''न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्''**, **''तस्मात् त्वम् उद्धव उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्''** (भाग.पुरा.७।७।५२, ११।१२।१४-१५) इत्युक्त्या तएव सर्वेऽपि गुणाः सर्वदेहिनाम् शरण्यात्मके भगवति शरणागत्यै चापि उपदिष्टेति समानशीलव्यसनेषु सख्यमिति दैवासुरयोः मिथो परपक्षता अनुचितैव आभाति इति चेद्,

न, **''धर्मोऽपि अधर्मतां याति परमात्मन्यनादृते! अधर्मो धर्मतां याति श्रद्धया जगदीश्वरे''** इति न्यायेन भगवति अप्रपन्नत्वरूपो हि मुख्यो खलु असाधारणः परपक्षतावच्छेदको धर्मो बोद्धव्यः. अन्येतु ये केऽपि साधारणाः वा असाधारणाः वा धर्माः ते परपक्षतावच्छेदकतया अविवक्षिताएव. स्वशरण्यस्य भगवतो या सृष्टिलीला तदन्तःपातितया सर्वस्यापि वस्तुजातस्य या किल ब्रह्मोपादानकता ब्रह्मात्मकता च, भगवतो हि आत्मरतेः आनन्दवैविध्यानुभूतेः विषयतारूपाः अनेकाः महासाधारणधर्माअपि सर्वेषु वस्तुजातेषु तुल्यतया विद्यन्तएवेति न स्वभजनीयरूपत्यागेन यत्रकुत्रापि कुक्कुरशूकरादेः भजनं शक्यते निर्वोढुम्. तदुक्तं **''ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं जगतो व्यतिरिच्यतइति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या''**, **''यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे... सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानांगम् ईर्यते, पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिः तथा, भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्यै तथापि तु आदिमूर्तिः कृष्णएव सेव्यः''** (सुबो.२।९।३५, त.दी.नि.१।११-१३)इति सर्वं समञ्जसमेव.

एतेन सच्चिदानन्दस्य परब्रह्मणः चिदंशभूतानां जीवानां या अहंताममतास्पददेहादिवित्तान्ताः सम्पदः सन्ति, तासां विषयासक्तिसन्तोषाय दुर्व्यये तमोमोहनिकरान्तःपातनरूपानर्थराशित्वमेव, तासां भगवता स्वांशेषु निक्षिप्तोपनिधिरूपत्वात्. यथाच उच्यते व्यावहारिके विषये **''ससाक्षिकं रहोदत्तं द्विविधं समुदाहृतं पुत्रवत् परिपाल्यं तद् विनश्यति अनवेक्षया''**, **''भर्तृ-**

द्रोहे यथा नार्याः पुंसः पुत्रसुहृद्वधे तथा, दोषो भवेत् तथा न्यासे भक्षितोपेक्षिते नृणाम्'', ''दैवराजोपघातेन यदि तन्नाशम् आप्नुयाद् ग्रहितृद्रव्यं सहितं तत्र दोषो न विद्यते'' (बृह.स्मृति.१।११।६,१।११।८,१।११।११) इति. ननु अत्र भक्षणेऽपि दोषः समाख्यातइति यदि नैजाः अहन्ताममतास्पदाः देहवित्तादयोऽपि नोपभोगार्हाः चेद् रक्षणायापि समर्थः न कोऽपि भवेत्. अतः उभयतःपाशे का गतिः ? इति चेद्, अत्र वदामः कस्यचन क्वचन स्वाम्यं हि तावद् वैयक्तिकानुवंशिकभेदभिन्नमपि पुनः चतुर्विधं भवति : पालनौपयिकं भोगौपयिकं नाशौपयिकं परित्यागौपयिकं चेति. तत्र उपनिधेः निक्षेपकाले यादृग् ग्रहीतृस्वाम्यं निक्षेप्त्रा अभ्यनुज्ञातं तादृगेव स्वाम्यम् उपनिधिग्रहीत्रा स्वस्य मत्वा तथैव पालनं धर्म्यमिति. अतो अननुज्ञातोपभोगे तु दोषसत्त्वेऽपि अनुज्ञातोपभोगे, गवादेः यथा क्वचन निक्षेपे पालनदोहनौपयिकस्वाम्यमपि अभ्यनुज्ञातं चेद् तद्गोः दुग्धोपभोगे न निक्षेप्तुः वञ्चनं वक्तुं शक्यम्. प्रमादादादिभिस्तु गोविनाशे जाते अपराधो भवत्येव. तथा अहन्तास्पदममतास्पदीभूतेषु भोगौपयिकं पालनौपयिकं स्वाम्यं भगवत्प्रदत्तमेव स्वीकरणीयम्. अन्यथा **''ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तम् इमं परं हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुम् उत्सहे''** (भाग.पुरा.९।४।६५) इति भगवतो निजशरणागत्यै जीवात्मनाम् अहन्ताममतास्पदेषु हानौपयिकस्वाम्यस्य अनुमतत्वद्योतनम् अनुपपन्नमेव स्यात्. इतरथा शरणागतिरपि जीवसंकल्पोत्थिता न स्यात्, जगति नामरूपकर्मात्मकस्य वस्तुजातस्य तत्त्वतस्तु भगवच्छरणएव अवस्थितत्वात्. भगवता स्वस्वीयसेवायै जीवात्मसु अहन्ताममतास्पदानां निक्षेपतया स्थापनेन भागवतोपनिधित्वेन भगवदुपभोगार्थं संरक्षणे संवर्धने प्राप्तकाले तदविनियोगे श्रद्धावति तु निधित्वं निर्व्यलीकमेव, अनर्थापर्यवसायित्वात्. तदुक्तं **''धनं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णो अनर्थस्य वारकः''** (त.दी.नि.२।२५२) इति. ताभ्यामेताभ्यां निधिभ्यां भगवान् सेवनीयइति भगवते वन्दनम् आह :

(३.निधिसेवितपादसरोजयुगम्)

[3]**निधिभ्यां** निधिकल्पाभ्यां तनुवित्ताभ्यां **सेवितौ पादौएव सरोज**रूपौ

तयोः **युगं** युगलं यस्य तं भगवन्तं वन्दे इति पूर्ववत्.

इदम् इह आशंक्यते यदि एताभ्यां स्वीयैकोपनिधितया जीवात्मनि निक्षिप्ताभ्याम् अहन्ताममतास्पदतनुवित्तनिधिभ्यां भगवान् सेवनीयः चेद् तदा **''अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते''** (बालबो.७) इत्यनया श्रीमदाचार्योक्त्या कुतो न विरोधो इह आपतति ? नैवेति ब्रूमो, नहि बालबोधनाय उपदिष्टा उक्तिः सिद्धान्तरहस्यपदवीम् आरोढुम् अर्हति ! तथाहि सिद्धान्तरहस्येतु **''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिः... तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः, गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना गंगात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वद् अत्रापि चैव हि'', ''व्यर्थत्यागापेक्षया भगवति समर्पणम् उत्तमम्''** (सिद्धा.रह.२-९ , सुबो.३।२९।३३)इति उक्तत्वाद् ममतास्पददेहस्य अहन्तास्पदस्य जीवस्यापि ब्रह्मसम्बन्धेन तु ब्रह्मतत्त्वदृष्ट्या भावाद्वैतबोधे, सृष्टिलीलादृष्ट्या द्रव्याद्वैतबोधे च, तथा परमात्मनि स्वसर्वस्वनिवेदनेन क्रियाद्वैतबोधेऽपि अन्ततः ब्रह्मोपादानकस्य ब्रह्मैकार्थस्य सर्वस्य ब्रह्मात्मकता सम्पद्यते (द्रष्ट. : भाग.पुरा.७।१५।६२-६६).

अतएव अहन्ताममतास्पदोपलक्षणीभूताभ्यां भगवति समर्पिताभ्यां तनुवित्ताभ्यां भगवत्सेवने जीवात्मनः चित्तस्य भगवत्प्रवणतासिद्धावेव मनसोऽपि तदेकपरत्वसिद्धिः सम्भाव्यते नान्यथा. तदुक्तं **''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतः तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा, ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्''** (सिद्धा.मुक्ता.१-२) इत्यत्र. नच चित्ताहंकारमनोबुद्धिषु त्रयाणामेव भगवति विनियोगो अत्र निरूपितो न पुनः बुद्धेः तस्यान्तु असम्भावनाविपरीतभावनोद्रेके सति त्रयाणां विनियोगेऽपि समग्रस्य अन्तःकरणस्य भगवति विनियोगाभावएव पर्यवसितो भवेद् इति वाच्यं, तस्याएव भगवति विनियोगस्य **''परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयो अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्''** (सिद्धा.मुक्ता.११-१२) इत्यंशेन अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्. इति न केवलं स्वगृहाधिष्ठितस्य सेव्यस्वरूपस्य

श्रीमदाचार्यप्रवर्तितपुष्टिभक्तिमार्गे निधित्वं किमुत तत्सेवायां विनियोगार्हाणां गद्यमन्त्रोक्तानां सर्वेषामपि निधित्वं निष्प्रत्यूहम्. एतेन लाभपूजार्थं भगत्सेवाप्रदर्शकानां सेव्यस्वरूपाणां पुष्टिमार्गीयनिधित्वं निराकृतमपि वेदितव्यम्.

एतेन **''सेवायां वा कथायां वा यस्य आसक्तिः दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिः मम''** (भ.व.९) इति श्रीमदाचार्योक्तो भक्ताविनाशो बोध्यते. ननु **''कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्याः इति मे मतिः'', ''यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यति कथञ्चन तदा कालप्रवाहस्थाः देहचित्तादयोऽपि उत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिः मम''** (वि.धै.आ.१७, शि.श्लो.१-२) इति आचार्योक्त्या भक्तिदुःसाध्यताहेतुकं बाहिर्मुख्यं तत्कृतं कालप्रवाहपातित्यमपि इति एतादृश्याः भीतेः वारणं कथं स्याद् इति आह :

(४.युगधर्मनिवर्तितकालकरम्)

[४]**युगे** कलियुगे यो **धर्मः ''पुसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः, श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः पूजितश्च आदृतोऽपि वा नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभं... कलेः दोषनिधेः राजन् अस्ति ह्येको महान् गुणः कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्, कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनात्''** (भाग.पुरा.१२।३।४५-५२) इति श्रीमद्भागवतवचनाद् इह भगवन्तं हृदिकृत्य पूजादरकीर्तनादेः यथोक्तानुष्ठाद् **''अथापि धर्ममार्गेण(भगवदुक्तमार्गस्य पाषण्डरहितानुसरणेन) स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति''** (त.दी.नि.२।२१५) इति आचार्योक्त्या कलिदोषाभिभवाभावो न दुःसाध्यः. येतु पुनः वाल्लभाअपि लाभपूजाभिवृद्ध्यर्थं भजनपाषण्डैकरताः तेतु आसुराः वा आसुरावेशिनो वा मार्गेऽस्मिन् भगवता कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्याविष्करणाय कलिकालप्रवाहपातनार्थमेव प्रकटीकृताः तेषां कृते एतद्युगधर्मेण कलिकालकरस्य उपरोधो

नैव विवक्षितः. तदुक्तं ''तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान्'' (शि.श्लो.१).

इतःपरं सप्तविंशति भगवतो लीलानिरूपकाणि नामानि यथायथं सुबोधिनीतएव सतात्पर्यपर्यालोचनेन अवगन्तव्यानि मननीयानि च. मादृशातु अशक्यव्याख्यानान्येवेति विरम्यते.

[1]करजोल्लिखितप्रमदौघकुचं [2]कुचकुंकुमलिप्तविशालहृदम्।।
[3]हृदयस्थितगोकुलवासजनं [4]जनसञ्चितपुण्यचयैकफलम्।।२।।

[1]करजैः नखैः उल्लिखिताः प्रमादानाम् ओघस्य कुचाः येन स करजोल्लिखितप्रमदोघकुचो तं भगवन्तं (वन्दे).

[2]कुचानां कुंकुमैः लिप्तं विशालं हृद् यस्य तं भगवन्तं (वन्दे).

[3]गोकुले वासो येषां ते गोकुलवासाः जनाः हृदये स्थिताः गोकुलवासजनाः यस्य तं भगवन्तं (वन्दे).

[4]जनैः सञ्चितानां पुण्यानाम् एकं मुख्यं फलं यः तं भगवन्तं (वन्दे).

[1]फलदानपरातिसमर्थभुजं [2]भुजदण्डगृहीतकुचाग्रमणिम्।।
[3]मणिशोभितहस्तधृताद्रिवरं [4]वरगोपवधूचयसंवलितम्।।३।।

[1]फलानां दाने परौ अतिसमर्थौ भुजौ यस्य तं भगवन्तं (वन्दे).

[2]भुजस्य दण्डेन गृहीताः कुचानाम् अग्रे स्थिताः मणयो येन तं भगवन्तं (वन्दे).

[3]मणिना शोभिते हस्ते धृतो अद्रिषु वरः श्रेष्ठो गोवर्धनो येन तं भगवन्तं (वन्दे).

[4]वरेण श्रेष्ठेन गोपानां वधूनां चयेन संवलितो यः तं भगवन्तं (वन्दे).

[1]वलितप्रमदायुतरासकरं [2]करपद्मयुगाहितवेणुवरम्।।
[3]वरभक्तशिरःस्थितपद्मकरं [4]करमर्दितयादवयूथरिपुम्।।४।।

[1]वलिताभिः प्रमदाभिः युतो यो रासः तस्य यो करः कर्ता तं भगवन्तं (वन्दे).

[2]करएव पद्मं करपद्मं तयोः युगे करपद्मयुगे तयोः आहितो वेणुः तेन वरः यः प्रत्यग्ररसभोक्ता तं भगवन्तं (वन्दे).

[3]वरस्य पुरुषोत्तमस्य यो भक्तः तस्य शिरसि स्थितं पद्मरूपं करं यस्य तं भगवन्तं (वन्दे).

[4]यादवानां यूथस्य रिपवो यादवयूथरिपवः करेण मर्दिताः यादवयूथरिपवो येन तं भगवन्तं (वन्दे).

[1]रिपुयूथभुजंगमदर्पहरं [2]हरपूजितरम्यसरोजपदम्।।
[3]पदपद्मयुगार्चनदत्तपदं [4]पदपद्मनखस्थितभक्तिरसम्।।५।।

[1]रिपूणां यूथएव भुजंगमः तस्य दर्पं यो हरति स रिपुयूथभुजंगमदर्पहरः तं भगवन्तं (वन्दे).

[2]हरेण महादेवेन पूजिते रम्ये च सरोजे इव पदे यस्य तं भगवन्तं (वन्दे).

[3]पदेएव पद्मे तयो युगं तस्य अर्चनाय दत्तं पदं येन तं भगवन्तं (वन्दे).

[4]पदेएव पद्मे तयोः नखेषु स्थितो भक्तेः रसः यस्य तं भगवन्तं (वन्दे)

[1]रसपूरितगोपवधूशरणं [2]शरणागतघोषजनाभयदम्।।
[3]भयदौघशिरोहरखड्गधरं [4]धरणीकृतपुण्यचयैकफलम्।।६।।

[1]रसेन रासरूपेण गोपवधूनां गोपानां वध्वः गोपवध्वः तासां शरणं

शरणागतिः येन पूरिता मनोरथान्तं यावद् नीता येन तं भगवन्तं (वन्दे).

[2]शरणे आगताः घोषस्य ये **जनाः** तेभ्यः **शरणागतघोषजनेभ्यः** **अभयं** भयाभावं यो ददाति इति **दः** तं भगवन्तं (वन्दे).

[3]भगवन्तम् अनुधावतः **भयदस्य रुक्मेः जातो** रुक्मिण्यां **भयानाम्** **ओघः** **भयदोघः** तस्य वारणाय **रुक्मिशिरोहरं खड्गं धारयति** इति **भयदोघशिरोहरखड्गधरं** तं भगवन्तं (वन्दे).

[4]**धरण्यां कृतानां पुण्यानां चयः** तस्य **एकं** मुख्यं **फलं** फलरूपं तं भगवन्तं (वन्दे).

[1]**फलहेतुविमर्दितदुष्टखलं** [2]**खरमुक्तिदपादसरोजवरम्**॥
[3]**वरबर्हिशिखण्डकयुक्तकचं** [4]**कचकोशनिवेशितपुष्पचयम्**॥७॥

[1]दुष्टाः च इमे खलाः च **दुष्टखलाः** **विमर्दिताश्च** **दुष्टखलाश्च** येन **फलाय** फलानुभूतिप्रदानहेतोः तादृशो **विमर्दितदुष्टखलो** यः तं भगवन्तं (वन्दे).

[2]**खराय** खरोपमपरुषभाषिणे शिशुपालाय **मुक्तिदः** **पादएव** **सरोजवररूपो** यस्य तं भगवन्तं (वन्दे).

[3]**वरो बर्हिणः शिखण्डकेन युक्तः कचो** केशः यस्य तं भगवन्तं (वन्दे).

[4]**कचानां** केशानां **कोशेषु निवेशितः** **पुष्पानां चयो** येन तं भगवन्तं (वन्दे).

घोषाधिपतिं कमलाधिपतिं वन्दे तमहं मथुराधीशम्॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता
शयनारार्तिकार्या
समाप्ता

तं एवं गुणविशेषैः विशिष्टं **घोषाधिपतिं कमलाधिपतिं मथुराधीशम्** अहं **वन्दे** इति अन्वयः. शेषस्तु निगदव्याख्यातः.

लीलानुस्मारकाणि श्रीकृष्णनामानि यानि वै॥
व्याख्यातुं नैव शक्यानि मादृशेन कदाचन॥१॥
श्रीमत्प्रभौ क्रमात् चैवाक्रमाच्चापि हि व्युत्क्रमात्॥
लीलात्मिकायां सेवायां वियोगाब्धितरंगवद्॥२॥
यान्युद्गतानि, तेष्वत्र कृतं यद् बुद्धिचापलम्॥
तन्मे क्षमन्तु ते मत्वा स्वीयोऽयं वै निजाश्रितम्॥३॥
सप्त्युत्तरद्विसहस्रे वैक्रमे वत्सरे मया॥
कृष्णजन्माष्टमी-जात-कृपया लिखिता मुदा॥४॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण
विरचिता शयनारार्तिकार्यादीपशिखा
सम्पूर्णा

॥ श्रीकृष्णाय नमः॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

॥ चतुःश्लोकी॥

(आधुनिकपुष्टिजीवानां स्वधर्मोपदेशः)

सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो व्रजेश्वरः॥
करिष्यति सएवास्मद् ऐहिकं पारलौकिकम्॥१॥

(आधुनिकपुष्टिजीवानाम् अनर्थपरित्यागपूर्वकार्थोपदेशे अवान्तरार्थस्वरूपोपदेशः)

अन्याश्रयो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः॥
स्वकीयेष्वात्मभावश्च कर्तव्यः सर्वथा सदा॥२॥

(आधुनिकपुष्टिजीवानां कामोपदेशांगभूततद्विपरीतकामप्रतिषेधः)

सदा सर्वात्मना कृष्णः सेव्यः कालादिदोषनुत्॥
तद्भक्तेषु च निर्दोषभावेन स्थेयम् आदरात्॥३॥

(सेवाभक्तिफलाशारहितानाम् आधुनिकपुष्टिजीवानां भूतले जीवनसाफल्योपायोपदेशः)

भगवत्येव सततं स्थापनीयं मनः स्वयम्॥
कालोऽयं कठिनोऽपि श्रीकृष्णभक्तान् न बाधते॥४॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचिता चतुःश्लोकी समाप्ता

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
आधुनिकपुष्टिजीवेभ्यो धर्मार्थकाममोक्षोपरा
प्रभुचरणकृतचतुःश्लोकीतात्पर्यसूचनिका सम्पूर्णा

॥ चतुःश्लोकीभावानुवाद॥

श्रीमदाचार्यचरणविरचित षोडशग्रन्थान्तर्गत चतुश्लोकी पुष्टिभक्तिसम्प्रदायके आदर्शभूत धर्मार्थकाममोक्षरूप चार पुरुषार्थोंके आदर्शस्वरूपका उपदेश है; परन्तु, प्रस्तुत प्रभुचरणविरचित चतुश्लोकी उस उच्च आदर्शको जीवनमें अनुष्ठानान्वित करनेमें होती कठिनाइओंसे कैसे पार पाना इस आशयवाला व्यवहारोपदेश है.

आधुनिक पुष्टिजीवोंके वास्ते स्वधर्मके उपदेशार्थ कहते हैं : **सदा** आजीवन **सर्वात्मभावेन** अपनी अहंता और ममता से जुड़े सभी पदार्थ सेवा या कथा रूपिणी भगवद्भक्तिके लिये हैं ऐसा मनोभाव हृदयमें दृढ़ रखते हुवे **व्रजेश्वरः** भगवान् श्रीकृष्णके व्रजलीलामें प्रकट स्वरूप गुण और लीलाओं के बारेमें दास्यभाव सख्यभाव और आत्मनिवेदनभाव रूपा भावना करते हुवे **भजनीयः** स्वगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपकी व्रजभावात्मिका अर्चन पादसेवन वन्दन और अर्चन रूपा तनुवित्तजा सेवा; अथवा, उन्हीं व्रजाधिपके नाम रूप गुण और लीलाओं का श्रवण कीर्तन और स्मरण रूपा कथा निभानी चाहिये. **सएव** परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण वही सेवनीय और भावनीय स्वरूप ही **अस्मद् ऐहिकं पारलौकिकं** हमारे लिये इस भूतलपर अथवा अन्यत्र परलोकमें भी कहीं जो उचित फल प्रदान करने लायक होगा **करिष्यति** प्रदान करेंगे ही.॥१॥

आधुनिक पुष्टिजीवोंको अनर्थपरित्यागपूर्वक पुष्टिमार्गीय अर्थ और अवान्तर अर्थ के स्वरूपका उपदेश करते हैं : **अन्याश्रयः** मार्गान्तर देवतान्तर साधनान्तर अवान्तरव्यापारान्तर फलान्तर या प्रयोजनान्तर आदि अनेक रूपोंमें अन्याश्रय करना स्वमार्गमें सर्वानर्थ रूप है. अतः **न कर्तव्यः** उससे बचनेकी सम्पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये. क्योंकि **सः तु सर्वथा बाधकः** वह तो स्वमार्गको निष्ठाके साथ निभानेमें सर्वथा

बाधक ही होता है. **स्वकीयेषु** महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित पुष्टिके पथपर पूर्ण निष्ठाके साथ यात्रा करनेवाले जो भी हों अपनी सभी तरहकी विविधता लिये हुवे सेवाभक्ति कथाभक्ति शरणागति तीर्थयात्रा अथवा श्रीकृष्णकी मर्यादाभक्ति भी, जो अन्तिम अनुकल्पतया उपदिष्ट है, ऐसे सभी पुष्टिजीवोंके प्रति **च** और **आत्मभाव:** अपनत्व रखना भी पुष्टिमार्गीय अवान्तर अर्थ ही है अनर्थ नहीं. अत: **सर्वथा** हर प्रकारसे उसे स्वमार्गीय सिद्धान्त कर्तव्य भगवत्स्वरूप भगवद्गुण या भगवल्लीला आदिके उपायोंको भलीभांति निभा पाने शक्ययावत् सहयोगी बनना **सदा** अपनी मार्गनिष्ठाको भलीभांति सदा निभा पानेके प्रयोजनवश भी **कर्तव्य:** अपना कर्तव्य ही होता है. ॥२॥

आधुनिक पुष्टिजीवोंके कामका स्वरूप समझानेको उसके अंगभूत विपरीत कामनाओंका निषेध : **दोषादिनुत्** हमारे १.सहज दोष २.लोक-वेदनिरूपित देशप्रयुक्त दोष, ३.लोक-निरूपित कालप्रयुक्त दोष, ४.सांयोगिक दोष ५.संसर्गजन्य दोष यों सभी प्रकारके दोषोंका अपहरण करने समर्थ ऐसे **कृष्ण:** परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण **सर्वात्मना** अपनी अहंता-ममताके कारण अवभासित होते सारे उपायों और सिद्धिओं अर्थात् साधनफलोभय रूपतया **सदा** प्रपत्ति या भक्ति की आरंभावस्था हो या परिपक्वावस्था सभी अवस्थाओंमें सदा **सेव्य:** सेवनीय होते हैं **च** और **तद्भक्तेषु** अतएव उनके भक्तोंके बारेमें **आदरात्** आदरभाव रखते हुवे **निर्दोषभावेन** यदि कुछ दोष उनमें दिखलायी भी देते हों तो, वह उनकी दुष्टता नहीं, प्रत्युत भगवान् उनके साथ वैसी अपनी लीला द्वारा कृपालब्ध भक्तिमार्गमें साधना या उपलब्धिओं के अहंकारको तोड़ने अथवा हमें सावधान करनेको भगवान् अपनी वैसी लीला प्रकट करना चाहते होंगे ऐसी भावना करते हुवे **स्थेयम्** मार्गके सिद्धान्त और कर्तव्य को यथाशक्ति निभानेमें तत्पर रहना चाहिये. ॥३॥

फलोंकी लालसासे रहित सेवाभक्ति निभानेवाले आधुनिक पुष्टिजीवोंके

लिये भूतलपर जीवनको सफल बनानेके उपायोंका उपदेश : **मन:** मन बुद्धि अहंकार और चित्त की पांच प्रकारकी वृत्तिओंमें सर्वप्रथम मनकी संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति, बुद्धिकी संशय विपर्यास निश्चय स्मृति और स्वप्न-सुषुप्ति रूपा वृत्ति, अहंकारकी कर्म-ज्ञानात्मिका अनन्तवृत्ति तथा चित्तकी सभी संस्कारोंके पर्यवसित आश्रय या बीजभाव रूपा वृत्तिओं अर्थात् साक्षात् इन सभी वृत्तिओंको साक्षात् श्रीकृष्णके बारेमें अथवा परम्परया **भगवति** भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्यभाव या अनन्याश्रय होनेमें जैसे भी उपयोग ले पायें वैसी तरह **स्वयं** अपनी समझ अभिप्राय और प्रयत्न द्वारा **सततं स्थापनीयम्** प्रवर्तन या योजन करना चाहिये. **कठिनोऽपि अयं काल:** यद्यपि यह समय अत्यधिक विपरीत दिशाओंमें जीवोंको घसीट कर ले जानेवाला होनेपर भी **श्रीकृष्णभक्तान्** जो सुसाधन दुष्टसाधन या नि:साधन सभीके उद्धार करने समर्थ ऐसे श्रीकृष्णके सच्चे भक्तोंका कुछ भी **न बाधते** बिगाड़ नहीं कर पायेगा. ॥४॥

इस तरह गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहर द्वारा
विरचित श्रीमत्प्रभुचरणरचित चतुश्लोकीका
भावानुवाद सम्पूर्ण हुवा

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ रक्षास्मरणम् ॥

सदा सर्वात्मभावेन स्मर्तव्यः स्वप्रभुस्त्वया ॥
यादृशास्तादृशा एव महान्तस्ते पुनन्ति नः ॥१॥

पितृपादवचो जातु न विस्मर्तव्यमुत्तमैः ॥
दोषा हरौ न सन्त्येव तथा भक्ताहिता क्रिया ॥२॥

स्फुरन्ति चित्तदोषेण मूलं तस्य बहिर्दृशिः ॥
भवत्संगाय भवता वृत्तं गोवर्धनोद्धृतम्॥३ ॥

सर्वं श्रुतं तेन चित्तमुपेक्षायां प्रवर्तते ॥
वयं सर्वात्मना सर्वे कृष्णेनैवात्मसात्कृताः ॥४॥

अतश्चिन्तां नैव कुर्मः स एवाखिलकृद् यतः ॥
सततं गोपिकाधीशपदांभोजप्रभावतः ॥५॥

हृदि कार्यं चिन्तितं यत् ततएव फलिष्यति ॥
निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यम् आचरेत् ॥६॥

प्रावाहिकास्तेऽपि चेत्स्युरुपेक्षैवोचिता तदा ॥
सिञ्चत्यभिनवजलदे गिरिशिखरं संततामृतधाराभिः ॥७॥

दवदहनाद् अतिभीता चातक्याशावलम्बाऽऽस्ते ॥
सरसि कुशेशयमास्वादितुम् आगच्छंस्ततो मार्गे ॥८॥

यदि कनककमलपाने नासीत्तोषः किमन्येन ॥
नात्र कुशेशयमानस प्रेयान् अन्यो यतःप्रियो मधुप ॥९॥

तस्मिंस्तुष्टे तोषस्ते दौःस्थ्यं निरुपधिस्नेहात् ॥
यद्यलिरपि निरुपाधित्वेन स्वाभव्यतः समागच्छेत् ॥१०॥

निरवधि तपोऽस्य परमं प्रभवेदेवेति किं वाच्यम् ॥
अंगीकृतजनजनितापराधकूटक्षमाविनोदस्य ॥
अंगीकृतिश्च नित्यं वदन्तु कोऽन्योऽस्य साम्यमियात् ॥११ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितं रक्षास्मरणं समाप्तम् ।

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्रीगीतातात्पर्यम् ॥

(श्रीविट्ठलेशप्रभुविरचितम्)

पितृपादाब्जयुगलं प्रणमामि कृपामधु।
यत्कुलं गोकुलेशेन स्वीकृतं कृपया स्वतः ॥१॥

अतस्तद्वदनांभोजच्युतगीतामृताम्बुधिम्।
आविर्भावे हेतुम् ईशानुग्रहाद् विमृशाम्यहम् ॥२॥

स्वयं स्वतत्त्वं हि हरिः पार्थायोपदिशत्यदः।
तदादौ धृतराष्ट्रस्याऽभक्तस्य वचसा न हि ॥३॥

उपक्रमो युक्तरस् तत्पुत्रस्यापि वा कथा।
पार्थस्यापि विशादोऽयम् अतद्रूपत्वतस् तस्तथा ॥४॥

उपदेशे हेतुतया स उक्त इति चेन्न हि।
विक्षेपात्मत्वतः शान्त्याद्यरूपत्वादपि स्फुटम् ॥५॥

अत्राधिकाराभावस्य ज्ञापकत्वाच्च लौकिकी।
कथा युक्ता तथाभूता, नतु विद्योपदेशनम् ॥६॥

अपरञ्च,
ब्रह्मविद्या श्रवणतः सर्वत्यागो विरागतः।
युक्तः स्यान्न तु गुर्वादिहननं राज्यभोगिता ॥७॥

एवं पूर्वोत्तरकथाविरुद्धमिव भाति हि।
उपदेशनम् ईशे तु न तथा संभवत्यपि ॥८॥

अतः संदंशपतिता विचारकमतिर्बत।
एवं सति वदामस्त्वां तात्पर्यं कृपया हरेः ॥९॥

भक्तिमार्गरीतिः हि अलौकिकी, न साधारणरीत्या निर्णयः कर्तुः शक्यः. पार्था हि भक्तिमार्गे अङ्गीकृताः स्वीयत्वेन. पार्थास्तु ''**देवो भगवान् मुकुंदो गृहीतवान्**'' (भाग.पुरा.३।१।१२) इत्यतएव विदुरवाक्यम्. एवं सति ''**भ्राताऽपि भ्रातरं हन्याद्**'' (भाग.पुरा.१०।५४।४०) इति न्यायेन लोकवद् रिपून् मारयित्वा राज्यं कुर्युः तदा राज्ये भगवत्संबंधाभावात् तद्भोगे भगवदीयत्वं न भवेत्. एवं सति पार्थस्य स्वतः ततो निवृत्त्युक्त्या लौकिकरीत्यभाव उक्तो भवति. ''**क्षत्रियाणाम् अयं धर्म**'' (भाग.पुरा.१०।५४।-४०) इति वचनात् शूराणां तेषां युद्धोपस्थितौ वीररसएव उत्पद्यते वस्तुस्वभावात् नतु वैराग्यं, पार्थे च तदुत्पतौ भगवदीयत्वमेव हेतुः. अन्यथा तु तुल्ययोगक्षेमत्वाद् धार्तराष्ट्रेष्वपि तदुत्पत्तिः स्यात्. एतज्ज्ञापनायै आदौ धृतराष्ट्रतत्पुत्रकथा उक्ता, तथा तदुत्साह उक्तो भवति. भगवदीयस्यतु भगवत्कार्योन्मुख्येव मतिः उचिता तद्विरुद्धा कुमतिरेव. अन्यथा धर्मशास्त्रादिषु गुर्वादिहननस्य निषिद्धत्वात् ततो निवर्तिका मतिः मतित्वेन नोच्येत्. तदुक्तं भीष्मेण ''**व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या कुमतिम् अहरद् आत्मविद्यया य**'' (भाग.पुरा.१।९।३६) इति. एतेन भक्तिमार्गीयमर्यादा लोकवेदातीता. अतः तौ आदाय ''**भक्तिमार्गो न विचारयितुं**'' युक्तः तदतीतत्वाद् इति ज्ञापितं भवति. अतएव ब्रह्मविद्योपदेशानुपदमेव असुरहनने प्रवृत्तिः अभूत्. एतेन ''**एतच्छ्रवणानन्तरं सर्वत्याग उचितो न तु गुर्वादिहननम्**'' इति निरस्तं वेदितव्यम्.

वस्तुतस्तु सर्वत्यागोऽपि अयमेव, लोकवेदत्यागपूर्वकं भगवत एव ग्रहणं यतः. अतएव ''**कच्चिद् एतत् श्रुतं पार्थ त्वया एकाग्रेण चेतसा**''

(भग.गीता.१८।७२) इत्यादिना भगवता पृष्टः पार्थो **"नष्टो मोह"** (भग.गीता.१८।७३) इति उपक्रम्य **"करिष्ये वचनं तव"** (भग.गीता.१८।-७३) इति उत्तरितवान्. तेन केवलभगवदीयत्वं फलितं भवति. राज्यादेः अत्यागस्तु स्वमुक्तिप्रतिबंधकत्वज्ञानेनेति. तत्र प्रभुसंबंधो अस्तीति न तुच्छतरः. ननु भगवदिच्छाननुरूपा मतिः भक्ते कथम् अभूद् इति चेद् इत्थम्: वस्तुतो भगवदीयत्वेऽपि तदधीनो अहं युद्धादिकं करिष्ये इति न ज्ञानम् आसीत्. भगवता तदज्ञापनात् किन्तु क्षात्रधर्मत्वेन. तथा तत्कृतिः भक्तस्य नोचिता, तदीयत्वविरुद्धत्वात्. अतः तस्यैव अन्तःस्थितस्य अनुभावेन तत्प्राकट्ये हेतुः अभूत्. अन्नदानाय क्षुदुत्पादनवत् भगवदिच्छया तथामतिः. एतेन प्रभुतत्वं तज्ज्ञापितमेव भक्तस्यापि ज्ञापितं नतु स्वतो ज्ञापितं भवतीति दिक्. अपरञ्च पुष्टिमार्गाङ्गीकारे स्वतएव तत्स्फूर्तिः स्यादेव. पार्थास्तु पुष्टिमर्यादायाम् अङ्गीकृतेति पूर्वं तदुत्पत्तिः उपदेशेन च तन्निवृत्तिः.

इति श्रीपितृपादाब्जदासेन निजहृद्गता।
भक्तिमार्गस्य मर्यादा निरुक्ता विट्ठलेन वै।

इति श्रीविट्ठलदीक्षितकृतं गीतातात्पर्यं समाप्तम्

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

गोस्वामिश्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरणकृतम्

॥ मु क्ति ता र त म्य नि र्ण यः ॥

(तत्र पूर्वपक्षः)

*ननु मुक्तौ तारतम्यं न अस्ति, [क]प्रमाणाभावात्, **''परमं साम्यम् उपैति''** (मुण्ड.उप.३।१।३) इति [ख]तारतम्याभावश्रुतेः च. मुक्तौ तारतम्ये दूषणं च अस्ति. तत् किम्? इति चेद् उच्यते, [ग]स्वर्ग-संसार-साम्यं स्याद् मुक्तेः इति एकं दूषणम्. द्वितीयं कथ्यते, [घ]मुक्तस्य अधिकदर्शने दुःखद्वेषेर्ष्यादिकं स्याद्* इति पूर्वपक्षे प्राप्ते,

(उत्तरपक्षे प्रथमानुपपत्तिनिरसनम्)

[क]प्रमाणाभावाद् इति असिद्धं, बहुप्रमाणसत्त्वात्.

श्रुतिप्रमाणैः मुक्तितारतम्योपपादनम् :

''सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति... ते ये शतं मानुषाः आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणाम् आनन्दः श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य'' (तैत्ति.उप.२।८) इत्यादितैत्तिरीयश्रुत्या, **''ते ये शतं कर्मदेवानाम् आनन्दाः स एकः आजानजानां देवानाम् आनन्दः''** (तत्रैव), **''यश्च श्रोत्रियो अवृजिनो अकामहतः''** (बृह.उप.४।३।३३) इत्यादिवाजसनेयश्रुत्या, **''अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमाबभूवुः''** (ऋक्.संहि.१०।७-१।७) इत्यादितैत्तिरीयश्रुत्या,

स्मृतीतिहासपुराणप्रमाणैः मुक्तितारतम्योपपादनम् :

''नृपाद्याः शतधृत्यन्ताः मुक्तिगाः उत्तरोत्तरं सर्वे गुणैः शतगुणाः

मोदन्ते इति हि श्रुतिः'' (पद्मपुरा. । ।), **''मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने!''** (भाग.पुरा.६।१४।५) इत्यादिस्मृतिभिः,

श्रुतिस्मृत्यादिश्रुतार्थापत्त्या मुक्तितारतम्योपपादनम् :

''यः ते आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्'' (तत्रैव ७।१०।४), **''स वै भृत्यः स वै स्वामी, गुणलुब्धो न कामुको, मुमुक्षोः अमुमुक्षुस्तु परो हि एकान्तभक्तिमान्''** ( ) इत्यादिसाधनतारतम्येन फलतारतम्यप्रतिपादकस्मृत्या, **''भक्तिः सिद्धेः गरीयसी''** (भाग.पुरा.३।२५।३३) इति स्मृत्या अल्पभक्तिसाध्यमुक्तितो अधिकभक्तिसाध्यमुक्तेः आधिक्यस्य प्रतिपादिकया, **''अन्येतु एवम् अजानन्तो श्रुत्वा अन्येभ्यः उपासते, तेऽपिच अतितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः''** (भग.गीता.१३।२६) इत्यत्र 'अपि'शब्देन, **''स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिं, किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयः तथा''** (भग.गीता.९।३२) इत्यादिसाधनतारतम्येन फलतारतम्यप्रतिपादिकया स्मृत्या, **''साधनस्य उत्तमत्वेन साध्यं च उत्तमम् आप्नुयुः ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथा आनन्दश्रुतौ श्रुताः''** ( ) इति स्मृत्या **''अधिकं तव विज्ञानम् अधिका च गतिः तव''** (महाभा.१२।३१४।४४), **''युक्तं वै साधनाधिक्यात् साध्यादिक्यं सुरादिषु, न आधिक्यं यदि साध्ये स्यात् प्रयत्नः साधने कुतः?''** ( ) इति युक्तिगतार्थवचनात्,

श्रुत्यादिप्रमाणान्यथानुपपत्त्या मुक्तितारतम्योपपादनम् :

''त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा सात्त्विकी राजसी चैव तामसी च इति तां शृणु. श्रद्धामयो अयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः सएव सः''(भग.गीता.१७।२) इत्यादिस्मृत्या **'स्वभावजा'** इति स्वरूप[१]भूतभक्तितारतम्येन चतुर्मुखादयः इतरेभ्यः उत्कृष्टाइति उत्कृष्टत्वप्रतिपादकतया **''अस्मदादिमुक्तिभोगः मुक्तचतुर्मुखभोगाद् निकृष्टो, अस्मदादिभोगत्वात्**

संसारस्थास्मदादिभोगवद्'' इत्यादियुक्तिभिः च मोक्षतारतम्यसिद्धेः. ''**श्रोत्रियस्य च अकामहतः च**'' (तैत्ति.उप.२।८) इति श्रुतिगतस्य, ''**यश्च श्रोत्रियः अवृजिनो अकामहतः**'' (बृह.उप.४।३।३३) इति वाक्यद्वयस्यापि अयम् अर्थः : अकामहतत्वं कामाकृतोपद्रवत्वं नतु अकामत्वं, '**हत**'शब्दवैयर्थ्यात्. सच ''**सत्यकामस्य यत्र आप्ताः कामाः तत्र मा अमृतं कृधि**'' (   ) इत्यादिश्रुतेः, ''**सहि मुक्तो अकामहतः**'' (ब्रह्माण्डपुरा.   ) इति ब्रह्माण्डोक्तेः च. '**अवृजिन**'त्वमपि अदुःखत्वम् अपापत्वं वा मुक्तस्यैव घटते. अपरोक्षज्ञानिन्यपि प्रारब्धपाप-तत्कार्यदुःखयोः सत्त्वात्. श्रोत्रियत्वं च मुक्तस्यैव मुख्यं, ''**प्राप्तश्रुतिफलत्वात्तु श्रोत्रियाः प्राप्तमोक्षिणः तएव च आप्तकामत्वात् तथा अकामहताः मताः**'' (महाभा.   ) इति भारतोक्तेः.

(उत्तरपक्षे द्वितीयानुपपत्तिनिरसनम्)

[ख] (ननु) *''**परमं साम्यम् उपैति**'' (मुण्ड.उप.३।१।३) इति मुक्तसाम्यश्रुतेः कथं मुक्ततारतम्यम्? * इति चेत्

तस्य सावकाशत्वाद् दुःखाभाव-सत्यकामत्वादिना सरःसागरयोरिव स्वयोग्यानन्दपूर्त्या च साम्यात्. ''**दुःखाभावः परानन्दो लिंगभेदः समो मतः**'' (नारा.अष्ट.कल्प) इति स्मृतेः. अन्यथा मुक्तस्य ईश्वरवद् जगत्सृष्टृत्वादिकं स्यात्. तच्च ''**जगद्व्यापारवर्जम्...**'' (ब्र.सू.४।४।१७) इति सूत्रे त्वयापि निषिद्धं, ''**भोगमात्रसाम्यलिंगात् च**'' (ब्र.सू.४।४।२१) इति सूत्रस्थ'**मात्र**'शब्दस्य मन्मते भोगसामान्यएव साम्यं न भोगविशेषः इति अर्थः. त्वन्मतेऽपि भोगसामान्ये मुक्तस्य ब्रह्मसाम्याद्; अन्यथा अपसिद्धान्तत्वात्.

(उत्तरपक्षे तृतीयानुपपत्तिनिरसनम्)

[ग] वाराहेच ''**स्वाधिकानन्दसम्प्राप्तौ सृष्ट्यादिककृतिष्वपि मुक्तानां नैव कामः स्याद् अन्यान् कामान् च भुञ्जते**'' (वारा.पुरा.   ) इति.

(उत्तरपक्षे तुरीयानुपपत्तिनिरसनम्)

[घ] नच हर्षेर्ष्यादिप्रसंगो —

निःशेषगतदोषाणां बहुभिः जन्मभिः पुनः।
स्याद् आपरोक्ष्यं हि हरेः द्वेषेर्ष्यादि ततः कुतः ?॥
भवेयुः यदि च ईर्ष्याद्याः समेष्वपि कुतो न ते ?।
तप्यमानाः समान् दृष्ट्वा द्वेषेर्ष्यादियुताअपि॥
दृष्यन्ते बहवो लोकाः दोषाएव अत्र कारणम्।
हतः सौगन्धिकवने मणिमान् च पुनः कलौ॥
जातो मिथ्यामतिः सम्यग् आस्तीर्यापि तमो अधिकम्।
इन्द्रजालधिया सृष्टिं मन्यन्ते ज्ञानदुर्बलाः॥
नित्यनिरस्तेन्द्रजाले स्वतएव कथं भवेत्।
अशक्ताः सत्यसृष्टौ हि मायासृष्टिं[२] वितन्वते॥
अचिन्त्यानन्तविभवः कथं ताम् ईहते हरिः।
अणुमात्रोऽपि अयं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति॥
यथा व्याप्य शरीरेषु हरिचन्दनविप्रुषः।
ब्रह्मविष्णवीशरूपाणि त्रीणि विष्णोः महात्मनः॥
ब्रह्मणि ब्रह्मरूपी ईशः शिवरूपी शिवे स्थितः।
पृथगेव स्थितो देवो विष्णुरूपी जनार्दनः॥

किञ्च ब्रह्मणि अप्रतिपन्नोपाध्यभावेऽपि पारमार्थिकत्वरूप-धर्माभावस्य ब्रह्मणि अपरिच्छिन्नसद्रूपत्वाविरोधिवद्, घटादेः प्रतिपन्नोपाधिसद्भावेऽपि पारमार्थिकत्वाभाववत्त्वस्य घटादौ परिच्छिन्नसद्रूपत्वाद् अविरोधोपपत्तेः[३] च. एवञ्च ब्रह्म कालत्रयेऽपि सद् वियदादिरूप्यपि च कदाचिदेवेति नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामेव वैषम्यं नतु सत्यत्वमिथ्यात्वाभ्याम्. तथाच संग्रहः :

स्वरूपेण त्रिकालस्य निषेधो न अस्ति ते मते।
रूप्यादेः तात्त्विकत्वेन निषेधस्तु आत्मनोऽपि च॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितो मुक्तितारतम्यनिर्णयः
सम्पूर्णः

पाठभेदतालिका

[१] 'स्वरूपभूतभक्ति' इति भुवने.म.सा.१ पाठः, 'स्वरूपभूतभक्तितारतम्येन' इति कोटा.पाठः.

[२] 'मायासृष्टिम्' इति जो पाठः शेषेषु 'मायासृष्टौ' इति.

[३] 'शिवे स्थितः' इति प्रथमेशसंग्रहः, म.स.१-२ पाठः. शेषेषु 'शिवस्थितः' इति.

[४] 'पारमार्थिकाभावस्य... सद्रूपत्वोपपत्तेः च' इति भुवने.पाठः, 'सद्रूपत्वाविशेषोपपत्तेः' ख.पाठः, 'सद्रूपत्वाविरोधापत्तेः च' इति जोध.श्रीमथु.म.-स.१.पाठः.

[५] 'तथाच संग्रहः' इति भुवने.पाठः, शेषेषु 'तच्च संग्रहः' इति शेषेषु.

······+······

एतद्ग्रन्थसंशोधने विमृष्टाः मातृकाः :

१.गट्टुलालाजी ग्रन्थागारीया 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिकपत्रिकायाः ३ वर्षस्य १२ अंके ई.सं.१९१४ वर्षे मुद्रिता आधारभूता मातृका.

२.जो.=जोधपुर राजकीय पुस्तकालयस्थायाः प्रतिलिपिः

३.म.स.१-२.=ऑरियन्टल् इन्स्टिट्यूट् ऑफ महाराजा सयाजिराव बडोदा वि.वि.ग्रन्थागारीया मातृका.

४.मथुरेशजी.=कुत्रत्या इयम् इति निश्चेतुम् अशक्या.

५.कोटा.=गो.श्रीप्रथमेशग्रन्थागारीया.

६.भुवने.=भुवनेश्वरी पीठ, गोंडलग्रन्थागारीया.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

गोस्वामिश्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणकृत

॥ मुक्तितारतम्यनिर्णयः ॥

(गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजीकृत भावानुवाद)

(पूर्वपक्ष)

इस ग्रन्थके नाममात्रके श्रवण करनेपर कुछ अनुपपत्तियां बुद्धिमें उभरतीं हैं. अतः जीवात्माओंके मुक्त हो जानेके बाद उनमें परस्पर तारतम्य मानना उचित नहीं लगता.

[क] सर्वप्रथम अनुपपत्ति तो ऐसा कोई भी प्रमाणवचन उपलब्ध न होनेके कारण उभरती है.

[ख] दूसरी अनुपपत्ति श्रुतिमें भी तारतम्य अस्वीकार करनेको ही मुक्तात्मा और ब्रह्म के बीच परम साम्य **"परमं साम्यम् उपैति"** (मुण्ड.उप.३।१।३) इस वचनमें स्वीकारा गया होनेके कारण उभरती है.

[ग] तीसरी अनुपपत्ति यह है कि मुक्तावस्थामें जीवात्माओंके बीच तारतम्य स्वीकारनेपर मोक्षावस्था और संसार या स्वर्ग एकसमान ही सिद्ध होंगे.

[घ] चौथी अनुपपत्ति यह है कि मुक्तात्माओंके बीच भी परस्पर न्यूनाधिक्य हो तो अधिक मुक्तके बारेमें न्यून मुक्तजीवके भीतर दुःख द्वेष ईर्ष्या आदिके मुक्तिविपरीत भाव भी उभर सकते हैं, ऐसी सम्भावना स्वीकारनी पड़ेगी.

(उत्तरपक्षतया [क] अनुपपत्तिका निरसन)

प्रथम अनुपपत्तिमें यह जो कहा गया है कि मुक्तात्माओंके बीच तारतम्य होनेके कोई प्रमाण नहीं मिलते वह असमीक्षित विधान है, क्योंकि शास्त्रवचनोंके बहुत सारे प्रमाण मिलते ही हैं.

श्रुतिवचनोंके आधारपर तारतम्यकी उपपत्ति : तैत्तिरीयोपनिषद्के **''यह तो उस आनन्दकी मीमांसा है... ऐसे मनुष्योंके सौ आनन्दके बराबर मनुष्यगन्धर्वका एक आनन्द होता है; और इतना ही आनन्द जो श्रोत्रिय कामनाओंसे ग्रस्त नहीं होता उसका भी होता है''** (तैत्ति.उप.२।८) इस वचनमें तारतम्य सुस्पष्टतया प्रतिपादित हुवा ही है. इसी तरह **''अपने पुण्यकर्मोंद्वारा देवयोनि प्राप्त करनेवाले देवोंके सौ आनन्दके बराबर आजानज देवोंका एक आनन्द होता है''** (यथापूर्व) यह भी कहा ही गया है. बृहदारण्यकोपनिषद्में भी **''जो श्रोत्रिय वृजिनरहित और कामनाओंसे ग्रस्त नहीं होता''** (बृह.उप.४।३।३३) ऐसी प्रशंसा की गयी है. एक अन्य तैत्तिरीय शाखाके वचनमें तो यह भी कहा गया है कि **''समान नयनवाले और समान कर्णवाले भी मनोगम्य विषयोंके प्रति असमान सामर्थ्यवाले बन जाते हैं. मुखके समीप और कूखके समीप रहती जलराशीवाले ह्रदोंमें असमान स्नानार्हताकी तरह.''** (ऋक्संहि.१०।७१।७).

स्मृतिवचनोंके आधारपर तारतम्यकी उपपत्ति : न केवल श्रुतिवचनोंमें अपितु स्मृतिवचनोंमें भी ऐसे अनेक विधान उपलब्ध होते हैं कि **''नृपोंसे ले कर शतधृति पर्यन्त मुक्ति पानेवाले सभी उत्तरोत्तर शतगुणित गुणोंसे अधिक गुणोंवाले होनेसे अधिकाधिक मोदप्रमोदका भोग करते हैं, ऐसा श्रुतिओंमें कहा गया है''** (पद्मपुरा.   ). **''करोड़ों सिद्ध पुरुषोंमें प्रशान्तात्मा हो कर कुछ मुक्त हो पातें हैं, उनमें भी नारायणपरायण तो सुदुर्लभ ही होते हैं!''** (भाग.पुरा.६।१४।५) ऐसे अनेक वचनोंमें भी मुक्तोंमें भी नारायणपरायणके सुदुर्लभ होनेका उल्लेख तारतम्यको सिद्ध करता है.

श्रुतार्थापत्तिमूलिका उपपत्ति : ''जो किसी तरहकी आशा रख कर भगवान्का भजन करता है वह तो भगवान्का भृत्य न हो कर भगवान्को भी क्रयविक्रयके व्यवहारमें फंसाना चाहता व्यापारी है'' (भाग.पुरा.७।१०।४), **''सच्चा भृत्य तो वही है और सच्चा स्वामी भी वही होता है जो एक-दूजेके गुणोंसे लुब्ध हो. नकि एक-दूजेसे अपनी कोई कामना पूर्ण कर लेना चाहता हो. मुक्तिकी कामना रखनेवालोंमें भी अमुमुक्षु होनेके कारण ऐसा जीव तो परम ऐकान्तिकी भक्तिवाला होता है''** (   ) इन स्मृतिवचनोंमें देखा जा सकता है कि साधनोंके तारतम्यका निरूपण किया गया है; अतः अर्थापत्तिके बलपर फलोंमें भी तारतम्य प्रतिपादित मानना ही पड़ेगा.

अतएव भागवतमें भी आता है कि **''भक्ति तो मुक्तिपर्यन्त सिद्धिओंसे भी कहीं अधिक गरीयसी है''** (भाग.पुरा.३।२५।३३). अतः अल्पभक्तिद्वारा साध्य मुक्तिकी तुलनामें अधिकभक्तिद्वारा साध्य मुक्तिका भी आधिक्य स्वीकारना ही पड़ेगा. अतएव भगवद्गीताके **''अन्य तो कुछ लोग किसीसे अन्यथा कुछ सुन रखा होनेके कारण ऐसा समझ ही नहीं पाते; और उपासनामें प्रवृत्त हो जाते हैं. ऐसे भी, परन्तु, श्रुतिपरायण होनेके कारण मृत्युके चक्रके चक्रसे बाहर तो निकल ही जाते हैं...''** (भग.गीता.१३।२६) इस वचनमें 'भी' (='अपि') शब्दका प्रयोग किया गया है. अतः साधनोंके तारतम्यवश फलतारताम्यको स्वीकारना ही पड़ता है. **''स्त्रिगण वैश्यगण तथा शूद्रगण भी परा गतिको प्राप्त कर पाते हों तो पुण्यशाली भक्त ऐसे ब्राह्मणों या राजर्षिओंके मृत्युसंसाररूपी सागरके पार उतर पानेमें तो कोई शंका ही उठ नहीं सकती''** (भग.गीता.९।३२) इस स्मृतिवचनके आधारपर भी तारतम्य सिद्ध होता ही है.

इन वचनोंके अलावा भी **''ब्रह्मा आदि सभी, क्रमशः, अपने-अपने साधनोंकी उत्तमताके अनुरूप उत्तम सिद्धि प्राप्त करते हैं, जैसा कि**

आनन्दके प्रतिपादक तैत्तिरीयोपनिषद्के वचनमें उपलब्ध होता ही है'' (   ) इस तरहके श्रुत्युक्त तारतम्यके उपोद्बलक स्मृतिवचन भी तो मिलते ही हैं. जैसे कि **''उसका विज्ञान अधिक उत्तम होता है अतएव उसकी गति भी अधिक उत्तम होती है''** (महाभा.१२।३१४।४४), **''देवगणोंको मिलता आनन्द उनके साधनोंकी श्रेष्ठताके अनुरूप होता है. क्योंकि यदि श्रेष्ठ फल न मिलता हो तो अधिक श्रेष्ठ साधनाके हेतु कौन प्रवृत्त होना चाहेगा?''** (   ) ऐसे युक्तिगर्भित शास्त्रवचन भी मिलते ही हैं.

''अपने-अपने स्वभावके अनुरूप देहधारियोंकी श्रद्धा भी तीन तरहकी होती है : सात्त्विकी राजसी और तामसी. अतः पहले इन्हें सुन लो. यह पुरुष श्रद्धामय होता है अतः जो जिसमें श्रद्धाशील होता है वह वैसा बन जाता है''(भग.गीता.१७।२) ऐसे स्मृतिवचनोंमें श्रद्धाको **'स्वभावजा'** कह कर उत्तम मध्यम कनिष्ठ यों तत्तत् प्रकारकी श्रद्धाओंसे पनपी भक्तिके स्वरूपमें ही तारतम्य होनेके कारण चतुर्मुख ब्रह्मा आदि इतरोंसे उत्कृष्ट माने गये हैं. अतः ''हमारे मुक्तिसुखका उपभोग चतुर्मुख ब्रह्मा आदिके मुक्तिके सुखोपभोगसे निकृष्ट होता है, हम हीनाधिकारिओंका मुक्तिसुखोपभोग होनेके कारण, हमारे सांसारिक सुखके उपभोगकी तरह'' इत्यादि युक्तिओंके आधारपर भी मोक्षके प्रकारोंमें तारतम्य सिद्ध हो जाता है.

अतः **''जो श्रोत्रिय कामनाओंसे ग्रस्त न हो उसे भी ऐसी ही आनन्दानुभूति होती है''** (तैत्ति.उप.२।८) इस श्रुतिवचन और **''और जो निष्पाप श्रोत्रिय कामनासे ग्रस्त नहीं होता''** (बृह.उप.४।३।३३) इन दोनों श्रुतिवचनोंका अर्थ यों समझना चाहिये : कामनासे ग्रस्त न होनेका अर्थ सर्वथा निष्काम होना नहीं प्रत्युत मिथ्या कामनाओंके कारण प्रकट होते उपद्रवोंसे रहित होना है, अन्यथा **'अकामहत'**

पदमें 'हत'पद अर्थहीन सिद्ध होगा. यह **''सत्य होनेके कारण जो कामनायें परिपूर्ण होती उन कामनाओंवाला मुझे अमृत बनाओ''** (   ) ऐसी श्रुतिओंके अवलोकन करनेपर यह प्रकट होता है. अतएव ब्रह्माण्डपुराणमें भी एक वचन ऐसा मिलता है कि **''जो कामनाओंसे ग्रस्त नहीं होता वह मुक्त होता है''** (ब्रह्माण्डपुरा.   ). **'अवृजिन'** होना भी दुःखरहित या पापरहित होना मुक्तात्माके साथ ही सार्थक होता है. क्योंकि अपरोक्षज्ञानीमें भी प्रारब्ध पाप और उसके फलरूप मिलते दुःख तो होते ही हैं. अतएव श्रोत्रिय होना भी मुक्तात्माके साथ मुख्यतया संगत होता है. जैसा कि महाभारतमें भी कहा ही गया है **''जिन्हें श्रुत्युक्त फल मिल गया हो ऐसे मोक्ष प्राप्त कर लेनेवाले ही आप्तकाम होनेके कारण श्रोत्रिय तथा अकामहत होते हैं''** (महाभा.   ).

(उत्तरपक्षतया [ख] अनुपपत्तिका निरसन)

अब इस आशंकाका समाधान भी खोजा जा सकता है कि तब **''परमं साम्यम् उपैति''** (मुण्ड.उप.३।१।३) इस 'परमसाम्य'पदका अभिप्राय क्या समझना. इसे इस तरह समझा जा सकता है कि जैसे कोई सरोवर और सागर की अपनी-अपनी विभिन्न गहराई और विभिन्न विस्तार होनेके बावजूद कोई सरोवर अपनी गहराई और विस्तार के अनुरूप लबालब भर कर सागरकी तरह लहरा रहा हो तो उसे 'सागर' भी कहते हैं. इसी तरह ब्राह्मिक आनन्द अन्य अनेक विलक्षणताओंके साथ सत्यकाम आदि गुणोंके कारण सर्वथा दुःखरहित होता है, वैसे ही मुक्तात्माका आनन्द भी उसकी अपनी विलक्षणताके बावजूद सत्यकाम आदि गुणोंके कारण सर्वथा दुःखरहित होता है; और इस अर्थमें दोनोंमें परमसाम्य स्वीकारना उचित ही है. इसलिये कहा भी गया है कि **''मुक्तात्माओंमें लिंगोंका भेद नहीं होता और उनमें प्रकट होता आनन्द भी ब्रह्मकी तरह सर्वथा दुःखोंसे रहित ही परम कोटिका होता है''** (नारा.अष्ट.कल्प). ब्रह्म और मुक्तात्माओं

के बीच यदि कतिपय प्रमुख गुणोंके समान होनेकी अपेक्षावश 'परमसाम्य' कहा गया न मान कर ऐकान्तिक परमसाम्य स्वीकारनेपर तो मुक्तात्माओंके भीतर परमेश्वरकी तरह जगत्के सृष्टा पालक या संहारक होनेका भी सामर्थ्य स्वीकारना गलेपतित होगा. वह तो **"जगद्व्यापारवर्जम्..."** (ब्र.सू.४।४।१७) इस ब्रह्मसूत्रमें मायावादिओंने भी कहां स्वीकारा है? **"भोगमात्रसाम्यलिंगात् च"** (ब्र.सू.४।४।२१) इस ब्रह्मसूत्रगत 'मात्र' पदका हमारे मतमें भी उक्त दुःखाभावरहित आनन्दके साधारण भोगकी अपेक्षावश ही साम्य माना गया है, ब्रह्मके देश-काल-स्वरूपतः सर्वथा अपरिच्छिन्न आनन्दोपभोगकी दृष्टिसे नहीं. शांकर मतमें भी इसी तरह सामान्य आनन्दोपभोगको लेकर ही मुक्तात्माओंकी ब्रह्मके साथ समानता निरुपित हुयी है. ऐसा न माननेपर तो अपसिद्धान्त होनेकी आपत्ति उठ खड़ी होगी.

(उत्तरपक्षतया [ग] अनुपपत्तिका निरसन)

अतएव वाराहपुराणमें कहा गया है कि **"अपने स्वरूपसे अधिक आनन्दके मिल जानेके कारण सृष्टिकी संरचना-पालन-संहरणादिकी परमेश्वरोचित क्रिया-कर्मोंमें उलझनेको मुक्तात्माओंके भीतर कामना जागती ही नहीं है अतः मुक्तात्मायें इन क्रिया-कर्मोंको करनेकी कामनाके बजाय अन्य ही कुछ कामनाओंका उपभोग करते हैं"** (वारा.पुरा.).

(उत्तरपक्षतया [घ] अनुपपत्तिका निरसन)

जहां तक मुक्तात्माओंके भीतर राग-द्वेष हर्ष-शोक ईर्ष्या आदि मनोभावोंसे ग्रस्त होनेकी आपत्ति दिखलायी गयी, उस विषयमें यह कहना उचित होगा कि—

> अनेकानेक जन्मोंके बाद सारे दोषोंके निरस्त हो जानेपर जब श्रीहरिके अपरोक्ष दर्शन होते हैं तब द्वेष ईर्ष्या जैसे क्षुद्र मनोभावोंका प्रसंग कहांसे उभर सकता है?

यदि श्रीहरिके अपरोक्ष दर्शनके बाद भी ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोविकार उभर पाते हों तो परमसाम्यावस्थामें भी क्यों उभर नहीं पायेंगे? अपने समान तप करनेवालोंमें भी द्वेष ईर्ष्या आदिके मनोविकार भी तो बहुत सारे साधकोंमें दिखलायी देते ही हैं. अतः ऐसे मनोविकारोंके प्रकट होनेमें साम्य या तारतम्य हेतु नहीं होता प्रत्युत मनोगत वासनायें ही दोषरूपा कारण बनती हैं.

सौगन्धिक वनमें जो मणिमान्‌को मार दिया गया था वही पुनः कलियुगमें द्वैत या तारतम्य मात्रको मिथ्या माननेवालेके रूपमें प्रकट हुवा होनेके कारण अधिकाधिक तमोदृष्टिका विस्तार अब करता हुवा लगता है. अतः ज्ञानदुर्बलोंको लगता है कि सारी सृष्टि इन्द्रजाल है! परन्तु परमेश्वरके अपरिच्छिन्न एवं अकुण्ठित ज्ञान-वैराग्य आदि गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण उनके समक्ष इन्द्रजाल कौन फैला सकता है?

जो सत्य सृष्टिकी रचनार्थ अक्षम हो वही मायासृष्टिके प्रदर्शनमें प्रवृत्त होता है. अचिन्त्य अनन्त सामर्थ्यवाले श्रीहरिको ऐसी ऐन्द्रजालिकी सृष्टिकी रचनामें प्रवृत्त होनेका कोई हेतु विचारणीय नहीं लगता.

यह जीव तो परिमाणमें अणुमात्र है तो भी अपने देहमें अपनी चेतनाको फैला कर अवस्थित होता है जैसे चन्दनके कुछ छींटे शरीरपर कहीं लगानेपर सारे शरीरमें शीतलताकी अनुभूति होती है.

ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों कही महामहिम विष्णुके ही विभिन्न अमायिक रूप हैं. ब्रह्मामें वह ब्रह्मरूपी है, महेशमें वह शिवरूपी होनेपर भी वह देव पृथक्तया भी अवस्थित होता है.

मायावादके अनुसार ऐसी आपत्ति करनेवालेको यह बात लक्ष्यमें रखनी चाहिये कि ब्रह्ममें पारमार्थिक सत् होनेका धर्म अपनी प्रतिपन्न=प्रतीत होती ब्रह्मरूप उपाधिमें जैसे माना नहीं गया है फिरभी इस पारमार्थिकसत्तारूपी धर्मका अभाव स्वयं ब्रह्मके अपरिच्छिन्न सद्रूप होनेमें बाधक नहीं बनता. इसी तरह घट-पट आदि प्रापंचिक विषयोंमें भी अपनी प्रतीत होती उपाधिमें पारमार्थिक सत् न होनेपर भी उनके वस्तुतः पारमार्थिक होनेमें बाधक होना नहीं चाहिये क्योंकि घट-पट आदि विषय भी परिच्छिन्न सद्रूप तो हैं ही अतः कोई विरोध उभरना नहीं चाहिये. अतः ब्रह्म त्रैकालिक सत् होनेपर भी आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वी आदि प्रापंचिक रूप कभी धारण करता है तो कभी नहीं भी. इसलिये दोनोंके बीच कौन नित्य तो कौन अनित्य आदि ऐसी दृष्टिसे वैषम्य हो ही सकता है. परन्तु एतवता ब्रह्मको ही केवल पारमार्थिक सत्य और प्रपंचको मिथ्या मान लेना विचारसंगत कथा नहीं लगती :

> प्रापंचिक किसी भी पदार्थका स्वरूपेण तो त्रैकालिक निषेध मायावादमें भी नहीं माना गया है रजत आदिकी तरह अपने प्रतीत होते अधिष्ठानपर कालत्रयमें प्रतीत न होनेकी अपेक्षावश किया जाता निषेध आत्माका भी किया ही जा सकता है.

इस तरह श्रीमद्विट्ठलेश्वर प्रभुचरणद्वारा विरचित मुक्तितारतम्यनिर्णयका गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी विरचित भावानुवाद यहां समाप्त होता है

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

गोस्वामी श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरजीद्वारा विरचित 'मुक्तितारतम्यनिर्णय' ग्रंथमें प्रतिपादित फलका स्वरूप

उपक्रम :

गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा विरचित अनेक निर्णयग्रन्थों, नामशः, 'भक्तिहेतुनिर्णय' 'गीतातात्पर्यनिर्णय' 'जन्माष्टमीनिर्णय' या 'रामनवमीनिर्णय' की तरह वादशैलीमें ही लिखा गया प्रस्तुत 'मुक्तितारतम्यनिर्णय' भी एक लघुकाय निर्णयग्रन्थ है. इन निर्णयग्रन्थोंमें मिलती निरूपणशैलीके अवलोकन करनेपर यह एक तथ्य उभर कर सामने आता है कि अपने समक्ष यदा-कदा उठे विवादोंके बारेमें अपना अभिप्राय स्पष्ट करनेको ही ये सारे ग्रन्थ प्रभुचरण द्वारा लिखे गये हैं. इनमें कुछ ग्रन्थोंपर तो प्राचीन व्याख्याकार विद्वानों द्वारा लिखित व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं और प्रकाशित भी हैं. इस 'मुक्तितारतम्यनिर्णय' ग्रन्थपर या तो प्राचीन किसी विद्वान् लेखकने कोई व्याख्या लिखी नहीं है; या लिखी हो तो अब उपलब्ध नहीं होती है. कमसे कम मुझे तो किसी प्राचीन लेखककी कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं हुयी.

वैसे यह ग्रन्थ, अन्यान्य हस्तलिखित ग्रन्थोंकी तरह, श्रीगट्टुलालाजीके हस्तलिखितग्रन्थागारीय संग्रह(मुंबई)में भी उपलब्ध था. सो करीब ९६ वर्ष पूर्व श्रीवाडीलाल नगीनदास शाहके सम्पादकत्वमें प्रकाशित होनेवाली 'पुष्टिभक्तिसुधा' नामिका मासिक पत्रिकाके ३रे वर्षके १२वें अंकमें

यह ग्रन्थ सन् १९१४ में प्रकाशित भी हुवा था.

उसके बाद प्रभुचरणग्रन्थावलीके प्रकाशनकी योजनाके अन्तर्गत विविध हस्तलिखित ग्रन्थोंकी प्रतियां एकत्रित करनेके प्रयासमें इस ग्रन्थकी अन्य भी छह-सात हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हो पायी. इन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर तुलनात्मक पाठभेदोंका निर्धारण भी चिरंजीवी गोस्वामी श्रीशरद्ने पाठसंशोधनार्थ तैयार किया था किन्तु प्रभुचरणग्रन्थावलीके दूसरे-तीसरे खण्डोंके प्रकाशनमें होते विलम्बको देखते हुवे, इस विचारगोष्ठीके अवसरपर, इसके संशोधित सानुवाद संस्करणको प्रकाशित करनेके लोभका संवरण हो नहीं पाया. अतः इस विचारगोष्ठीमें प्रस्तुत किये जानेवाले आलेखपत्रोंमें मुझे इसपर अपना आलेखपत्र प्रस्तुत करनेका मनोरथ प्रकट हुवा है.

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय और संशयकी कोटियां :

अपने शीर्षकके अनुरूप इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय क्या है यह तो इंगित हो ही जाता है :

"द्वयाः ह प्राजापत्याः दैवाः च आसुराः च"-"द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः आसुरएव च, दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता" (बृह.उप.१३।१ - भग.गीता.१६।५-६) वचनोंके अनुसार, दैवी सृष्टिके अन्तर्गत जो विविध जीवात्मा प्रकट हुयी हों, उनका मुक्त्यर्थ भगवत्कृत विविध वरण; और उस भगवद्वरणके अवान्तर व्यापाररूप विविध साधनोंकी भी विविधताके अनुरूप, क्या उन साधनाओं द्वारा प्रकट होती फलानुभूतिओंके भी प्रकारोंमें विविधता रहती है या एकरूपता ही? यहां निर्धारणीय यही है कि क्या विविधता और तदनुगुण तरतमता केवल सांसारिक अनुभूतियोंका ही विषय बनती हैं; अथवा मोक्षावस्थाकी अनुभूतिमें भी वे अनुवृत्त हो पाती हैं? यदि अनुवृत्त हो पाती हों तो अपने आत्मस्वरूपकी तरह मुक्तावस्थामें

अनुभूत होते अलौकिक आनन्दकी अनुभूतिओंमें भी मुक्तात्माओंकी विविधता या तरतमता सिद्ध होगी ही.

यह, परन्तु, श्रुति-स्मृति-पुराण आदि शास्त्रोंको अभिमत हो सकता है या नहीं? यह निर्धारित करना ही प्रस्तुत ग्रन्थका प्रमुख विषय और प्रयोजन है.

संशयांग विरुद्धकोटियोंके उद्भावक पूर्वोत्तरपक्षोंके परस्परविरुद्ध व्याख्यानात्मक शास्त्रवचनोंके सन्दर्भ :

प्रस्तुत ग्रन्थमें ग्रन्थकारके उद्गारोंका विमर्श करनेपर ऐसा भी प्रतीत होता ही है कि किसी मायावादी शांकर वेदान्त-सम्प्रदायके चर्चाकारने श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रवचनोंकी केवलाद्वैतवादानुसारिणी व्याख्या प्रस्तुत करते हुवे, परममोक्षलाभकी अवस्थामें किसी भी तरहका तारतम्य उपपन्न नहीं हो पाता, ऐसी आशंका प्रभुचरणके समक्ष निश्चय ही प्रस्तुत की होगी. इस आशंकाके समाधानार्थ ही साकार-ब्रह्मवादी वेदान्तसम्प्रदायके अनुसार श्रुति-स्मृति-पुराण-महाभारत आदि शास्त्रोंके वचनोंकी शुद्धाद्वैतवादानुसारिणी व्याख्या प्रस्तुत कर प्रभुचरणने उसे ग्रन्थतया लेखबद्ध भी कर दिया होगा.

अतः ग्रन्थनिर्दिष्ट सैद्धान्तिक समाधानकी मीमांसामें प्रवृत्त होनेसे पहले, पूर्वपक्षकी प्राग्धारणा तथा तदनुसारी श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचनोंकी व्याख्याओंका भी विमर्श, न केवल आवश्यक है अपितु उपकारक भी होगा ही.

केवलाद्वैतवादी वेदान्तसम्प्रदायके अनुसार जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत पारमार्थिक न हो कर अज्ञान या माया द्वारा ब्रह्मपर आरोपित होते हैं. अतः वे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या होते हैं. परमार्थतः सत्य न होनेपर भी इन नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतकी मिथ्याप्रतीति, रज्जुपर

सर्प या शुक्तिपर रजत की तरह, द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित पारमार्थिक अधिष्ठानरूप ब्रह्मपर होती है. ब्रह्मके ऐसे स्वरूपका निरूपण, मायावादके अनुसार, अधोनिर्दिष्ट श्रुतिवचनोंमें उपलब्ध होता है :

ब्रह्म : [१] **"सदेव... एकमेव अद्वितीयम्"** (छान्दो.उप.६।२।१), [२] **"अतो अन्यद् आर्तम्", "न इह नाना अस्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति", "यत्र हि द्वैतमिव भवति... तद् इतरे इतरं विजानाति... यत्रतु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूत्... तत् केन कं विजानीयाद्"** (बृह.उप.३।४।२, ४।४।१९, ४।५।१५), [३] **"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्"** (श्वेता.उप.६।१९), [४] **"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** (तैत्ति.उप.२।४), [५] **"सएष 'न'इति-'न'इति आत्मा, अगृह्यो न नहि गृह्यते... असंगो नहि सज्यते..."** (बृह.उप.३।९।२६).

मोक्ष : [१] **"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ये अस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्यो अमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते"** (कठोप.२।३।१४), [२] **"इह चेद् अवेदीद् अथ सत्यम् अस्ति, न चेद् इह अवेदीद् महती विनष्टिः, भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य अस्माद् लोकाद् अमृताः भवन्ति"** (केनोप.२।१३), [३] **"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत... न अनुध्यायन् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्"** (बृह.उप.४।४।२१), [४] **"तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय"** (श्वेता.उप.३।८) [५] **"तम् एवं विद्वान् अमृतः इह भवति न अन्यः पन्था अयनाय विद्यते"** (तैत्ति.आर.३।१।३), [६] **"स यथा इमाः नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति. भिद्येते तासां नाम-रूपे 'समुद्रः' इत्येव प्रोच्यते. एवमेव अस्य परिद्रष्टुः**

इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति. भिद्येते च आसां नाम-रूपे 'पुरुषः' इत्येव प्रोच्यते. सएष अकलो भवति अमृतो भवति'' (प्रश्नोप.६।५) [७] **''तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति''**(मुण्ड.उप.३।१।३)

केवलाद्वैतवादके अनुसार इन श्रुतिवचनोंमें सर्वप्रथम ब्रह्मका [१] एकमेव अद्वितीय सन्मात्र होना निर्दिष्ट हुवा है. द्वितीय वचनमें [२] ब्रह्मसे अन्यका अनृत होना निरूपित हुवा है; अर्थात् नाना न होना, नानात्वदर्शीकी निन्दा भी की गयी है, ब्रह्मेतर किसी पदार्थका अस्तित्व ही न होनेके कारण द्वितीयका प्रामाणिक अनुभव भी अशक्य माना गया है. अतएव तृतीय वचनमें [३] ब्रह्मका निष्कल निष्क्रिय शान्त निर्दोष निरञ्जन ही होना प्रतिपादित हुवा है. चतुर्थ वचनमें [४] ब्रह्मका वाणी और मन से अगोचर होना स्पष्ट कहा गया है. पांचवें वचनमें, अतएव, [५] निखिल द्वैतघटित नाम-रूप-कर्मोंके अपोहन द्वारा ही ब्रह्मका निरूपण शक्य होनेसे, उसका वाणी और मन से अग्राह्य होना स्वीकारा गया है.

मोक्षप्रद ज्ञान और उसके विषय का इस तरहका पारमार्थिक स्वरूप दिखलाया गया है. इसी तरह मोक्षके स्वरूपनिरूपणमें भी मोक्षप्रदायक ब्रह्मके स्वरूपकी उपलब्धि प्रतिपादित हुयी है :

यथा : [१] अमर आत्माको मर्त्य बनानेवाली कामनाओंकी निवृत्तिके बाद ही ब्रह्मोपलब्धि शक्य मानी गयी है. द्वितीय वचनमें [२] प्रत्येक भूत या वस्तु में धैर्यपूर्वक ऐसे उस ब्रह्मको खोजनेवालेको ही इस लोकसे विदा होनेके बाद अमृतत्व और सत्यकी उपलब्धि होती है अन्यथा महान् विनाशकी नियति भी दरसायी है. तीसरे वचनमें [३] मन-वाणीके विषय बननेवाली मिथ्यावस्तुओंकी उपेक्षा करके मन-वाणीसे अगोचर

उस ब्रह्मको ही केवल भलीभांति जान कर समझ लेनेकी आवश्यकता प्रतिपादित हुयी है. चतुर्थ वचनमें [४] ऐसे ब्रह्मको जाने बिना जन्म-मृत्युके चक्रसे बाहर निकल कर मुक्ति पानेका अन्य कोई मार्ग नहीं है, यह दिखलाया गया है. पांचवे वचनमें [५] उसे इस तरह जान लेनेकी मुक्त्युपयोगी आवश्यकतापर भार दिया गया है. छट्ठे वचनमें [६] अनेकविध नाम-रूपोंवाली नदियां समुद्रमें मिल जानेपर जैसे अपना नाम-रूप खो देती हैं, ठीक उसी तरह आत्मचेतनाके साथ जुड़ी पञ्चमहाभूत पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण रूपी सोलहों कलायें उस ब्रह्ममें लीन हो जानेपर जीवचेतनाको नाम-रूपातीत निष्कल और अमृत बना देती हैं, ऐसा उपपादित किया गया है. इसी तरह सातवें वचनमें [७] ब्रह्मको जाननेवाला अपने सारे पुण्य-पापोंसे उभर कर निर्लेप=निरञ्जन ब्रह्मके साथ परम साम्य प्राप्त कर लेता है, यह प्रतिपादित हुवा है.

ऐसी स्थितिमें मुक्तिके एकमात्र विषयावलम्बन एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी तरह ब्राह्मिकी मुक्तिमें भी किसी प्रकारका वैषम्य सिद्ध नहीं हो पायेगा. यों केवलाद्वैतवेदान्तके अनुसार नाम-रूप या पुण्य-पाप आदिके द्वैतोंसे रहित ब्रह्मका स्वरूप और उसके ही तथा ऐसे ही ज्ञानसे मोक्ष सिद्ध हो पाता है. साथ ही साथ ऐसी उस मुक्तावस्थाका नाम-रूप या पुण्य-पाप आदिके सभी द्वैतोंसे अतीत होना भी अर्थापत्तिसिद्ध हो जानेके कारण पूर्वपक्षीय सन्दर्भ सुस्पष्ट हो जाता है.

अब स्वमतीय समाधानके ज्ञानार्थ इन ब्रह्म और मुक्ति के बारेमें प्रस्तुत इन वचनोंके शुद्धाद्वैतवादानुसारी अभिप्रायकी भी मीमांसा प्रासंगिक बनती है. तदनुसार सबसे पहले प्रथम वचनको अविकल निहार लेना आवश्यक होगा :

''उत तम् आदेशम् अप्राक्ष्यः [क] येन... अविज्ञातं विज्ञातं भवति... [ख] यथा... एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं

स्याद्. वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यं... [ग]सदेव... इदम् अग्रे आसीद्, एकमेव अद्वितीयम्. [घ]तद्ध एके आहुः 'असदेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं, तस्माद् असतः सद् जायत'. कुतस्तु खलु... एवं स्याद्... कथम् असतः सद् जायेत? इति [ङ]सदेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. [च]तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति'' (छान्दो.उप.६।१-२।१-२).

इन [क]से [च]विधानोंके क्रमानुपाती अभिप्रायका विमर्श करनेपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन श्रुतिवचनोंका प्रतिपादनभार ब्रह्मकी कार्य-कारणभावातीत एकाकिता या अद्वितीयता पर न हो कर कार्यभावापन्न नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् और ब्रह्म के बीच उपादान-उपादेय-भावात्मक स्वाभाविक अनन्यत्व या तादात्म्य पर ही है. अतएव श्रुतिवचनमें विवर्तोपादानके उदाहरणके बजाय परिणामशील उपादानरूपा मिट्टीसे बने उपादेयरूप घड़ेको अपने उपादानकारणसे अन्य न समझनेकी बात कारणावस्थाके 'मृत्तिका' नामको कार्यावस्थामें भी सत्य माननेके आग्रहके साथ दी गयी है, यदि कार्यावस्थाका 'विकार' नाम भेदज्ञापन करता हो तो उसे 'वाचारम्भण' अर्थात् उपादानोपादेयभावदृष्ट्या वास्तविक भेद न मान कर वाचिक भेद माना गया है. अर्थात् तभी उपादानकारणको जान लेनेपर उपादेयभूत कार्योंकी अनुभूतिमें उपादानकारणके सद्भावको पहचान पाना सुकर हो पायेगा. अवधेय है कि नाम-रूप-कर्मात्मना उत्पत्तिसे पहले इदमास्पद प्रपञ्चको 'सन्मात्र' माननेका अभिप्राय भी सुस्पष्ट ही है. क्योंकि केवल उत्पन्न होनेके अपराधवश जगत्को कोई असत् मानता हो तो श्रुतिका यह प्रतिप्रश्न कि ''असत् सद्रूपेण कैसे प्रकट हो सकता है?'' कथमपि संगत नहीं होगा. अतः सिद्ध हो जाता है कि इस वचनमें कार्यको न तो उत्पन्न होनेके बाद और न उत्पत्तिसे पूर्व ही असत् माना है. साथ ही साथ इदमास्पद प्रपञ्चको स्वयं उसके बहुभवनके भाक्त

संकल्पवश प्रकटा हुवा माननेपर तो ब्रह्मवादका प्रत्याख्यान और स्वभाववादको अनुमोदन प्रदान करनेकी कथा बन जायेगी. अतः उद्भवसे पूर्व इदमास्पद जगत्को सद्रूपात्मक ब्रह्म माननेपर, उत्पत्तिके बाद भी यदि वह ब्रह्मात्मकतया सद्रूप न हो तो, ब्रह्मैक्यविज्ञान द्वारा सर्वविज्ञान भी सम्भव नहीं रह जायेगा. अतएव ब्रह्मविज्ञानके सिद्ध होनेपर जड़जीवात्मक जगत्का बाध नहीं प्रत्युत ब्रह्मात्मक सत्के रूपमें भान होने लगता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये. अतः इदमास्पद नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्को सृष्ट्यात्मना प्रकट या व्यक्त होनेसे पूर्व अव्यक्त सन्मात्र होनेके अर्थमें ही **''सदेव इदम् अग्रे आसीद्''** वचनाभिप्रेत मानना पड़ता है. परिणामरूपेण प्रस्तुत श्रुतिवचनके ही **''कथम् असतः सद् जायेत?''** वाक्यांशमें प्रत्याख्यात असत्के सत्में रूपान्तरणकी प्रक्रिया असिद्ध हो जाती है. अतः नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्का आद्यन्तमें असद्भाव और मध्यमें केवल मायिक सद्भाव, इस वचनमें प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता है. निष्कर्षतया जागतिक नाम-रूप-कर्मोंकी भिन्नता विविधता या तरतमता भी ब्रह्मोपादानिका होनेके कारण ब्रह्मकी तरह पारमार्थिक सिद्ध हो जाती है.

यों असत्कार्यवाद यदि स्वीकार भी लें, तब तो या तो स्वयं ब्रह्मको असत् मानना पड़ेगा और वह **''असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेत्''** (तैत्ति.उप.२।६) इस वचनसे विरुद्ध जानेवाली बात होगी. अन्यथा अग्रिम वाक्यांश :

''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्... विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्. यद् इदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते'' (तैत्ति.उप.२।६).

इस वचनमें घोषित इदमास्पद निखिल व्यक्ताव्यक्त निरुक्तानिरुक्त

निलयनानिलयन विज्ञानाविज्ञान सत्यानृत रूप जगत्का ब्रह्म कर्ता तथा समवायी भी अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध हो जाता है. अन्यथा प्रस्तुत वचनका मुख्यार्थ बाधित मानना पड़ेगा.

और इसे बाधित न माननेपर **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि... नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयं, तदेतद् अमृतं सत्येन च्छन्नम्. प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्याम् अयं प्राणः छन्नः''** (बृह.उप.१।६।१-३) वचनमें प्रतिपादित न केवल नाम-रूप-कर्मोंकी ब्रह्मात्मकता या ब्राह्मैक्य प्रत्युत आत्मा या एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी नाम-रूप-कर्मतया त्र्यात्मकता भी उपपन्न हो ही जाती है.

इसी तरह अन्य एक श्रुतिवचनमें शब्दशः :

१.**''आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः. सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्. सो 'अहम् अस्मि' इति अग्रे व्याहरत्. ततो 'अहं'नामा अभवत्... तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्. तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा अयम्'-'इदंरूपः'इति. तदिदमपि एतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते 'असौनामा अयम्'-'इदंरूपः'इति. सएष इह प्रविष्टः... ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत्. तद् आत्मानमेय अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति. तस्मात् तत् सर्वम् अभवद्''** (बृह.उप.१।४।१-१०).

२.**''सर्वाणि रूपाणि विचत्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते''** (तैत्ति.आर.३।१२।७).

ऐसे श्रुतिवचनोंमें इदमास्पद नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्के बारेमें मिलता निरूपण कि यह जगत् ब्रह्मका आत्मव्याकरण है, वह भी उपपन्न

हो जाता है. उत्पत्तिसे पूर्व तत्तद् नाम-रूप-कर्मात्मना अव्याकृत सदात्माका तत्तद् नाम-रूप-कर्मात्मना आत्मव्याकरणको, यदि अनितरसचिव या स्वेतरोपाधिरहित ब्रह्मकी आत्माभिव्यक्ति माननेके बजाय मायारूपी उपाधिके वश होता मिथ्याभास मानते हैं तो, सर्वप्रथम तो ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयता बाधित हो जायेगी. इस भीतिवश उस मायाको सदसद्विलक्षण मिथ्या मानते होनेके कारण केवलाद्वैतका बाध न स्वीकारें तो मायाका यह लक्षण **''अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते''** (भग.गीता.१३।१३) वचनके अनुरोधवशात् स्वयं ब्रह्ममें ही अतिव्याप्त मानना पड़ेगा. इस वचनमें प्रयुक्त 'सद्-असत्'पदोंको व्यक्ताव्यक्त नाम-रूपोंके निषेधपरतया अभिप्रेत माननेपर तो **''न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं, न आसीद् रजो न व्योमा परो यद्... अम्भः किम् आसीत्... आनीद् अवातं तद् एकं, तस्माद्ध अन्यद् न परः किञ्चन आस''** (ऋक्संहि.१०।१२९।१-२) वचनमें सदसद्विलक्षण मायाके उपाधितया सृष्टिसे पूर्व विद्यमान होनेके बजाय रज-अम्भ-वात-व्योम द्वारा उपलक्षित मूर्तामूर्तरूप पञ्जमहाभूतके निषेधमें ही पर्यवसान स्वीकारना पड़ेगा. साथ ही साथ इन महाभूतोंकी तब ब्रह्मैक्यभावापन्न सदात्मिका अवस्था भी स्वीकारनी पड़ेगी. अन्यथा असत्से सद्रूपान्तरण गलेपतित होगा. अतएव :

''एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैव उषा सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥''
(ऋक्सं.८।५८।२).

इस वचनके अनुसार एकाकी ब्रह्मको ही इस नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्का इतरोपाधिरहित कर्ता तथा समवायी कारण मान लेना उचित लगता है. इस श्रुतिके वचनके ऐसे विशिष्ट अभिप्रायके बुद्धिगत होनेपर द्वितीय वचनकी संगति भी बुद्ध्यारूढ़ हो पायेगी.

यथा : [२]ब्रह्मसे अन्यतया कुछ भी जानना सत्य वस्तुको विषय बनानेवाले ज्ञानको भी अनृतानुभूतिमें पर्यवसित कर देता है. क्योंकि

ब्रह्मके भीतर अब्रह्मात्मक नाना कुछ भी नहीं होता. फिरभी ब्रह्मात्मक नानात्व तो स्वयं ब्रह्मके संकल्पके द्वारा ही प्रकट होता माना गया है. अतः इसी अब्रह्मात्मक द्वैतकी असम्भाव्यता और निन्दा माननी चाहिये नकि एक ब्रह्मकी निजी इच्छासे प्रकटे नानात्वकी. क्योंकि ब्रह्मैक्यका विधान जडजीवात्मक जगत् और ब्रह्म के तत्त्वतः अनन्य होनेका विधान है नकि अन्यतरके निषेधका. अतएव ब्रह्मकी अज्ञेयता भी ब्रह्मेतर ज्ञाताके सन्दर्भमें ही उपपन्न होती है नकि ब्रह्मात्मक ब्रह्मांशभूत ब्रह्मचैतन्यके भी अविषय होनेके अर्थमें. वह तो ब्रह्मकी स्वयंप्रकाशरूपताकी ही आंशिक अभिव्यक्ति है (बृह.उप.३।४।२ , ४।४।१९ , - ४।५।१५). अतएव **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् त्वम असि''** (छान्दो.उप.६।८।७) वचनमें भी 'तत्' पदको आत्मपरामर्शी माननेके बजाय 'ऐतदात्म्य'परामर्शी मानना ही उचित लगता है, 'आत्मा' रूप पुंलिगपदका परामर्श नपुंसकलिंगवाले 'तत्' पदके बजाय 'स' पदद्वारा शक्य होनेके कारण ही.

अतएव तीसरे वचन(श्वेता.उप.६।१९)में जो [३]ब्रह्मके निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवद्य या निरञ्जन होनेका विधान भी अब्रह्मात्मिका कला क्रिया अशान्ति रूप दोष अथवा लिप्तता से वर्जित होनेके अर्थमें स्वीकारना चाहिये नकि ब्राह्मिकी कला या क्रिया से वर्जित होनेके अर्थमें.

इसीलिये चतुर्थ वचन(तैत्ति.उप.२।४)में भी मूलरूपेण [४] ब्रह्म अवाच्य या अचिन्त्य होनेपर भी अपने भीतर स्वयंसृष्ट नाम-रूप-कर्मोंके रूपमें वाच्य तथा चिन्त्य भी हो सकता है और हुवा ही है, यह दिखलाना अभिप्रेत है.

इसी तरह पांचवें वचन(बृह.उप.३।९।२६)में भी [५] स्वयंके उपादानभावमें प्रकट किये गये नाम-रूप-कर्मोंके किसी एक क्षुद्र अंशमें ब्रह्मको

परिच्छिन्न माननेपर ही '''न'इति-'न'इति'' निषेध सार्थक होता है. स्वयं श्रुत्युक्त प्रकारक ब्रह्मके श्रुतिवाच्य या श्रुतरूपेण अचिन्त्य अग्राह्य या असंग होनेके अर्थमें नहीं. यह **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैव-अमूर्तञ्च मर्त्यञ्च-अमृतञ्च स्थितञ्च-यच्च सच्च-त्यच्च. तदेतद् मूर्तं यद् अन्यद् वायोश्च अन्तरिक्षाच्च. एतद् मर्त्यम्, एतत् स्थितम्, एतत् सत्, तस्यैतस्य मूर्तस्य मर्त्यस्य स्थितस्य एतस्य सतः एषो रसो यएष तपति सतोहि एष रसः... अथातः आदेशो 'न'इति-'न'इति नहि एतस्माद् इति, 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति. अथ नामधेयं 'सत्यस्य सत्यम्' इति''**(बृह.उप.२।३।१-६) इस वचनमें यदि एकान्तिकतया ब्रह्मका निखिल नामोंसे अवाच्य होना अभिप्रेत होता तो **''अथ नामधेयं 'सत्यस्य सत्यम्' ''** वाक्यांशमें निखिल मूर्तामूर्तादिके द्वन्द्वोंके अन्तर्गत प्रत्येकका निषेध कर देनेपर बाधित हो जानेनेके कारण असत्य नाम-रूपोंको 'सत्य' कह कर उनका भी 'सत्य' ब्रह्मको दिखलाना उपपन्न नहीं हो पायेगा.

यों ब्रह्मके बारेमें पूर्वपक्षाभिमत अभिप्रायसे जो पृथक् अभिप्राय सिद्धान्तीका है उसे संक्षेपमें जान लेनेके बाद अब श्रुत्युक्त मोक्षके स्वरूपके बारेमें भी शुद्धाद्वैतवादके अनुसार इन वचनोंका समाधान जान लेना उचित होगा.

जैसा कि प्रथम वचन(कठोप.२।३।१४)में [१]ब्रह्मात्मक नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें उन्हें ब्रह्मसे भिन्नतया काम्य बनानेवाली कामनाओंके रहते ब्रह्मानुभूति शक्य नहीं रह जाती होनेसे, ऐसी कामना करनेवाला मर्त्य कभी अमृतत्वको पा नहीं सकता, यही श्रुति समझाना चाहती है. एतावता निष्काम ब्रह्मज्ञानी इस भूतलपर जीवन्मुक्त न हो पाता हो तो **''अत्र ब्रह्म समश्नुते''** वाक्यांश निरर्थक सिद्ध होगा. इसे, परन्तु, अस्वीकार करनेपर तो **''ब्रह्मविद् आप्नोति परम्. तद् एषा अभ्युक्ता : सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे**

व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' (तैत्ति.उप.२।१) इस श्रुत्यन्तरमें ब्रह्मज्ञानके बाद मिलनेवाले ब्रह्मके द्वैतघटित सहभावमें जीवात्माके सर्व कामोंके उपभोगकी स्तुतिको सर्वथा बाधितार्थप्रशंसा माननी पड़ेगी.

अतएव द्वितीय वचन(केनोप.२।१३)में [२]ब्रह्मको इस नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्की प्रत्येक वस्तु या प्रत्येक भूत में उसके अनन्य उपादानतया तथा प्राकट्यके कर्ताके रूपमें जान लेनेवाले ज्ञानियोंको, इस लोकके छूटनेके बाद अमृतत्वके प्रापक सत्यका साक्षात्कार होता माना है. अन्यथा महाविनाश होना भी दिखलाया गया है. यहांभी, परन्तु, यह अवधेय है कि इस वचनमें ब्रह्मका पारमार्थिक होना और भूत-भौतिक पदार्थोंका सदसद्विलक्षण मिथ्या होना यदि विवक्षित होता तो ब्रह्मको प्रत्येक भूतवस्तुके भीतर देखनेके बजाय प्रत्येक भूत-भौतिक वस्तुसे अतीत या असंसृष्ट होनेके रूपमें देखना ही मुक्तिका साधन होना चाहिये था. इसके अलावा **''भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य अस्माद् लोकाद् अमृताः भवन्ति''** वाक्यांशमें मुक्तोंका बहुत्व भी तो कण्ठतः प्रतिपादित है ही; और वह यदि ब्रह्मके एकान्तिक अद्वैतमें आपत्तिजनक न हो तो, विविधता या तरतमता को भी ब्रह्मके पारमार्थिक अद्वैतके कथमपि विपरीत नहीं माना जा सकता. यहां **''तदा विद्वान् पुण्यपापे विहाय परे अव्यये सर्वम् एकीकरोति''** (मैत्रा.उप.६।१८) इस वचनान्तरमें निरूपित एकीकरणसे विरुद्ध जानेकी आशंका प्रकट नहीं करनी चाहिये. क्योंकि वह तो मुक्तात्माको अनुभूत होते ब्राह्मैक्यकी दृष्टिसे फलित हो रहा है. यह ऐसी फलानुभूति करनेवाली मुक्तात्माओंकी अनेकताके निषेधार्थ कही गयी उक्ति नहीं है.

अतएव तीसरे वचन(बृह.उप.४।४।२१)में भी ऐसे [३]उस सर्वोपादानभूत सर्वकर्ता ब्रह्मके बोधक वचनोंका अनुध्यान करनेकी बात अभिप्रेत है. यह तो **''यो वै भूमा तत् सुखं न अल्पे सुखम् अस्ति. भूमैव**

सुखं, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः'' (छान्दो.उप.७।२३।१) श्रुतिमें निर्दिष्ट न्यायके अनुसार जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके अल्पसुखरूप होनेके कारण किया गया विधान है नकि मिथ्या होनेके कारण.

चतुर्थ वचन(श्वेता.उप.३।८)में भी [४]मुक्त्यर्थ हमारी ज्ञानमार्गीय साधनाके विषयतया केवल उसीके ज्ञानकी अनिवार्यतापर भार दिया गया है नकि शास्त्रोपदिष्ट अन्यान्य कर्म उपासना योग त्याग वैराग्य भक्ति आदि साधनोंके मुक्तिमार्ग न बन पानेके अभिप्रायवश. ज्ञानकी मोक्षप्रापकता भी विषयसापेक्षतया अर्थात् ब्रह्मज्ञान होनेके कारण ही मान्य होती है. ब्रह्मनिरपेक्ष स्वरूपतया ज्ञान या अज्ञान होनेके कारण नहीं; अतएव, **''अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो य उ विद्यायां रताः. 'अन्यदेव आहुः विद्यया, अन्यद् आहुः अविद्यया', इति शुश्रुम धीराणां ये नः तद् विचचक्षिरे. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं स ह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते''** (ईशा.उप.९-११) इस वचनमें ब्रह्मव्यतिरिक्त तो अविद्याकी तरह विद्याकी भी निन्दा हमें मिलती ही है और चाहे जिस विवक्षाके वश मानो मृत्युके चक्रसे छुड़ानेवाली होनेके रूपमें अविद्याको भी माना ही गया है. केवल विद्याको नहीं.

पांचवे वचन(तैत्ति.आर.३।१।३)में भी [५]ब्रह्मका जैसा स्वरूप श्रुति-आदि शास्त्रवचनोंमें उपदिष्ट है, तदनुसार उसे जान पाना अमृतत्वार्थ या मुक्त्यर्थ अनिवार्य माना गया है. नकि मोक्षके मार्गान्तरोंका निषेध यहां विवक्षित हो सकता है. क्योंकि अन्यथा **''न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एषः वृणुते तेन लभ्यः''** (कठोप.१।२।२३) इस वचनमें प्रवचन-श्रवण-मेधारूप ज्ञानावाप्तिके उपायोंसे अलभ्य दिखला कर परमात्मकृत जीवात्मवरणको परमात्मप्राप्तिके हेतुतया बिरदाना असंगत हो जायेगा.

ऐसी स्थितिमें छठ्ठे वचन(प्रश्नोप.६।५)में भी [६]समुद्रगामिनी नदियोंके

नाम-रूपोंका मिथ्यात्व विवक्षित कैसे माना जा सकता है? यदि उन-उन नामोंवाली और रूपोंवाली नदियोंके नाम-रूपके निवृत्त होनेके कारण उन्हें मिथ्या मानना आवश्यक लगता हो तो-तो नदियोंके भी समुद्रमें लीन होनेके कारण नाम-रूपोंकी तरह उन्हें भी मिथ्या मानना पड़ेगा. यदि नदियोंके समुद्रमें मिल जानेपर उनकी समुद्ररूपापत्तिके कारण उन्हें अमिथ्या मानना हो तो वह नदियोंके नाम-रूपोंकी भी स्वीकारनी ही पड़ेगी. इसी तरह ब्रह्मदर्शनके बाद जीवचेतना भी, अपनी सोलह कलाओं समेत ही, ब्रह्मचेतनामें पर्यवसित होती मानी गयी है. अतः ब्रह्मेतरतया प्रतिभासित होती कलाओंकी विवक्षावश ही वह अकल या निष्कल हो जाती है. एतावता ब्राह्मिकी अमृतकलाओंका ब्रह्ममें न होना मानना तो अकाण्डताण्डव ही होगा.

अन्तिम सात(मुण्ड.उप.३।१।३)वें वचनके बारेमें भी, अतएव, यह उल्लेखनीय हो जाता है कि [ऊ]ब्रह्मवेत्ताकी ब्रह्मभावापत्ति उसे पुण्य-पापातीत बना देती होनेके अर्थकी विवक्षाके वश ही 'परमसाम्य' पद प्रयुक्त हुवा है. यह सर्वथा द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित ऐक्यापत्तिकी विवक्षाके वश नहीं.

यों श्रौत वचनोंमें ब्रह्म और मोक्ष के बारेमें केवलाद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद की दृष्टिमें रहे मौलिक तारतम्यको निरख लेनेपर ग्रन्थकारोपपादित रीतिके अनुसार प्रतिपाद्य विषयके विमर्शार्थ अब अग्रसर हुवा जा सकता है.

प्रस्तुत ग्रन्थके पूर्वपक्षका सार :

मुक्तिमें मिलते आनन्दकी अनुभूतिमें तरतमताकी धारणाके विरोधमें पूर्वपक्षके अन्तर्गत चार तरहकी अनुपपत्तियां उठायी गयी हैं, प्रथम दो शास्त्रीय विधानोंके सन्दर्भमें तथा द्वितीय दो यौक्तिक अनुपपत्तिके सन्दर्भमें :

तदनुसार मुक्तिकी अवस्थामें भी तारतम्य स्वीकारनेपर सर्वप्रथम शास्त्रीय दूषण तो यही है कि ऐसे [अ]तारतम्यके साधक किसीभी तरहके शास्त्रीय प्रमाणका उपलम्भ न होना. [आ]दूसरा दूषण **"परमं साम्यम् उपैति"** श्रुतिवचनमें स्वीकृत 'परमसाम्य'से तारतम्यकी धारणाका विपरीत होना है.

इसके अलावा यौक्तिक प्रथम दूषण तो यही है कि [इ]मुक्तिकी अवस्थामें भी यदि तारतम्य स्वीकारते हैं तो उस आनन्दानुभूति और स्वर्ग या संसार में मिलती आनन्दानुभूति में पार्थक्य नहीं रह जायेगा. दूसरा दूषण यह और है कि [ई]मुक्त जीवात्माओंमें परस्पर तारतम्य होनेपर अन्य किसी मुक्तात्माकी तुलनामें अपने अनुत्कर्षको जान लेनेपर मुक्तजीवके भीतर भी अशेष दुःखोंके अभावके स्थानपर दुःखी होनेकी मनोभावना प्रबल हो सकती है. इसी तरह परायेके उत्कर्षका बोध होनेपर उसके प्रति द्वेष या ईर्ष्या आदिके सांसारिक भाव भी प्रसक्त होने लगेंगे!

प्रस्तुत ग्रन्थके उत्तरपक्षका सार :

[अ]प्रथम अनुपपत्ति कि मुक्तावस्थामें तारतम्यके साधक शास्त्रवचन उपलब्ध नहीं होते, इस बारेमें ग्रन्थकारने तैत्तिरीयोपनिषद्गत आनन्दमीमांसाके आधारपर ब्रह्मानन्दका स्वरूप समझानेको जो मानुषानन्दसे शतगुणित उत्तरोत्तर अधिक होनेके क्रममें प्राजापत्यानन्दके बाद ब्रह्मानन्द पर्यन्त प्रक्रिया जो दिखलायी गयी है, उसे तारतम्यके प्रबल श्रौत प्रमाणतया उपस्थापित किया है. इसका उपोद्बलन भी पुराण-महाभारतके वचनोंके आधारपर किया है. इन और ऐसे अन्य भी श्रुत्यादि शास्त्रवचनोंमें उपलब्ध होते साधनतारतम्य तथा फलतारतम्य के आधारपर भी मुक्तितारतम्यकी उपपत्ति दी गयी है. भगवद्गीतामें कहे गये स्वस्वभावानुगुण श्रद्धात्रैविध्य

और तन्मूलक भक्तित्रैविध्यका भी विचार करनेपर उत्कृष्टतर प्रकारकी श्रद्धासे प्रसूत उत्कृष्टतर प्रकारकी भक्तिका फल भी उत्कृष्टतर स्वीकारना ही पड़ेगा, ऐसी उपपत्ति प्रस्तुत की है.

[आ] द्वितीय अनुपपत्ति यह थी कि मुक्तात्माओंके अथवा मुक्तिके तरतम होनेकी धारणा, परमात्माके साथ मुक्तात्माओंके श्रुत्युक्त 'परमसाम्य' से विपरीत है, वह भी असमाधेय नहीं है. क्योंकि प्रकृत 'साम्य' पद ऐकान्तिक साम्यकी विवक्षावश नहीं प्रयुक्त हुवा है प्रत्युत मुक्तिके सामान्य स्वरूपके अनुरोधवश कतिपय प्रमुख गुणधर्मोंकी अपेक्षावश ही प्रयुक्त हुवा है. अन्यथा परमेश्वरके साथ सर्वथा एकवद्भावापन्न मुक्तात्माओंमें सृष्टिके उत्पादक पालक एवं संहारक होनेके अर्थमें भी साम्य गलेपतित होगा.

[इ] तृतीय आपत्ति यह थी कि मुक्तिकी अनुभूतिमें तारतम्य स्वीकारनेपर मुक्तिसुख और स्वर्गसुख या सांसारिकसुख के बीच कोई अन्तर नहीं रह जायेगा. इसका, किन्तु, स्वतन्त्र निरसन अनावश्यक है. क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद्में उपलब्ध होती आनन्दकी मीमांसामें ही मानुष आनन्द, मनुष्यगन्धर्वके आनन्द, देवगन्धर्वोंके आनन्द, चिरलोकलोकवाले पितरोंके आनन्द, आजानजदेवोंके आनन्द, कर्मदेवोंके आनन्द, इन्द्रके आनन्द, बृहस्पतिके आनन्द, प्रजापतिके आनन्द और अन्तमें ब्रह्मके आनन्दमें कण्ठतः श्रुतिमें ही तारतम्य प्रतिपादित किया ही गया है. अतः इन आनन्दोंमें समानता खोजनी श्रुतिवचनके मुख्यार्थकी उपेक्षा सिद्ध होगी.

[ई] चतुर्थ आपत्तिका परिहार, प्रभुचरणद्वारा, इस तरह दिया गया है कि द्वेष या ईर्ष्या आदिके मनोविकार सुख या आनन्द के तारतम्यके वश नहीं होते परन्तु अन्यविध हीनाधिकारक स्वभावोंके वश होते है. वैसी हीनाधिकारक वासनाओंके होनेपर तो अपने समान भी किसीको देख कर द्वेष या ईर्ष्या आदि मनोविकार प्रकट हो ही सकते हैं.

गन्थोपसंहारतया प्रदत्त उपपत्ति :

मुक्तिमें निखिल नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतके बाधके बाद सिद्ध होते मुक्तिरूप परमसाम्यके निर्वाहार्थ जो जगत्‌की सृष्टिको मिथ्या माना गया है. वह मान्यता भी स्वीकरणीय नहीं है. क्योंकि इन नाम आदिके उत्पत्ति-स्थिति-लयके कर्ता और समवायि होनेके रूपमें ब्रह्मको परिभाषित किया गया है. तदर्थ ब्रह्म जिस तरह अपने तीन ब्रह्मा विष्णु और शिव रूप प्रकट करता है वे भी मिथ्या सिद्ध होंगे, कर्ता और कार्य एवं समवायी और समवेत के इतरेतरसापेक्ष होनेके कारण. इस विषयमें इष्टापत्ति भी की नहीं जा सकती है. क्योंकि ऐसी स्थितिमें या तो ब्रह्मका लक्षण इन तीनोंके समुदित रूपोंमें अतिव्याप्त हो जायेगा. अथवा इन्हें ब्रह्मके ही तीन रूप मान कर अतिव्याप्तिके दोषका परिहार करने जानेपर तो, जैसे ब्रह्मा विष्णु और शिव के नामभेद रूपभेद और कर्मभेद एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अद्वैतमें बाधक नहीं होते, ऐसे ही जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत भी ब्रह्माद्वैतके अनुगुण ही मान लेनेमें आपत्ति रह नहीं जायेगी. ब्रह्मा विष्णु या शिव यदि जगत्‌के उत्पादन पालन और संहरण में असमर्थ हों तो उन्हें मायाके साचिव्यकी अपेक्षा रहेगी. वे यदि स्वतःसमर्थ हों तो मायाके साचिव्यकी अपेक्षा उन्हें सतायेगी ही नहीं. और ब्रह्मादिकी त्रिपुटीको स्वतःसमर्थ न मान कर मायावश समर्थ मानना तो इन्हें वस्तुतः असमर्थ ही माननेमें पर्यवसित होगा. अतएव प्रपञ्चकी तरह इन्हें भी ब्रह्मके अद्वैतमें मायाकल्पित माननेपर यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि स्वयं ब्रह्मका पारमार्थिक होना अथवा सत्य-ज्ञान-आनन्द-रूप होना भी पारमार्थिक होता है या अपारमार्थिक? पारमार्थिक माननेपर तो द्वैतापत्ति होगी ही. और इन गुणधर्मोंके भी अपारमार्थिक माननेपर तो या तो ब्रह्मको भी अपारमार्थिक मानना पड़ेगा अथवा इन गुणधर्मोंके अपारमार्थिक होनेपर भी ब्रह्म यदि पारमार्थिक ही रहता हो तो जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतके बावजूद ब्रह्मके पारमार्थिक अद्वैतमें भी कोई बाधा पहुंचनी तो नहीं चाहिये. अब यदि इस विषयमें इष्टापत्ति दरसायी

जाती हो तो, अब्रह्मात्मक नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत ही ब्रह्मके अद्वैतमें बाधक हो पायेंगे, ब्रह्मात्मक नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत नहीं, यह भी अकामनया गलेपतित होगा.

मायाद्वारा प्रदर्शित व्यावहारिकसत्ता/प्रातिभासिकसत्ता और अमायिक पारमार्थिकसत्ता के बीच तारतम्यका हेतु तो मिथ्यात्वका **''स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता''** रूप लक्षण ही होता है. क्योंकि मिथ्याव्यवहार या मिथ्याप्रतिभास का अपने पारमार्थिक अधिष्ठानपर बाधित होना ही व्यावहारिकी या प्रातिभासिकी सत्ताके सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय होनेका गमक बनता है. किसी भी प्रतीतिगोचर पदार्थके, बाधज्ञानवश किये जाते, त्रैकालिक या कादाचित्क निषेधमें उसका स्वरूपतोनिषेध तो समर्पित होता नहीं है. अर्थात् पारमार्थिक अधिष्ठानतया ही परतोनिषेध होता है. वह तो पारमार्थिक ब्रह्मके बारेमें भी सम्भव है. क्योंकि ''ब्रह्म कालत्रयमें भी व्यावहारिक सत् या प्रातिभासिक सत् नहीं हो सकता'' ऐसे निषेधका प्रतियोगी ब्रह्म भी हो ही सकता है.

यदि कहा जाये कि व्यावहारिक या प्रातिभासिक वस्तुपर ब्रह्मत्व प्रतीतिगोचर ही नहीं होता; अतः स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक निषेधकी भी कोई प्रसक्ति सोची नहीं जा सकती. यह युक्ति, किन्तु, ठीक नहीं है. क्योंकि साकारब्रह्मका कार्यभूत या अंशभूत जड़जीवात्मक जगत्से शुद्धाद्वैत माननेवालोंके मतमें **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१) **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** (छान्दो.उप.६।८।७) **''इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा''** (बृह.उप.२।४।६) सदृश अनेकानेक शास्त्रवचनोंके आधारपर इदमास्पद प्रपञ्चरूप अधिष्ठानपर शाब्दिकवृत्तिवश ब्रह्मका भान होता ही. क्योंकि इन विधानोंमें इदमास्पद प्रत्यक्ष जगत्को उद्देश्य बना कर उसके ब्रह्म होनेका विधान किया जा रहा नकि परोक्ष ब्रह्मको उद्देश्य बना कर उसके अपरोक्ष जगत् होनेका. अतः श्रुतिवाक्यसे जन्य शाब्दबोध भी इदमास्पदोद्देश्यक ब्रह्मत्वप्रकारक ही होगा. इसे इन्द्रियजन्य ज्ञानगोचर न होनेके अपराधवश मिथ्या न माना

जाये तो भूतकालिक या भविष्यत्कालिक पदार्थोंकी तरह, शब्दैकगम्य, स्वर्ग-देव आदि पारलौकिक पदार्थोंकी भी इन्द्रियजन्य अनुभूतिगोचरता न होनेके कारण उनका भी अमिथ्यात्व प्रसक्त होगा. अतः इदमास्पद प्रपञ्चको ब्रह्मकी स्वप्रतिपन्न उपाधि मानना पड़ेगा. उसपर केवलाद्वैतवादके अनुसार प्रसक्त होते त्रैकालिक निषेध कि ''ब्रह्म न तो भूतकालमें कभी व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत् था, न वर्तमानमें हो सकता है और न भविष्यत्कालमें कभी हो पायेगा'' ऐसा त्रैकालिक निषेध प्रसक्त होनेसे ब्रह्मको भी मिथ्या माननेका प्रसंग तो अपरिहार्य ही सिद्ध होगा.

अन्तिम अधिकरणांग संगति :

श्रीमद्भागवत पुराणके एकादशस्कन्धमें उद्धवजीने भगवान्‌के समक्ष एक गम्भीर प्रश्न प्रस्तुत किया है : एक ओर भगवान् गुणदोष दर्शन करनेवाली दृष्टिके दोषपूर्ण और गुणदोषोंका दर्शन न करनेवाली दृष्टिके निर्दोष होनेका विधान कर रहे हैं. दूसरी ओर कर्मोंके गुणदोषोंके भेदके आधारपर ही किसी कर्मका विधान तो अन्य किसीका निषेध वेदवचनोंमें किया हुवा दिखलायी देता है. इन विरोधाभासी वचनोंकी परस्पर संगति कैसे बैठानी? इसके अलावा प्रतिलोम या अनुलोम सतन्तीके लिये वर्णाश्रमाचारके विधि-निषेध भी भेदभावपर अवलम्बित हैं. द्रव्य देश वय काल स्वर्ग नरक आदिके अनेक प्रभेदोंमें गुणदोषोंके निदर्शन भेददृष्टिके बिना कैसे सार्थक हो पायेंगे? मनुष्योंको पितरोंको या देवोंको भी अपने-अपने निःश्रेयस्‌के साध्य-साधनोंका परिज्ञान वेदोंके अलावा अन्य किसी भी प्रमाणसे शक्य नहीं. अतः वेदोंके विधि-निषेधोंको परमेश्वरकी आज्ञा मान कर अनुसरण कर्तव्य बनता है. अतः ऐसी स्थितिमें गुणदोषोंके दर्शन करनेवाली दृष्टि भगवदाज्ञारूप वेदमूलक ही हो तो उसे कैसे दोषरूप मानना?

इसपर भगवान्‌ने उद्धवजीको समझाया कि मनुष्योंके निःश्रेयस्‌के

लिये कर्मयोग ज्ञानयोग एवं भक्तियोग यों तीन उपाय स्वयं भगवान्ने ही दिखलाये हैं. इनके अलावा वेदोंमें जो भी उपाय हैं, वे इनके अंगरूप तो हो सकते हैं परन्तु स्वतन्त्र उपाय नहीं. इन्हें कौन अपनाये उसके बारेमें भी तीन तरहके अधिकारोंका निरूपण किया गया है कि कर्म या उससे मिलनेवाले फलोंमें विरक्त साधकोंको ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होना चाहिये, अविरक्त सकाम अधिकारीको कर्मयोगमें प्रवृत्त होना चाहिये तथा भगवत्कथामें यदृच्छया श्रद्धाशील साधक, जो न अतिविरक्त हो या न अति-अनुरक्त हो, उसे भक्तियोगमें प्रवृत्त होना चाहिये. इन्हीं सकाम कर्मोंके निष्काम अनुष्ठान करनेवालेको न स्वर्गलोक मिलता है और न नरकलोक ही. परन्तु ज्ञान या भक्ति तो कभी न कभी सिद्ध हो ही जाती है.

एतावता यह फलित हुवा कि ब्रह्मके स्वरूपके विचारसे न तो ब्रह्मेतरतया अवगत किसी वस्तु या व्यक्ति में उसके कोई अपने गुण होते हैं और न अपने कोई दोष ही होते हैं. फिरभी इस सृष्टिलीलामें प्राकृत गुणोंके संघातमें प्रकट होनेवाले हमारे प्राकृत या कृत्रिम कर्तृत्व ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के यथाक्रम अवलम्बन द्वारा प्रकट होनेवाले कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग में मार्गौपयिक गुणदोषोंकी भलीभांति सावधानी बरतना भगवल्लीलाके अनुसरणद्वारा लीलाकर्ता भगवान्के स्वरूपके साक्षात्कारकी दिशामें अग्रसर हुवा जा सकता है.

एकमेवाद्वितीय भगवान्ने लीलार्थ जो अनेकविध द्वैत प्रकट किये हैं उन्हें दृष्टिगत रखते हुवे ही श्रीभागवतपुराणके तृतीय स्कन्धके २९ वें अध्यायमें भक्तियोगकी भी मनुष्योंके गुण और स्वभाव के भेदोंपर अवलम्बित होनेवाली बहुविधता निरूपित की गयी है. हिंसा दम्भ या मात्सर्य आदि दुर्गुणोंके वश भेददृष्टिसे आक्रान्त व्यक्तिकी भक्ति तामसी होती है. विषयकामना यशोलिप्सा या ऐश्वर्यादिके लाभार्थ की जाती भेददृष्टिवाले व्यक्तिकी भक्ति राजसी होती है. कांटेसे कांटा

निकालनेकी तरह कर्मनिर्वाहसे कर्मनिर्हारके हेतु कर्मोका अनुष्ठान, भेददृष्टि रखते हुवे यावद्देहाभिमान विधि-निषेधके बन्धनोंको अनुल्लंघ्य मान कर उनके अनुरोधवश कर्मोंके अनुष्ठान; अथवा परमात्माको समर्पित करनेकी भावनाके साथ स्वकर्मोंके अनुष्ठान करनेवालोंकी भक्ति सात्त्विकी होती है. सभी पुरुषों या जीवात्माओं के भीतर तादात्म्यभावसे बिराजमान पुरुषोत्तम या परमात्मा के गुणोंके श्रवणमात्रसे प्रकटा निर्हेतुक अव्यवहित अविच्छिन्न मनोगतिवाला भक्तिभाव निर्गुण भक्तियोग होता है. ऐसे इस भक्तिभावके प्रकट होनेपर सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य अथवा एकत्व/सायुज्य की भी स्पृहा भक्तको रह नहीं जाती. ऐसे इस भक्तियोगका साधक प्रकृतिके तीनों गुणोंके बन्धनोंसे उभर कर भगवद्भावापन्न हो जाता है. यद्यपि सगुणा भक्तिके फलोंका कण्ठतः निरूपण यहां भगवान्ने किया नहीं है, फिरभी निर्गुणा भक्तिकी साधनाका प्रकार और फलानुभूतिका प्रकार यहां दिखलाया है : ऐसे साधकको अपने स्वधर्मका निषेवन निर्निमित्तभावसे करना चाहिये, अतिहिंस्र क्रियायोगोंसे अपने आपको अधिक जोड़ना नहीं चाहिये, भगवान्के प्राकट्यस्थानोंके दर्शन स्पर्शन पूजा स्तुति अभिवन्दन सकल प्राणियोंमें भगवद्भावना मनको निःसंग बना करनी चाहिये, बड़ोंका बहुमान निभाते हुवे दीनजनोंके प्रति अनुकम्पाका मनोभाव रखना चाहिये, आत्मतुल्योंके प्रति मैत्रीभाव निभाना चाहिये, अकुटिलतापूर्वक यम-नियम आध्यात्मिक निरूपणोंके अनुश्रवण और नामसंकीर्तन करना चाहिये, श्रेष्ठजनोंके साथ सत्संग करना चाहिये, अहंकारसे बचना चाहिये. ऐसा साधक भगवान्के धर्मोंके कारण और इन गुणोंके कारण केवल भगवान्के गुणोंके श्रवणमात्रसे भगवान्को पा सकता है.

क्योंकि उपनिषद्में ब्रह्मके **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.२।१) जैसे ब्रह्मज्ञानौपयिक स्वरूपलक्षणकी तरह ही ब्रह्मजिज्ञासौपयिक **''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत... रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति... एष ह्येव आनन्दयाति''**, **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति-**

अभिसंविशन्ति'', **''बह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि रूपाणि कर्माणि बिभर्ति''** (तैत्ति.उप.२।७, ३।१, बृह.उप.१।६।१-३) फललक्षण एवं कार्यलक्षण भी उपदिष्ट हुवे ही हैं. अतः [१]जनन [२]जीवन [३]प्रयाण और [४]लय और जीवितावस्था और विदेहावस्था में सिद्ध होनेवाली फलानुभूतिके ब्राह्मिक याथार्थ्यका भागवतपुराणमें [१]सर्ग-विसर्ग [२]स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोध [३]मुक्ति और [४]आश्रयभावापत्ति के दशविध रूपोंमें संकीर्तन हुवा है. तदन्तर्गत मुक्तिके अनेकविध प्रकार भी सिद्ध होते ही हैं.

इस सन्दर्भमें महाप्रभुके मतके अनुसार फलभेद या मुक्तितारतम्य का सिद्धान्त वाल्लभ चिन्तनके भवनमें एक सुदृढ आधारशिलाका प्रयोजन पूर्ण करता है.

एक बहुप्रचारित मिथ्या धारणा, जो न केवल विसाम्प्रदायिक विद्वान् लेखकोंकी कृतिओंमें प्रत्युत वाल्लभ सम्प्रदायके अनुगामी लेखकोंकी कृतिओंमें भी, प्रायः साधारणतया दृष्टिगत होती है, उसके बारेमें स्पष्टीकरण देना आवश्यक लगता है. इस मिथ्या धारणाके अनुसार वाल्लभ सम्प्रदायमें केवल भक्तिसाधनाको ही मान्य किया गया है; और, इस पुष्टिभक्तिरूपा साधनाके फलतया गोलोककी प्राप्ति ही मोक्षतया मान्य रखी गयी है(?!). इससे अधिक अन्यथा व्याख्यान महाप्रभुके चिन्तन या दृष्टिकोण के बारेमें और क्या हो सकता होगा!

अतः ऐसी भ्रमपूर्ण अवधारणाओंका निरसन भी इस प्रसंगमें अति-आवश्यक हो जाता है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और उनके कनिष्ठ आत्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण, दोनों ही, के मोक्षसम्बन्धी विचारोंको भलीभांति समझना हो तो यह लघुकाय निर्णयग्रन्थ वस्तुतः एक आधारशिलोपम प्राग्धारणाको प्रस्थापित करनेवाला माना जा सकता है. केवल भक्ति ही मोक्षप्रापिका होती है या अन्य भी, इस विषयमें

महाप्रभुका हार्द समझना हो तो सरलतम अतीव हृदयंगामी चरित्रवार्तामें वह यों मिलता है :

''एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्याह्नके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते. तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्यावन्दन करन लागे. सो सो पुरुषोत्तम जोशीकी ओर कृपा करिके दैवी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो 'महाराज! यह कर्ममारग बड़ो के ज्ञानमारग बड़ो?' तब श्रीआचार्यजी कहें 'जाके मनमें दृढ़ जो मारग आवे, जामें जाको विश्वास होय, वाके भाये तो वह मारग बड़ो; और बड़ो तो भक्तिमारग है जामें जीव कृतार्थ होइ. और ज्ञानमारग कर्ममारग सों कृतार्थता कठिनतासों होई. सो काहूसों निर्वाह होय नाहीं. काहेते? जो कष्टसाध्य हैं. सो या कालमें शरीरको कष्ट कार्यो न जाई. कोऊ अपने शरीरको कष्ट सहे तो मन ठिकाने रहे. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाहीं''' (पुरुषोत्तम जोशीकी वार्ता ८४ वै.वा.)

यही सिद्धान्त महाप्रभुने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें प्रारम्भमें भी घोषित किया है :

''ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत्, कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया चित्तं प्रसीदति, भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया कृष्णः प्रसीदति. निष्ठाभावे फलं तस्माद् नास्त्येव इति विनिश्चयः निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया. स्वाधिकारानुसारेण मार्गाः त्रेधा फलाय हि अधुना हि अधिकारास्तु सर्वएव गताः कलौ, कृष्णः चेत् सेव्यते भक्त्या कलिः तस्य फलाय. सर्वेषां वेदवाक्यानां भगवद्वचसामपि श्रौतो अर्थो

हि अयमेव स्याद् अन्यः कल्प्यो मतान्तरैः'' (त.दी.नि.१।१७-२०).

निःश्रेयस्के भी पुनः जीवन्मुक्ति/विदेहमुक्ति अथवा क्रममुक्ति/सद्यो-मुक्ति आदि अनेक प्रकार होते हैं. इसी तरह मुक्तिके इन विविध प्रकारोंमें अनुभूत होते आनन्दोंके भी अनेकविध प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद्में निरूपित हुवे ही हैं. इन विविध प्रकारके आनन्दके प्रदायक विविध कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग; और, इन मार्गोंके अन्तर्गत अवान्तरमार्ग भी विविध शास्त्रोंमें प्रतिपादित हैं ही. इनके विस्तारमें जाना प्रस्तुत आलेखमें शक्य न होनेसे, इन सभीके बारेमें यहां केवल इतना स्पष्टीकरण दे देना पर्याप्त होगा कि अतएव मुक्तिलाभके अन्तर्गत भी फलतारतम्य स्वीकारना ब्रह्मके स्वरूप और लीला दोनोंकी दृष्टिसे अकामांगीकरणीय है.

अतएव महाप्रभुके अनुसार श्रौत निष्कामकर्ममार्ग, योगसाधना और सांख्यसाधना का फल आत्मानन्द होता है. तत्तद् देवोपासनाओंका फल तत्तद्देवलोकोंमें सालोक्यादिका आधिदैविकानन्द होता है. अक्षरब्रह्मके श्रुत्युक्त स्वरूपप्रकारक ज्ञानका फल आध्यात्मिक ब्रह्मानन्द होता है. पुरुषोत्तमकी मर्यादाभक्ति और/अथवा पुष्टिभक्ति के फलतया भी आधिदैविक परमानन्दकी प्राप्ति दिखलायी गयी है.

इसी परमानन्दानुभूतिकी विविध अवान्तरानन्दानुभूतियां भी प्रतिपादित हुयी हैं. ये महाप्रभु-प्रभुचरणके षोडशग्रन्थ आदिमें भी निरूपित हुयी हैं. यथा : [१]समस्तदुरितक्षयपूर्वक श्रीमुकुन्दरति श्रीमुररिपुसन्तोष और तनुनवत्वरूप स्वभावविजय, [२]भगवदाश्रय और भगवदीयता की सिद्धि, [३]निजतनुवित्तके भगवत्सेवामें विनियोगद्वारा चित्तके श्रीकृष्णैकप्रवण हो जानेके कारण श्रीकृष्णकी निरन्तर मानसी सेवा, [४]इस भूतलपर भगवान्का स्वरूप-गुणभेदेन प्राकट्य, [५]सब कुछ भगवान्को समर्पित करनेके कारण भगवदीय बनी सकलसामग्रीद्वारा भगवत्सेवाका निर्वाह, [६]श्रीकृष्णकी भक्ति और/अथवा प्रपत्ति के कारण प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तता, [७]विवेकधैर्याश्रयलभ्या अलौकिकमनःसिद्धि, [८]अन्याश्रयरहित श्रीकृष्णका आश्रय, [९]पुष्टिजीवके धर्मार्थकाममोक्ष पुरुषार्थोंका श्रीकृष्णसे जुड़ जाना, [१०]स्वगृहमें भगवत्सेवा और/अथवा भगवत्कथा के अनुष्ठानसे सुदृढ़ बने भक्तिके बीजभावकी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होती प्रेम-आसक्ति-व्यसन अवस्थाके भेद, [११/१२]भगवत्कथाके श्रवणवश लौकिक-वैदिक विषयोंमें अनुरागकी निवृत्ति और भगवान्के स्वरूप-गुण-लीला आदिके बारेमें अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर ऐसा भगवद्गुणगानानन्द कि जो भगवान्में भी हमारी अरतिको भलीभांति निवृत्त कर श्रीकृष्णकी रसानुभूतिमें हमारे मनको निमग्न कर देता हो, [१३]भगवद्विप्रयोगजनित विकलता या अस्वास्थ्य, [१४]प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवान्में सभी तरहसे निरुद्ध हो जानेके कारण भगवत्सेवाके अवसरमें संयोगसुख और अनवसरमें विप्रयोगदुःख, साथ ही साथ भगवत्कथामें गुणगानका परमसुख रूप निरोधकी सिद्धि, [१६]तनुनवत्वरूप अलौकिकसामर्थ्य / सायुज्य; अथवा वैकुण्ठ आदि दिव्य लोकोंमें भगवत्सेवोपयोगी नूतन तनुकी प्राप्ति. इस पुरुषोत्तमके स्वरूप गुण या लीला के कारण अनुभूत पूर्णानन्दके भी अवान्तर आनन्दोंके विविध प्रकार षोडशग्रन्थोंमें निरूपित हुवे हैं. इनमें आनन्दानुभूतिमें तारतम्य न भी हो परन्तु परमानन्दके रसास्वादनमें विविधता तो मान्य करनी ही पड़ती है.

इस तरह कहीं विविधता तो कहीं तारतम्य भी पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति एवं भक्ति के प्रकारोंमें सुस्पष्ट झलकता ही है. उसे सैद्धान्तिक आधार यह 'मुक्तितारतम्यनिर्णय' ग्रन्थ प्रदान करता है. और यही इसकी इस फलविचारगोष्ठीमें प्रस्तुत करनेकी आत्यन्तिक उपादेयताकी संगति है.

सम्पादक : गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरजी

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

गोस्वामिश्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणकृतं

॥ भ क्ति जी व न म् ॥

(प्राग्रूपशीर्षकोत्थानिकोपेतम्)

(प्रतिपाद्यवस्तुनिर्देशात्मकं मंगलाचरणम्)

श्रीमद्वल्लभपादाब्जप्रसादाद् उत्तमोत्तमात् ॥
वक्ष्ये प्रवाहमर्यादापुष्टीनां भेदम् उत्तमम् ॥१॥

(ग्रन्थोपक्रमः)

संसारसागरस्याशु तरणाय कलौ युगे ॥
पापे चापजनाग्रेऽस्मिन् सर्वधर्मविवर्जिते ॥२॥
दुष्टावृतमहातीर्थेऽसत्कथाव्यग्रसज्जने ॥
श्रीमद्गुरुहरिं जीवः श्रयते प्राग्भवाश्रयात् ॥३॥
आश्चर्योन्मुखएवाशु भवत्यस्य व्रजेश्वरः ॥
ब्रह्मसम्बन्धतो देहे वृत्तिः स्थिरवरा भवेत् ॥४॥
तरणाय प्रवेक्ष्यस्य समुद्रस्येव जीविनः ॥

(प्रावाहिकभक्तिस्वरूपम्)

कृत्याकृत्यं न जानाति धर्माधर्मं तथा पुनः ॥५॥

अन्याश्रयं करोत्येव वेदशास्त्रावलोकनैः ॥
गूढार्थमुनिवाक्यानि दृष्ट्वा सञ्जातविभ्रमः ॥६॥
वेदसिन्धुवाक्योर्मिताडितेन्द्रियसञ्जयः ॥
भ्रान्तः चेद् भवति प्रायः स 'प्रावाहिक' उच्यते ॥७॥
तस्मात् प्रावाहिकी भक्तिः न कर्तव्या कदाचन ॥
विचारोऽत्र न कर्तव्यः श्रीमदिच्छा बलीयसी ॥८॥
...लोकसम्बन्ध-सदृशी जायते रुचिः ॥
भक्तैः चिन्ता न कर्तव्या श्रीमदिच्छा यतोऽचला ॥९॥

(मार्यादिकभक्तिस्वरूपम्)

मर्यादा केवला भ्रान्तिः सर्वदोषमयस्य हि ॥
मिथ्याचारस्य दीनस्य पुरुषोत्तमसम्भ्रमात् ॥१०॥
वेदशास्त्रोक्तधर्माणां राहित्यात् चित्तनैष्ठुरात् ॥
न दोषापहृतिः तस्य साभिमानस्य जायते ॥११॥
मर्यादीयः समाख्यातो भक्तोऽयं केवलं श्रमात् ॥
नचास्य श्रीमतः प्राप्तिः पुरुषोत्तमसम्भ्रमात् ॥१२॥
भगवज्जनसंसर्गात् पुरुषोत्तमदर्शनात् ॥
प्रभुप्रसादभक्तौतु दोषनाशोऽस्य जायते ॥१३॥

(पुष्टिभक्तिस्वरूपम्)

१.पुष्टिभक्त्यधिकारिभक्तेषु "यदा यस्य अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभाववित्

स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्" इति वचनाद् लौकिकसंगनैरपेक्ष्यमूलको अनुग्रहस्य अवान्तरव्यापाररूपः प्रथमः वैष्णवसंगः :

स्वीकरोति प्रभुः स्वं चेद् अनन्यभजनो भवेत्॥

स्वीकाराद् वैष्णवैः संगो मनोवाक्कायकर्मभिः॥१४॥

जायते सुदृढः स्नेहः साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमे॥

२.तादृग्भक्तेषु भगवत्सेवापरभगवदीयगृहे भगवत्परिर्यालाभरूपो अनुग्रहस्य द्वितीयो अवान्तरव्यापारः :

कदाचिद् भाग्ययोगेन वैष्णवावाससेवनात्॥१५॥

संसाराम्बुनिधिः वश्य-पदमात्रः तदा भवेत्॥

३.तादृग्भक्तेषु लौकिकाहन्ताममतानिवृत्त्या भजनानुकूलयोः तयोः आविर्भावो अनुग्रहस्य तृतीयो अवान्तरव्यापारः :

साक्षात् प्राप्त्यै तदा तेषु तन्मयत्वं यदा हरौ॥१६॥

देहं रुधिरमांसास्थिमयं दृष्ट्वाऽस्थिरं जगत्॥

अहन्ताममतानाशे कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥१७॥

तदा तम् अनुगृह्णाति साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमः॥

४.तादृग्भक्तेषु "यदा यस्य अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभाववित् स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्" इति वचनाद् वेदोक्तासाधननिष्ठाशैथिल्ये भगवत्स्वरूपैकनिष्ठारूपो अनुग्रहस्य चतुर्थो अवान्तरव्यापारः :

भिन्नमार्गस्य वाक्यानां स्वीकारं मानसं त्यजेत्॥१८॥

पुरुषोत्तमधाम स्यात् चेतो वैष्णवसंश्रयात्॥

स्वप्ने तस्य प्रभोः प्राप्तिः स्वप्नवत् प्रकटा भवेत्॥१९॥

५.तादृग्भक्तेषु भगवद्विप्रयोगजनिततापक्लेशाविर्भावे अनुग्रहस्य पञ्चमो अवान्तरव्यापारः :

विरहे तत्स्वरूपस्य भजनं शतधा भवेत्॥

६.तादृग्भक्तेषु पूर्णसमर्पितात्मत्वसिद्धौ भगवदीयत्वसिद्धिरूपो अनुग्रहस्य षष्ठो अवान्तरव्यापारः :

सर्वं समर्पयेद् भक्त्या निवेदनपरोऽनिशम्॥२०॥

असमर्पितवस्तूनां वर्जनाद्............

७.तादृग्भक्तेषु भगवदीयसंगस्य श्रीकृष्णाश्रयनिर्वाकतारूपो अनुग्रहस्य सप्तमो अवान्तरव्यापारः :

भगववज्जनः॥

आश्रयो जायते कृष्णे, कृष्णः तस्याश्रयोन्मुखः॥२१॥

८.तादृग्भक्तेषु विवेकधैर्यनिर्वाहरूपो अनुग्रहस्य अष्टमो अवान्तरव्यापारः :

विवेकञ्च तथा धैर्यं हरिः सर्वं करोति हि॥

९.तादृग्भक्तेषु पुष्टिभक्तिनिर्वाहरूपो अनुग्रहस्य नवमो अवान्तरव्यापारः :

पुष्टिमार्गे प्रवृत्तोऽयं भक्तः,

१०.तादृग्भक्तानां ''मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि'' इति वचनोक्तो भगवतो अनुग्रहफलरूपो यो भगवान् तत्स्वरूपम् :

श्रीपुरुषोत्तमः ॥२२॥

व्रजराजो द्विजपतिः हरिरेव न संशयः ॥

(ग्रन्थोपसंहारः)

रहस्यं परमं चैतत् पवित्रं परमाद्भुतम् ॥२३॥

न प्रकाश्यम् अभक्ताय कल्याणं भक्तिजीवनम् ॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितं भक्तिजीवनम्

समाप्तम्

गोस्वामी श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणकृत

॥ भक्तिजीवनम् ॥

(गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरकृत भावानुवाद)

(प्रतिपाद्यवस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण)

श्रीमद्वल्लभके चरणकमलके उत्तमोत्तम प्रसादके बलपर प्रवाह मर्यादा और पुष्टि के अवान्तरप्रभेदोंसे विभिन्न मिश्रपुष्टिके उत्तमभेद(प्रकार)का अब प्रतिपादन करना है॥१॥

(ग्रन्थोपक्रम)

अब सभी धर्मोंका लोप हो गया है, महान् तीर्थ भी दुष्ट जनोंसे घिरे हुवे हैं, असज्जनोंकी कथाओंको सुन-सुन कर सज्जन व्यग्र ही रहने लगे हैं, पाप तो अपने सारे हथियारोंसे सजा-धजा इस कलियुगमें सबसे आगे खड़ा दिखलायी देता है, ऐसे कलियुगमें इस संसारसागरको तैर कर शीघ्र ही कोई पार करना चाहता हो तो पूर्वजन्मके सुकृतके कारण ही कोई श्रीहरि एवं गुरु की शरणमें जा पाता है. तब व्रजेश्वर श्रीहरि भी चकित हो कर ऐसे जीवको निहार लेते हैं. समुद्रमें तैरना चाहते भूमिजीवीके लिये जैसे किसीका सहारा लेना आवश्यक होता है वैसे ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा लेकर अपने देहमें प्रभुके प्रति समर्पित होनेकी वृत्ति स्थिर और श्रेष्ठ बनानी चाहिये॥२-४॥

(प्रावाहिकी भक्तिका स्वरूप)

जिसे न तो अपने कर्तव्य/अकर्तव्य और न धर्म/अधर्म का भान हो, वह तो वेदादि शास्त्रोंके वास्तविक अभिप्रायको समझे बिना मुनिजनोंके गूढ अर्थवाले वचनोंको देख कर भी भ्रान्तिग्रस्त हो सकता है. ऐसे पुष्टिजीव भी सहज ही वेदवचनोंकी लहरोंके थपड़े खा कर अपनी इन्द्रियोंपर काबू खो देते हैं. अतः वेदादिशास्त्रोंके अवलोकनके बावजूद भी कई अन्याश्रय करने लग जाते हैं तो ऐसे उन भ्रान्त व्यक्तिओंकी भक्ति 'प्रावाहिकी' कही जाती है. इसलिये प्रावाहिकी भक्ति कभी नहीं करनी चाहिये. और न किसी पुष्टिमार्गीयको करते देख कर चिन्ताग्रस्त ही होना चाहिये. क्योंकि सभी बातोंमें श्रीप्रभुकी इच्छा बलीयसी होती है. ऐसे प्रवाहावेशी पुष्टिजीव भगवल्लीलाके दर्शनमें रुचिशील होनेपर भी अपने हीनाधिकारके वश अनन्यभक्ति कर नहीं पाते. फिरभी सच्चे भक्तोंको इस विषयमें श्रीप्रभुकी इच्छाको अचल मान कर किसी तरहकी चिन्ता करनी नहीं चाहिये॥५ - ९॥

(मार्यादिकी भक्तिका स्वरूप)

वेदादि शास्त्रोंमें कहे गये धर्मोंसे रहित, निष्ठुर चित्तवाले, मिथ्याचारमें फंसे यों सभी तरहके दोषोंसे भरे इस दीन-हीन जीवके लिये शास्त्रीय मर्यादाओंको अनुसरनेकी महत्त्वांकाक्षा तो केवल मनोभ्रान्ति ही होती है, क्योंकि किसी भी देवके पुरुषोत्तम

होनेके अभिमानपूर्वक सम्भ्रमके कारण, ऐसे जीवके दोषोंकी निवृत्ति दुष्कर ही होती है. फिरभी केवल श्रम करनेकी मनोग्रन्थिवाले ऐसे जीव 'मर्यादी' कहे जाते हैं. इन्हें इसी पुरुषोत्तमके सम्भ्रमके वश भगवत्प्राप्ति होती नहीं है. ऐसोंके दोषोंका नाश भगवदीय जनोंके संग श्रीपुरुषोत्तमकी कृपावश प्रकट होनेवाली भक्तिके कारण भगवत्साक्षात्कार होनेपर सारे दोषोंका नाश होता है॥१० - १३॥

(पुष्टिभक्तिका स्वरूप)

श्रीप्रभुके अनन्यभजनमें तो स्वयं प्रभु भजनार्थ अंगीकार करें तभी कोई पुष्टिजीव समर्थ हो पाता है. ऐसा होनेपर उसे वैष्णवोंका संग भी मिलता है; तभी उसके मन वाणी और काया के व्यापारोंमें साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमके प्रति सुदृढ स्नेह प्रकट हो पाता है. यह तो वैष्णवोंके साथ सत्संग करने और बसने के भाग्योदय होनेपर कभी शक्य हो पाता है. यह सौभाग्य निधिरूपेण प्राप्त हो जाये तब तो संसारसागर एक पदन्यासद्वारा भी लांघा जा सकता है. तब श्रीहरिमें वह ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसे साक्षाद् भगवत्प्राप्ति सम्भव हो पाती है. और तभी उसे रुधिर मांस और अस्थि वाला यह देह और जगत् अस्थिर लगने लगते हैं. अतः उसकी लौकिक अहन्ता-ममता मिट कर श्रीकृष्णमें भक्ति (भगवद्दास्यभावात्मिका अहन्ता और श्रीकृष्णस्नेहभावात्मिका ममता) प्रकट हो पाती है. तब ऐसे जीवपर साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमका अनुग्रह प्रकट होनेके कारण, भिन्नमार्गीयोंको लक्ष्यमें रख कहे गये वचनोंको

अनुसरनेका उसका मोह तूट जाता है. तब उसके चित्तमें पुरुषोत्तमके धाम बन पानेकी अधिकारिता प्रकट हो पाती है, वैष्णवोंके संश्रयवशात्. यह सिद्ध होनेपर तो उसे स्वप्न भी प्रभुके आने लगते हैं और विप्रयोगवश भगवत्सवरूपका शतधा भजन करने भी वह समर्थ हो पाता है. वह अपना सब कुछ समर्पित करके अहर्निश आत्मनिवेदनके भावोंसे भरा रह पाता है. ऐसा जीव असमर्पित वस्तुओंके उपभोगसे बच पाता होनेके कारण भगवदीय जन भी ऐसे भक्तका कृष्णार्थ आश्रय बन जाते हैं. तब तो श्रीकृष्ण भी उसके आश्रय बननेको उन्मुख हो जाते हैं; और विवेक तथा धैर्य भी निभा पानेकी सामर्थ्य श्रीहरि प्रदान करने लगते हैं. इस पुष्टिमार्गमें भगवान् तो निःसन्देह व्रजराज द्विजपति श्रीपुरुषोत्तम श्रीहरि ही हैं, सो ऐसा भक्त पुष्टिमार्गमें प्रवृत्त हो पाता है॥१४ - २२ १/२॥

(उपसंहारः)

यह भक्तिजीवन (भक्त्यर्थ जीवन अथवा भक्तिवश जीवन) ग्रन्थ परम अद्भुत एवं पवित्र रहस्य है, इसे अभक्तोंके समक्ष प्रकाशित नहीं करना चाहिये॥२२ १/२ - २४॥

इस तरह श्रीमद्विट्ठलेश्वरद्वारा विरचित भक्तिजीवनका गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरकृत भावानुवाद समाप्त हुवा

गोस्वामी श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरजीद्वारा विरचित 'भक्तिजीवनम्' ग्रंथमें प्रतिपादित फलका स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीवाडीलाल न. शाहके सम्पादकत्वमें तब प्रकाशित होती 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिकके वर्ष ३ अंक १२ (तदनुसार वि.सं.१९१७) में प्रकाशित हुवा था. श्रीगणपतिराम का.शास्त्रीने इसे सम्पादित कर प्रकाशित करवाया था. इसका उल्लेख 'शुद्धाद्वैतपुष्टिमार्गीय संस्कृतवाङ्मय'के पृष्ठ सं.१६५ पर पोतकूर्चि श्रीकण्ठमणि शास्त्रीजीने भी किया है.

इसके श्रीमत्प्रभुचरण द्वारा रचित होनेकी प्रमाणविचिकित्सा होनेपर इतना ही कह पाने हम समर्थ हैं कि जिस ग्रन्थसंग्रहमेंसे वाल्लभ सम्प्रदायके अन्यान्य अनेक अप्रकाशित ग्रन्थ इदम्प्रथमतया प्रकाशित हुवे थे, उसी श्रीगट्टुलालाजीके ग्रन्थसंग्रहकी हस्तलिखित मातृकाओंमें श्रीमत्प्रभुचरणरचित साहित्यके रूपमें यह ग्रन्थ भी तब मिला होगा, ऐसा अनुमान होता है. क्योंकि अन्य कोई उल्लेख सम्पादकने प्रकट नहीं किया. उसके बाद इसका पुनःप्रकाशन अद्यावधि हो नहीं पाया. इस पुनःप्रकाशनमें हमने उसे यथावत् ही पुनर्मुद्रित किया है, सिवाय एक विषयानुरोधी संशोधनके कि कारिका ११ के बाद १२वीं कारिकाके बाद जो १३-१४ कारिकायें थी उन्हें ११वींके बाद १२-१३वीं कारिकाओंके रूपमें हमने योजित करना उचित माना है. इसी तरह मासिकपत्रिकाके मुद्रित संस्करणमें १२वीं संख्यापर आती कारिकाको १४वीं कारिकाके रूपमें योजित किया है.

इसके श्रीमत्प्रभुचरणरचित होने या न होने का कोई भी साधक या बाधक साक्ष्य कमसे कम हमें उपलब्ध नहीं हुवा है. वह किसीको अवगत हो तो अतीव उत्कण्ठाके साथ प्रार्थ्य भी है ही. श्रीमत्प्रभुचरणकी जो विविध अष्टोत्तरशत नामावलियां मिलती हैं, उनमें भी अन्यान्य अनेक ग्रन्थोंके अनुल्लेखकी तरह इस ग्रन्थका भी उल्लेख मिलता नहीं है. अपवादरूपेण केवल एक श्रीवल्लभ ३३२ नामावली, जिसमें श्रीमत्प्रभुचरणरचित ग्रन्थोंका श्रीवल्लभरचिततया एकवद्भाव द्योतित किया गया है, उसमें तीन नाम **''कृष्णानुग्रहलभ्यैक-भक्तितत्त्व-प्रकाशकाय मर्यादानुगृहीतात्म-भक्त्यर्थाचार-दर्शकाय पुष्ट्य्यनुग्रहवद्-भक्तधर्मान्तर-निषेधविदे''** (अज्ञातकर्तृक श्रीवल्लभनामावली २७१-२७३) यों तीन नाम उपलब्ध होते हैं. इन नामोंको श्रीमत्प्रभुचरणकृत 'भक्तिहंस' की तरह इस ग्रन्थमें भी प्रतिपाद्यतया अनुस्यूततया देखा जा सकता है.

इसपर कोई व्याख्या प्राचीन लेखकोंकी भी कहीं हैं या नहीं यह भी गवेषणीय ही है.

(प्रतिपाद्यविषयमीमांसा)

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयरूप प्रवाहमार्गीय मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भक्तोंका स्वरूप क्या 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'ग्रन्थगत **''इच्छामात्रेण मनसाप्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन''** (पु.प्र.म.९) वचनमें निर्दिष्ट सन्दर्भके अनुसार कायसृष्ट पुष्टिसृष्टि, मनसासृष्ट प्रवाहसृष्टि;

तथा, वाणीसृष्ट मर्यादासृष्टि के भक्तोंके रूपमें निरूपित मानना चाहिये? अथवा उसी ग्रन्थके **''तस्माद् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः... पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा प्रवाहेण क्रियारताः मर्यादया गुणज्ञाः ते शुद्धाः प्रेम्णा अतिदुर्लभाः''** (पु.प्र.म.१२-१५) वचनमें निर्दिष्ट पुष्टिसृष्टिके अवान्तरप्रभेदोंके सन्दर्भमें समझना?

अर्थात् भगवद्गीताके **''द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैव आसुरएव च... प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनाः विदुः आसुराः... आसुरीं योनिम् आपन्ना मूढा जन्मनि-जन्मनि माम् अप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्ति अधमां गतिम्''** (भग.गीता.१६।६-२०) वचनमें वर्णित आसुरी योनिके प्रवाही जीवोंका यहां इस भक्तिजीवनमें परामर्श किया गया है अथवा दैवी योनिमें जनमें आसुरावेशवाले प्रवाही जीवोंका? इसके बारेमें कोई खुलासा खोज पानेपर ही इस ग्रन्थका प्रमुख तात्पर्य सुबोध्य हो पायेगा.

एतदर्थ प्रस्तुत ग्रन्थगत **''कृत्याकृत्यं न जानाति धर्माधर्मं तथा पुनः अन्याश्रयं करोत्येव वेदशास्त्रावलोकनैः गूढार्थमुनिवाक्यानि दृष्ट्वा सञ्जातविभ्रमो वेदसिन्धुवाक्योर्मिताडितेन्द्रियसञ्जयो भ्रान्तः चेद् भवति प्रायः स 'प्रावाहिक' उच्यते तस्मात् प्रावाहिकी भक्तिः न कर्तव्या कदाचन''** वचनावलीका सावधानीके साथ विमर्श करना आवश्यक है. क्योंकि आसुरी सृष्टिके लक्षण इस ग्रन्थमें वर्णित प्रवाही भक्ति करनेवालेके साथ भी मेल खाते हुवे लगते हैं. फिरभी यहां वर्णित प्रावाहिकी भक्ति करनेवाला अधिकारी अपने कृत्याकृत्य या धर्माधर्म विवेकसे

वर्जित होनेपर भी स्वकर्तव्य या स्वधर्म के निर्धारणार्थ कण्ठोक्ततया वेदादिशास्त्रोंको प्रमाण कर चलनेकी मनोवृत्तिवाला भ्रान्त है. अर्थात् वह दुष्पुर काम दम्भ मान मद या मोह के वश अशुचिव्रतवाला असद्ग्राही अधिकारी नहीं है. ऐसे बन जानेकी पूरी सम्भावनाके बावजूद. निष्कर्षतया दैवी सृष्टिके अन्तर्गत जो प्रवाहपुष्टि मर्यादापुष्टि पुष्टिपुष्टि रूपी पुष्टिसृष्टिके अवान्तर प्रभेद हैं उन्हें ही लक्ष्यमें रख कर प्रस्तुत ग्रन्थ निर्मित हुवा लगता है.

यह बुद्धिगत कर पायें तो 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थोक्त पुष्टिसृष्टिके अवान्तर प्रभेदकों तथा प्रस्तुत ग्रन्थनिर्दिष्ट प्रभेदक के बीच तारतम्य सुस्पष्टतया दृष्टिगत होता है. यह दूसरा विचारणीय विषय बन जाता है.

समाधानार्थ, परन्तु, 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' और 'भक्तजीवन' के बीच सूत्र और उक्तानुक्तचिन्तारूप वार्तिक होनेका सम्बन्ध मान्य रख कर एकवाक्यता प्रस्थापित करनेका प्रयास करना चाहिये. यह, क्योंकि, प्रभुचरणनिर्मित ग्रन्थ हो तो मार्गके उभयाचार्यशाली होनेके अनुरोधवश इस ग्रन्थकी भी एकवाक्यता साधनी सर्वथा अपरिहार्य बन जाती है. एतदर्थ प्रभुचरणकृत 'भक्तिहंस' ग्रन्थमें भक्तिके निषिद्ध लौकिक कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय उपासनामार्गीय प्रवाहमार्गीय मर्यादामार्गीय की तरह पुष्टिमार्गीय साधनावस्था तथा फलावस्था के जो अनेक प्रकारोंकी विवेचना की गयी हैं, उन्हें यहां अनुसन्धेय बनाया जा सकता है.

संक्षेपमें प्रवाहपुष्टि और मर्यादापुष्टि के प्रभेदोंके 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थमें अनुक्त अधम प्रकार तथा पुष्टिपुष्टि जीवकी साधनावस्थाके क्रमिक उत्तरोत्तर उत्कर्षप्राप्तिके उत्तम प्रकारोंका प्रतिपादन यहां अभिलषित है. 'सर्वनिर्णयसाधनप्रकरण' 'शिक्षाश्लोकी' 'कृष्णाश्रय' 'सिद्धान्तमुक्तावली' 'सिद्धान्तरहस्य' 'भक्तिवर्धिनी' एकादशस्कन्धीयसुबोधिनीगत पुष्टिभजनप्रकार आदि अनेक ग्रन्थोंकी एकवाक्यता दरसाते हुवे 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'ग्रन्थमें प्रतिपाद्य मिश्रपुष्टिके त्रैविध्यके बारेमें वहां अनुक्त प्रक्रिया समझाना इस ग्रन्थका निगूढ़ तात्पर्य लगता है. यों यह प्रभुचरणकी ही रचनासामर्थ्यका लिंग लगने लगता है— **"रहस्यं परमं च एतत् पवित्रं परमाद्भुतं... कल्याणं भक्तिजीवनम्!"**

अतएव प्रस्तुत प्रकरण ग्रन्थका 'भक्तिजीवनम्' अभिधान भी भक्तिभाव दृढीकरणार्थ जीवनका प्रकार अथवा दृढभक्तिभाववाले अधिकारीका जीवनप्रकार ऐसे अभिप्रायवश स्वीकारना उचित लगता है. यों इस प्रकरणग्रन्थके प्रकरणार्थका द्योतन ग्रन्थाभिधानद्वारा प्रकट होता माना जा सकता है. अतएव यहां आसुरी सृष्टिके अन्तर्गत जो प्रवाही जीव हैं उनकी मीमांसा नहीं प्रत्युत पुष्टिसृष्टिमें प्रकट होनेवाले कालप्रवाहवश आसुरीभावावेशसे कैसे बचें ऐसे विशुद्ध पुष्टिमार्गने अनुसरणका उपदेश ही अभिप्रेत है.

अस्तु. चिरञ्जीवी श्रीशरद् गोस्वामी द्वारा आयोजित पुष्टिफलविचारसंगो-ष्ठीमें इसे सानुवाद सोत्थानिका सम्पादित कर प्रस्तुत करनेके आत्मतोषके

साथ-साथ पूर्वकालीन प्रकाशक और वर्तमानकालीन सभी सहयोगप्रदान करनेवालोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुवे इस आलेखका उपसंहार करना चाहता हूं.

वन्दे श्रीप्रभुचरणं मार्गेऽस्मिन् भक्तिजीवने हेतुम्।
पुष्टि पथि पुष्टि भक्तेः पुष्टिप्रभु प्रेष्ठतैक रतम्॥

सम्पादक : गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरजी

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ अस्मत्कुलं निष्कलंकम् ॥

(श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं स्वरूपवर्णनम्)

नमः पितृपदांभोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात् ॥
अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम् ॥१॥
वामजान्वंताःश्रितातिवक्रदक्षिणजानुकम्/(वक्रेतरजानुकम्) ॥
एतत्संप्राप्यसौभाग्यं विचित्रमणिभूषणम् ॥२॥
नखचंद्रमहःक्षिप्तभक्तसंतापसंतति ॥
विचित्रभावसंतानविचित्रीकृतमानसम् ॥३॥
दक्षिणपदतलपद्मं वामपदस्य वामतः प्रकटम् ॥
सौन्दर्यं किमपितरां प्रकटयति प्रेमवल्लभम्/(प्रेमवल्लभ्यम्) ॥४॥
विकसितशारदकमलोदरमदहरणेऽपि तत्र पद्मांकम् ॥
वहता निरवधि रसता निवेद्यते स्वीयभक्तेषु ॥५॥
भक्तार्तिहरणे कांचिन् मर्यादां नैव मन्यते ॥
इति ज्ञापयितुं वज्ररेखां धारयति स्फुटाम् ॥६॥
अनुग्रहानिलो यत्र तत्सांमुख्यं भजन् त्यजन् ॥
अन्याशां राजते भक्ते पदमेवमिति/(भक्तपदमेवमिति) ध्वजम् ॥७॥
धारयन् ज्ञापयत्येषः त्यक्तभक्तान्यदिक् प्रभुः ॥
अतएव हि सत्सेव्यो/(संसेव्यो) निर्दोषगुणविग्रहः ॥८॥

युग्मम् -

एतत्पदपंकजमधुमत्तस्यायं निसर्गएवासीत्/(एवाभूत्) ॥
नेतरभावं भजते यदंकुशो नित्यमेवास्ति ॥९॥
कदाचिद् विविधा लीलाः कर्तुं भक्तैः सह प्रभुः ॥
एवंभूतो वादयति वेणुमिष्टं करोति च ॥१०॥
प्रपदोपरिसंचारीचारुपीतांतरीयकः/(चारुपीतांबरावृतम्) ॥

गुंजद्भ्रमद्भ्रमरयुग्वनमालातिसुंदरम् ॥११॥
विविधरूपसुचारुसुगंधयुङ्मृदुलपुष्पचयैर् अतिसुंदरम् ॥
ग्रथितमध्यमदेशमतिप्रियाकरयुगेन हृदि स्रजि कामये ॥१२॥
ग्रीवोरःस्थलकटितटकांचीजानुप्रपदयोः सततम् ॥
विहरंती वनमालासक्तासीदलिकुलैर् मत्तैः ॥१३॥
गंभीरनाभिविलसत्कांचीदामलसन्मणीन् ॥
स्वरुचा रोचयन्नन्यानथाकल्पान्बभौ प्रभुः ॥१४॥
त्रिगुणानिलसंचारचलत्प्रांतातिसुंदरम् ॥
उत्तरीयं बिभ्रदंसे शुशुभे नितरां/(शुशुभेऽतितरां) हरिः ॥१५॥
विविधमहामणिखचितैः परितो मुक्ताफलावलिग्रथितैः ॥
वलयांगदकंकणचयसकलांगुलिभूषणैः रेजे ॥१६॥
कटच्चा कुटिलया कांचिद् भुवनत्रयमोहिनीं ॥
तनोति सुषुमा नाभ्यां सह साम्येपि दुर्लभाम् ॥१७॥
रसभरभरितं पात्रं नामितमन्यत्र तं रसं कर्तुम् ॥
एकत आनतम् उन्नतम् एकत इह दृश्यते सर्वैः ॥१८॥
कटितटभावरसानां व्रजांगनाहृत्सुपूरणे सापि ॥
अभवत् तथैव हृष्टा दृष्टा परम् उपपद्यते कांच्या ॥१९॥
वेणुरवानुगया नवनवचापल्यं प्राप्तवत्योच्चैः ॥
व्रजतरुणीमानसधनसंपन्नयाभूज्जगज्जडवत् ॥२०॥
नयनांबुजसौन्दर्यं मनसां वचसाम् अगोचरः/(अगोचरं) सत्यम् ॥
व्रजसुंदरिनयनमनोऽनुभवैकगतं परं हृद्यम् ॥२१॥
तत्रापि भावगर्भं तरलतरं प्रियतमामुखांभोजे ॥
स्थगितं भवदरूणतरप्रांतं प्रकटानुरागमिव/(प्राकट्यतोऽनुरागमिव) ॥२२॥
विचित्रवेणुतानाब्धितरंगांदोलितांचलम् ॥
स्थिरं वा तरलं वेति नैवाभूद् अवधारितम् ॥२३॥
स्मितामृतभरेणात्मभक्तहृत्प्राणपोषणम्/(प्राणपोषकम्) ॥
तत्रैव लयहेतुर् वा तेषामिति न वेद्म्यहम् ॥२४॥
भ्रूचापःसंधितः कर्णावध्याकृष्टः प्रियाहृदि ॥

विद्धः प्राणानाजहार स्वस्मिन् अस्मिन् दया न हि ॥२५॥
स्मितकोटिल्यचापल्यारुणिमामृतसिंधुषु ॥
मग्नाः कथंचिद् जीवन्ति भक्तास् तत्तत्स्वभावतः ।२६॥
शृंगाररससर्वस्वं भक्तभावामृतावृतिम्/(भावामृतावृतम्) ॥
अनुरागचयं ताराश्चैत्यापांगैर् बिभर्त्यसौ ॥२७॥
सालिकुलं कमलकुलं जितं निजाकारमात्रतो जगति ॥
प्रकटातिगूढरसभरभरितो अभवत् कुसुमशरकोटिः ॥२८॥
स्निधता मुग्धता वापि चातुरी सहजापि वा ॥
नैव वर्णयितुं शक्यानुभवंतीभिरप्यहो ॥२९॥
मन्ये गोकुलतरुणीनवनवभावाः स्वरासरसंजाताः ॥
रतिरससुधाब्धिपतितप्लवे प्लवंते (अतिसर्ग)/निसर्गमधुरतरा॥३०॥
सन्मुखप्रेक्षणेऽपांगप्रेक्षणे च यथा रसः ॥
तथारुणाभी रेखाभिर् ज्ञापयत्यंबुजेक्षणः ॥३१॥
विरलारुणरेखाभिः सितगर्भस्य नेत्रयोः ॥
आविर्भवति या शोभा तां न वक्तुं क्षमा रमा ॥३२॥
पक्ष्माणि तरुणीभावानानेतुं नयनाब्जयोः(चरणाब्जयोः) ॥
करांगुलीचयाभानि भासंते परितो परितः प्रभोः ॥३३॥
अतिसारस्यतो नेत्रे सरसः परितोऽभवत् ॥
रसांकुराः पक्ष्मरूपा भासंते सुषुमास्पदाः ।३४॥
आदायादाय भक्तानां भावान् अतिमनोहरान् ॥
निमेषामिषतः स्वांतसंचयं कुरुतो मुदा ॥३५॥
स्वतः समर्थमप्येतत् त्रिलोकीमोहने बत
स्मितं सहायं संप्राप्य यत्करोति न वेद्मि तत् ॥३६॥
रसपूरैः प्लावयति स्वजनविवेकत्रपाधृतिरथवा/(धृतिस्त्वथवा)॥
तानेव तद्रसाब्धिषु मग्नान् कुरुते तदैवैतत् ॥३७॥
एतत्कार्यस्य भवने प्रतिबन्धेऽपि चेश्वरः ॥
न शक्तो प्रतिबध्यो यत् तत्स्वभावस्वभावतः ॥३८॥
तत्रापि चेत् साहायोऽभूत् कलवेणुस्वनस्तदा/(उदारो वेणुनिःस्वनः)॥

त्रिभंगस्य त्रिजगति न जाने कीदृशी दशा ॥३९॥
तिष्ठत्वन्यकथैतादृक्स्वरूपं प्रतिबिम्बितम् ॥
क्वचित्पश्येत् स्वयं नाथ! कां दशा नु तदा भजेत् ॥४०॥
प्रायो न दर्शनापेक्षा यत्स्वयं तद्रसात्मकः ॥
प्रियाहृदयनेत्रेषु निरुद्धोस्ति सुनायकः/(स नायकः) ॥४१॥
एतत्संदर्शनेतु स्यात् प्रमदाभावएव हि ॥
तत्तापशामकोप्येषः कृष्णएवास्ति नापरः ॥४२॥
अथवा तद्रसात्मा तद्दर्शनाददतितोषितः/(तद्दर्शनेनातिपोषितः) ॥
भवति स्वप्रियावृंदवृतोऽयं गजराडिव ॥४३॥
कदाचिदथवा प्रेष्ठवियोगार्त्या/(प्रेष्ठो वियोगार्त्या) तदात्मकः ॥
तासामाविर्भवेद् भावैरेव तां शामयत्यपि ॥४४॥
दृष्ट्यापि रसरूपत्वं मयि जानंतु मामकाः ॥
तदर्थमाविष्कुरुते त्रिभंगं भक्तलोचने ॥४५॥
रसात्मकं स्फुटं स्वस्मिन् भक्तैर् नैवानुभूयते ॥
तदर्थमाविष्कुरुते त्रिभंगं भक्तलोचने/(भक्तलोचनम्) ॥४६॥
पुष्टिभक्तिं स्थिरीकृत्य मर्यादां च तदाश्रिताम् ॥
कृत्वा वृंदावनक्षोणीम् अयथापूर्वसंस्थितिम् ॥४७॥
हृदयं भक्तहृदये स्थिरं लोकान्निजान् परान् ॥
पुष्टिदिश्येव सुमुखान् कृत्वा संराजते प्रभुः ॥४८॥

युग्मम्

तथापि श्रीगोकुलेऽस्मिन्नाविर्भूतो विराजते ॥
अत्रत्यभक्तैर्/(अनन्यभक्तैर्) अनिशं पीयते तत्सुधासवः ॥४९॥
उद्बुद्धशृंगाररसस्वरूपो भूषणाद्यपि ॥
तादृगेवाखिलांगेषु बिभ्रत् संराजते प्रभुः ॥५०॥
श्रुत्याद्यगम्यं यद्रूपम् अल्पकेन मया कथम् ॥
तन्निरूपयितुं शक्यं तदीयत्वाद् भवेदपि ॥५१॥
स मत्प्रभुः सदाऽहं तु तत्पादाब्जरसोस्मि वै ॥
तत्प्रभावाद् यथाशक्ति वर्णयाम्यविचारयन् ॥५२॥

स्वतो मल्लोचनमनोवृत्तिर् वृन्दावनप्रभुः ।।
बृहद्वनप्रियः शश्वत् शिशिरीकुरुतात् स्वतः ।।५३।।
अहं तदीय इत्येषा तद्वार्ता रूपिता/(रुचिता) परं।।
तेन प्रसन्नो भवतु दासे श्रीविट्ठले प्रभुः ।।५४।।

।। इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं स्वरूपवर्णनं
संपूर्णम् ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

'अस्मत्कुलम्' इत्यस्य व्याख्यानम्

"अस्मत्कुलं निष्कलङ्कं कृष्णेनात्मसात्कृतम्॥" (श्रीललि.त्रि.-स्तो.मं) इति साक्षाद्द्विधाशृङ्गाररसात्मकविविधसञ्चितविचित्रभावसन्तानसुषुमा-दर्शः सौन्दर्यमाधुर्यलावण्यभावसाकारसञ्चयास्पदप्रेमासक्तिव्यसनस्नेहरोधनिरोध-वैराग्यत्यागानुरागादीनां मूलाधिष्ठानसंयोगवियोगाभ्यां स्वरूपलीलारसभावानुभ-वादीनाम् अद्भुतकर्मत्वस्य अखिलतात्पर्यपरिणामफलानुभविनां निजव्रजलीला-न्तर्वर्त्तिनां परमान्तरङ्गभक्तानाम् अनुभवप्रमया विप्रयोगाग्नेः नानात्वस्य अखिलांशगर्भोदरपरिशोधकतया तत्स्वरूपः श्रीकृष्णस्य अग्निः सन्मनुष्याकृतिः **"स एषः अग्निः वैश्वानरो यतः पुरुषः तं यो हैनमेव अग्निः वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषान्तः प्रतिष्ठितं वेद"** ( ) इति श्रुत्युक्त्या आकूता अखिलवास्तवविभूत्वस्य प्रदर्शकः अस्मिन्नेव अग्नौ अस्मत्कुलस्य शुद्ध्या सर्वाङ्गतासाहित्येन निवेदनादेव निष्कलङ्कत्वम् उपजायते.

नो चेत् सकलङ्कतायाः स्थितौ अस्मत्कुलाधिष्ठितायाम् आग्रहएव जायते. एतदाविष्कारार्थसमुदायं **"नमः पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात्"** (श्रीललि.त्रि.स्तो.मं) इति उक्त्या आकूताखिलतात्पर्यान्वयाभ्यन्तरे प्रद्योतितव-न्तः पितृचरणाः **यन्निवेदनाद्**इति. यस्मिन् अग्नौ सन्मनुष्याकृतौ स एषोऽग्निः वैश्वानरो. यतः पुरुषः पुरुषोत्तमः पुरुषविधं पुरुषाकारं स्थायिविप्रयोगरसात्मक-त्वाद्. **"वैश्वानरं पुरुषान्तःप्रतिष्ठितम्"** ( ) इत्यनेन पुरुषोत्तमस्वरूप-समूहरसरासात्मकानेकलीलास्वरूपानन्दावयवत्वेनापि आन्तरानुभवावयवधारिणं वेद इति अखिलाभिप्रायतात्पर्यवति, **"तदेव कदाचित् परमसौन्दर्यं स्वगतं करिष्यामीति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्ण"** (त.दी.नि.१।१). इति गूढाभिसन्ध्यन्तरितसमाहितार्थाखिला अद्भुतकर्मणि **"नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्"** (भाग.सुबो.का.१०।१।) इति अभिप्रायवर्त्मना अपि

द्विधा शृङ्गाररसनिखिलसम्पत्त्याश्रये निवेदनादेव अस्मत्कुलस्य निष्कलङ्कता निःप्रत्यूहा अस्त्येव सेत्स्यति च. परन्तु अत्र परीक्षानिर्बन्धो वर्तते चेद् उक्ताखिलानन्दपरमानन्दविभुत्वस्य नित्याश्रये साक्षात् मुखारविन्दवल्लभाग्नौ उक्तनिखिलभावार्थानुरोधात् तुल्यातिशयपरिवृढे अग्नौ उक्तानुपूर्व्या व्रजवल्लभा-चार्याणां स्थितिपूर्वकत्वाद् अस्मत्कुलस्य आत्मनिवेदनं स्यात् तदैव अस्मिन्नपि कुले तदग्न्यानन्दानुभवज - साधर्म्यसाङ्गतायाः प्रसम्भवात्, देहेन्द्रियप्राणान्तःकर-णधर्मादिष्वपि साक्षाद्भगवत्स्वरूपानुभवानन्दजविषयविशेषस्य निखिललीलारस-भावसाकाराकृतिमतः अतिव्याप्तेः प्राचुर्याद्, देहाद्यनुसन्धानविस्मृतिपूर्वकत्वाद्, विप्रयोगाग्निसान्निध्युग्रमहिम्ना भगवदनुभवाखिलवास्तवस्य प्रकृतेरेव सन्दर्शनात् भगवत्सार्धम्यमेव आपद्येत; यदि ऐश्वर्यादिगुणविभूतिसामग्र्यानन्दानुभवोद्रेकोद-र्कादिभिः भगवत्साधर्म्यं स्यात्. तदैव स्वयं सदानन्दः परमफलात्मकः श्रीकृष्णः स्वमुखाग्निकुलत्वं मत्वा स्वात्मसात्करोत्येव तत्र किं वाच्यम्! आत्मानन्द - परमानन्दस्वरूपलीलायाम् उत्तररसानुभवसमग्रवास्तववत्याम् आस्वादनिरोधविधौ तद्रसानुभवातिरिक्तानुसन्धानस्फूर्त्यादिकस्य त्यागं कारयित्वा विविधानुभवरसविदाम् अखिलभावपोषविषयं प्रदर्शयन् लोभ लालित्याद्भुतकर्म-स्वेव योजयति इति **"श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम्"** इत्यस्य भावार्थसमुदायस्य आनुपूर्व्या सम्बन्धो विज्ञेयः.

वस्तुतस्तु श्रीमन्मुखाग्निषु वैश्वानरवल्लभाख्यसद्रूपेषु आत्मनिवेदिनः कुलस्यैव श्रीकृष्णात्मरमणानन्दानुभवस्य साक्षात् सम्बन्धफलाप्तेः प्रौढ्यात् कुलस्यापि तथात्वाद् उक्तवन्तः पितृचरणाः **"नमः पित्तृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात्, अस्मत्कुलं निष्कलङ्कं श्रीकृष्णेन आत्मसात्कृतम्"** इति.

किञ्च उक्तनिखिलानन्दपरमानन्दरसात्मकसाकारब्रह्मणो विविधसञ्चित-विचित्रभावात्मकविभूतिसन्दर्भाश्रये साक्षात् शुद्धशुद्धरसात्मकरमणपुरुषोत्तममुखा-रविन्दवल्लभाग्नौ अग्निकुलस्य निवेदनसंस्कारपरिणामफलानुभूत्यभावात् साक्षा-न्मुखारविन्दाग्न्यानन्दसन्दोहसन्निकर्षस्यापि अभावात् निजविरहाग्नेः कुले **'अग्नि'**पदभावार्थस्य विनियोगाद् अग्निकुलत्वमेव न आपद्येत. अत उक्तं

''**यन्निवेदनात् अस्मत्कुलं निष्कलङ्कम्**'' इति. साक्षान् मुखारविन्दवल्लभाग्नौ अग्निकुलस्य आत्मनिवेदने सति आत्मेन्द्रियादिसंघातेष्वपि मुखारविन्दविप्रयोगवल्लभाग्नेः सन्निधेः अतिमात्रकत्वाद्; देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणधर्माणां स्वसत्ताया अपचयात्; केवल आनन्दाग्न्यतिमात्रकत्वाद् अग्निकुले निजानन्दानुभवाग्नेः प्राचुर्यमवेक्ष्यैव स्वयं सदानन्दः फलरूपः श्रीकृष्णः आत्माराम आत्मसात्करोति. याथातथ्येन आत्मनिवेदनस्य प्रतिकृतेः रसात्मकसाकारब्रह्मेति साकाराकृतिमत्या भगवदात्मकरमणएव उपयोगाद् अविनियोगाभावातिमात्रनिर्बन्धाद् अग्निकुलस्य कृष्णात्मानन्दानुभवाधीनभवनम् इति अग्निकुलस्य[२] परिणामफलं न तु उक्ताखिलाग्नेः आनन्दविभूते कुले सन्निवेशाभावे मुखारविन्दविप्रयोगवल्लभाग्निपदवाच्यत्वं भवति. न भवति इति अर्थः. कुतः? स्वयं पितृचरणाः सकलङ्कतां मुखारविन्दफलवियोगाग्न्यानन्दरहितां प्रव्यञ्जयन्तो निष्कलङ्कतां साक्षाद् द्विधा शृङ्गाररसात्मक - श्रीकृष्णास्य - वल्लभाग्न्यखिलानन्द - परमानन्दसम्पत्तिसाकारं जुषन्तीम् आयान्तीं च प्रद्योतयन्तः अस्यामेव '**अस्मत्**'पदप्रयोगात् स्वसम्बन्धसाङ्गतां सभाजयन्तः अवादिषु ''**नमः पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात्, अस्मत्कुलं निष्कलङ्कं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम्**'' इति.

ननु साधारणधर्मादिकोटिसाधर्म्यम् अधिष्ठाय आचचक्षिरे ''**अस्मत्कुलं निष्कलङ्कं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम्**'' इति चेत्, साधारणसाधर्म्येण '**अस्मत्**'पदविवक्षया कुले निष्कलङ्कत्वं स्यात् तदा स्वाग्निकुमारं प्रति एवं न वदेयुः शुद्धपुष्टि-मुखारविन्दभक्तिमार्गाचार्याः ''**यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन, तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत, सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम, न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्**'' (शिक्षापद्यानि १ - २) इत्यादिना. यतो मुखारविन्दफलानुभवाग्न्याभिमुख्यादेव स्वकुलस्य निष्कलङ्कता वागधीशवाग्विलासमुखारविन्दफलवियोगजपरमदैन्यभावामृतरसप्रसिक्ता आयाति. नो चेत् ''**सर्वथा भक्षयिष्यन्ति इति मतिः मम**'' स्वमते ईदृशनिर्बन्धस्य विद्यमानत्वातिमात्रकत्वात् च कथं स्वकुलस्य निष्कलङ्कता सेत्स्यति इति ज्ञापनाय उक्तं ''**यन्निवेदनात् अस्मत्कुलं निष्कलङ्कम्**''

इति. निवेदनप्रणालिका - परिणामफलपरीक्षा - पूर्वोक्तक्रमनिर्बन्धपूर्वकत्वादेव बोद्धव्या भवति प्रकटितसाक्षात्श्रीकृष्णमुखारविन्दफलवियोगाग्न्याचार्यमार्गसंश्रितैः विबुधैः. किञ्च विरहाग्नेः वंशस्यापि विरहाग्निमयत्वादेव विरहाग्निवंशत्वम् आपद्येत. ननु स्वास्यजलयोगाप्तौ स्वास्त्यजलयोगापत्तौ सत्यां कालप्रवाहएव संस्थां सूचयन्तः अवादिषु स्वयम् आचार्याः ''**तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत**'' इत्यादिना. यतो भगवद्धाम्नि भगवत्स्वरूपानुभवादिषु धर्मिधर्माभ्याम् अवयव्यवयवाभ्यां नित्याभियुक्तया रीत्या सामानाधिकरण्यमात्रकत्वमेव अस्ति तत्सामानाधिकरण्यविभुत्वेन सममेव कुलेऽपि अग्निकुलत्वं समाहितं श्रीमद्अग्निकुमारैः. यतः असमवायसम्बन्धानुरोधेन अन्वयव्यतिरेकनिर्बन्धातिमात्रकवत्ताया कुलोद्भवार्थता तस्याः संसारजनकत्वान् न अग्निकुलत्वे उपयोगः. ''**कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटम्**'' (सुबो.।१०।२६।का.१८) इत्यादिभिः वाक्यैः मुखारविन्दवल्लभाग्नेः कुलस्य वल्लभाग्निमयत्वातिमात्रकत्वात्, संसारजनककामोपाध्युपद्रवद्रवस्य असम्भवात्, केवलभगवद्विप्रयोगाग्निमयत्वाद् वल्लभाग्निमयत्वमेव आपद्येत. न अत्र सन्देहः.

एतत्क्रमाभावेन साक्षात्मुखारविन्दवल्लभाग्नौ तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रहे कुलव्याख्यैव नास्ति, कामोपाधिविशिष्टसंसारजनकत्वात्. ''**न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः, नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्मएव वा**'' (भाग.पुरा.१०।४६।३८) इत्यादिभिः वाक्यैरपि रसात्मकब्रह्मणः भगवतः आनन्दपरमानन्दाखिलसाकारसामग्रीमतो यथा सुतोद्भवस्य आभातिमात्रकत्वम् अस्ति. तथैव तन्मुखारविन्दाधिष्ठातुः वल्लभाग्नेरपि बोध्यं भवति तदीयैः. किञ्च सामानाधिकरण्यातिमात्रकस्य अभावे वैय्यधिकरण्यधर्मानुच्चरणपरिणतफलसन्दर्शनाप्तेः साम्प्रतत्वस्य प्रभासलीलायाम् आसुरव्यामोहजनकायां प्रतीति अभूत्. यतो वल्लभाग्निजैः अग्निकुमाराणां सूक्त्या आकूततात्पर्यतत्त्वविद्भिः परिवारैरपि श्रीमदग्निकुमाराणां सूक्त्यखिलभावार्थसमूहालम्बनस्य सर्वात्मभाववन्तः चेद् भक्ता भवन्ति तदैव अयं रसः प्राप्यो न अन्यथा इति अर्थः. गौरवगुणाखिलसामग्रीभिः सम्भिन्नस्य न तु ''**नीवीं प्रति**

प्रणिहिते च करे'' (सुभा.रत्न.कोश.१९।१६) इति न्यायेन. तदा स्ववस्त्रमोकार्थमपि तदनुसन्धानं वक्तुं कथं घटते? इत्थम्. सङ्गमभावएव स्वस्मिन् भगवतो अतिप्रीत्या स्वान्तरायासहिष्णुत्वभावनया इति बुद्ध्यस्व. अतएव प्रियेण बध्वाञ्जलिं मूर्द्धिन तद्भावपरीक्षैव कृता. उक्तभावेनैव चेद् एवं कृतं भविष्यति तदा दृष्ट्यान्तरायमपि दूरीकरिष्यन्ति इत्यादि भावार्थान्वयाब्जमार्त्तण्डांशुनिवहैः विभूषिताभिः अग्निकुमाराणां सूक्तिभिः निजफलप्राप्तिपरीक्षाविष्कारहेतुभूताभिः विविधानन्दपरमानन्दभावसम्पत्तिः साकाराकृतिमनोविषयविशेषम् आस्थायैव स्थेयम् आदरात्. ननु स्वास्योपद्रवोत्पादकां भावनाखिलसामग्रीम्. यतः सर्वोत्तमविवृतावपि मया एवमेव उदीरितम् अस्ति. **'वंश'**पदं पुत्रपरं ज्ञेयम्. कुतो हेतोः? रसात्मकब्रह्मणो भगवतः तथात्वे तथात्वकरणम् इति निर्बन्धात्. किञ्च, रासस्त्रीभावपूरितविग्रहाग्नेः सर्वत्र अग्निं लीनं जनयतः कुलस्यापि तथात्वाद् अग्निकुलत्वम् इति सर्वं सुस्थम्. यतो वैश्वानरे साक्षाद् भजनानन्दपुरुषोत्तममुखारविन्दफलरूपे आत्मनिवेदनस्य याथातथ्यविषयजविशेषसाकाराकृतिमतः प्रतिकृतेः उद्भवात् देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादीनां निवेदनात् पूर्वं व्यापारव्यासङ्गजविक्षोभसंयुजां परावृत्त्या स्वभावविजयस्य प्रतीतेः अखिलदेहेन्द्रियार्थविषयेषु साक्षात् मुखारविन्दफलानुभवविषयजविरहाग्नेरेव सन्दर्शनाद् अग्निकुलस्यापि अग्न्यात्मकत्वाद् भगवदात्मकत्वमेव आपद्येत. तत्कुलसंश्रितानां दैवजीवानामपि तथात्वभवनस्य अतिमात्रकत्वं वर्तते तदा तत्कुले किं वाच्यम्?

किञ्च, शुद्धशुद्ध - पुष्टिपुष्टिरसात्मकमुखारविन्दभक्तिमार्गाचार्येषु उक्तानुरोधविधिपूर्वकात्मनिवेदनाखिलसम्पत्तिसंस्काराभावे देहेन्द्रियादिसंघाते आत्मनो मुख्यतायामेव मुखारविन्दविरहाग्नेः अतिव्याप्त्यभावाद् अखिलेन्द्रियविषयार्थेषु भगवदनुभवस्यैव अप्रतीतेः स्वभावाविजयस्यापि सन्निधेः आत्मनिवेदनविधावेव आदौ अशुद्धतायाएव प्रतीतिः भवति. हरेः चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् **''उत्कर्षश्चापि वैराग्यं हरेरपि हरिर्यदि, श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदि, ज्ञानोत्कर्षस्तदैवस्यात् स्वभावविजयो यदि''** (भाग.सुबो.१०।१८।कारि.-

२६) इत्यादिभिः वाक्यैः मूढमतीनां हरिणीनाम् आत्मनिवेदनपरिणामफलानुभवसम्पत्तौ सत्यां स्वभावविजयनिश्चितार्थे अग्निबीजामृतबीजात्मकं **'रव'**पदमिति मुखारविन्दाधिष्ठातुः अग्नेरेव अखिलानिर्वचनीया साधारणसर्वभवनसामर्थ्यसम्पत्त्या समं सम्भिन्ने **''मणिधरः क्वचिदागणयन्गा''** (भाग.पुरा.१०।३५।१८) इत्यारभ्य **''गोपिका इव विमुक्तगृहाशा''** (भाग.पुरा.१०।३५।१९) इत्यन्तं मदुक्तस्वातन्त्र्यकविवृत्तिगूढाभिसन्ध्यन्तरितनिखिलतात्पर्यतत्त्ववति साक्षाद्भजनानन्दस्वतन्त्रविरहानुभववास्तवानुरूपाभिव्यञ्जके स्वभावस्य परावृत्तौ अयमेव अर्थः अवसीयते. साक्षान्मुखारविन्दाधिष्ठातरि वल्लभाग्नौ आत्मनिवेदनमेव आदौ न जातं स्थितं कस्मात् देहेन्द्रियाखिलविषयार्थविक्षोभसञ्चयसाहित्येन आत्मनः पूर्वाध्यासव्यापारव्यासंगविवृत्तितः यतो यत्र हरिणीनाम् अग्निबीजामृतबीजात्मकरवानुरागसन्निकर्षात् मुखारविन्दानन्दपरमानन्दाग्नौ आत्मनो निवेदनस्य साङ्गताया बाह्याभ्यन्तरभेदेन स्वभावस्य परावृत्तिपूर्वकत्वात् तासां प्रणयावलोकैः केवलद्विधाशृङ्गाररसोद्गारिभिः विरचिताया पूजां विप्रयोगस्थायिरससर्वात्मभावस्वरूपानुभवादिभिः अभितो बहिरान्तरयोः इङ्गिताः. तस्याः शुद्धशुद्ध - पुष्टिपुष्टिफलमार्गानुरोधेन भगवदात्मनि अखिललीलारसभावसाकाराश्रयएव विनियोगस्य प्रतीतिः अभूत्. तदा प्रकृतेऽपि तथात्वस्य अभावे वाच्यं कथं श्रीमन्मुखाग्निकुले आनन्दाग्निमयातिमात्रकत्वं स्यात्. भावसन्तानपूरितविरहाग्नेः कुलस्यापि तथात्वात् तथात्वम्. यतो अत्र श्रीमन्मुखाग्न्यन्वयं प्रति मदीया प्रार्थना येन केन प्रकारेण साक्षाद् भजनानन्दरमणप्रियविरहाग्नौ स्थायिविप्रयोगरससर्वात्मभावमूलाखिलविभुत्वस्य सर्वभवनसामर्थ्यप्रतियोगिमूलस्थाने स्वात्मनिवेदनपूर्वकत्वात् विप्रयोगाग्न्यानन्दमयातिमात्रकत्वाद् अग्न्यात्मकत्वभवनमिति परम् उपपन्नम्. तेनैव अग्न्यात्मकत्वेन श्रीमद्वल्लभाचार्याविचारितजीवानां साक्षाद् रसात्मकपरब्रह्म[3]सम्बन्धकरणानुरोधरूपया शुद्धशुद्ध - पुष्टिपुष्ट्यानन्दानुभवपद्धत्या ब्रह्मसम्बन्धं कुर्वन्तु इति पुष्टिपुष्टिभक्तिमार्गाचार्याणाम् अभीष्टं ज्ञात्वैव मया अत्र किमपि स्वकीयानां निःश्रेयसाय दैवजीवानां शुभाय च श्रीमदग्निकुमाराणां परमकरुणया भावार्थो निखिलभावार्थसन्दर्भनिष्कर्षरूपः **''अस्मत्कुलं निष्कलङ्कम्''** इत्यस्य विवृतेः सारसिद्धान्तवास्तवः

समर्थितोऽस्ति.

इति श्रीश्रीपितृचरणैकतान श्रीगोकुलनाथविरचिता
''अस्मत्कुलनिष्कलङ्कम्'' इत्यस्य विवृतिः समाप्ता.

(सर्वोत्तमबृहट्टीकाकर्तुः इयं चतुर्थात्मजनाम्ना न पुनः चतुर्थात्मजानामेव भाषासाम्याद्)

॥ पाठभेदः ॥

१. विप्रयोग इति ख-ग.पाठः.

२. आग्निकुलस्य इति ख.पाठः.

३. रसात्मकब्रह्म इति ख-ग.पाठः.

माण्डवी = क, कामवन = ख, कोटा = ग.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणप्रकटित

॥ सेवाश्लोकाः ॥

नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम् ॥
लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्[१] ॥१॥

प्रातरुत्थाय सविधानं स्नात्वा श्रीमदाचार्यान् स्मृत्वा भगवन्मन्दिरं प्रार्थयित्वा नमस्कृत्य मार्जनादिकं कुर्यात्.

भगवद्धाम! भगवन्! नमस्तेऽलंकरोमि तत् ॥
अंगीकुरु हरेरर्थे क्षान्त्वा पादोपमर्दनम्/(पादोपस्पर्शनम्)[२] ॥२॥
मार्जनात् कृष्णगेहस्य मनोविक्षेपकं रजः ॥
नाशम् एति तदर्थं च मार्जयामि तथास्तु मे ॥३॥
आत्मनो ज्ञानरूपस्य दुरितस्य क्षयाय हि ॥
करोमि सेकोपलेपौ त्वद्गृहे गोकुलेश्वर! ॥४॥

ततः सिंहासनास्तरणं कुर्यात्.

सिंहासनं मत्हृत्पद्मरूपं[३] सज्जीकरोम्यहम् ।
श्रीगोपीशोपवेशार्थं तथा तद्योग्यतां भज ॥५॥

ततः पात्राणि सज्जीकुर्यात्.

इदं पानीयपात्रं हि व्रजनाथाय[४] कल्पितम् ।
राधाधरात्मकत्वेन भूयात् तद्रूपमेव तत् ॥६॥
स्वामिनीकररूपाणि भावस्वर्णमयानि वै ॥
श्रीकृष्णभोज्यपात्राणि सन्तु ते मत्कृतानि हि ॥७॥

ततः शय्यातो विज्ञाप्य उत्थापयेत्.

उदेति सविता नाथ! प्रियया सह जागृहि ॥
अंगीकुरुष्व मत्सेवां स्वकीयत्वेन मां वृणु ॥८॥

ततः सिंहासने उपवेशयेत्.

भावात्मकतया क्लृप्ते स्वोत्तरीयात्मकासने ॥
सिंहासने गोकुलेश! कृपयोपविश प्रभो! ॥९॥

ततो नमस्कुर्यात्.

यादृशोऽसि हरे! कृष्ण! तादृशाय नमोनमः ॥
यादृशोऽस्मि हरे! कृष्ण! तादृशं मां हि पालय ॥१०॥
नमो नमोस्तु ते[१] राधे श्रीकृष्णरमणप्रिये ॥
स्वपादपद्मरजसा सनाथं कुरु मच्छिरः ॥११॥

ततः श्रीमदाचार्यान् नमस्कुर्यात्.

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः ।
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर् मुहुः ॥१२॥

ततः पात्रेषु सामग्रीः संस्थाप्य विज्ञाप्य समर्पयेत्.

व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयन्त्रे[२] पात्रे च तन्मयम् ॥
स्थापितं ते भोजनार्थं (योग्य)/भोग्यभोज्यान्नसम्भृतम् ॥१३॥
भुंक्ष्व भावैकसंशुद्धदधिदुग्धादिमोदकान् ॥
प्रियं ते नवनीतं च राधया सहितो हरे! ॥१४॥
भाषणं मा त्यज प्राणप्रिये! गोपवधूपतेः ॥
त्वन्मुखामोदसुरभिभोज्यं भुंक्तेऽधिकं प्रियः ॥१५॥
राधाधरसुधापातुः किमन्यन्मधुरायतिम् ॥
यन्निवेद्यं तदप्येतन्नामसम्बन्धतो भवेत् ॥१६॥
प्रियामुखाम्बुजामोद-सुरभ्यन्नम् अतिप्रियम् ॥
अंगीकुरुष्व गोपीश! तदीयत्वान्निवेदितम् ॥१७॥

निजास्ये नवलास्येऽस्मिन् चारुभोज्यं[३] मदर्पितम्।।
भुंक्ष्व श्रीगोकुलाधीश! स्वाधिव्याधीन् निवारय।।१८।।
यशोदारोहिणीभावाद् बलेन सह बालकैः।।
भुक्तं यथा बाल्यभावप्राकट्याद् भुंक्ष्व मे तथा।।१९।।
श्रीराधे! करुणासिन्धो! श्रीकृष्णरसवारिधे!।।
भोजनं कुरु भगवति भुज्यतां प्रीतिपूर्वकम्[१]।।२०।।
त्वदीयमेव गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पितम्।।
गृहाण राधिकायुक्तो मयि नाथ! कृपां कुरु।।२१।।

ततो जलम् समर्पयेत्.
प्रियारतिश्रमपरिमिलितं वारि यामुनम्।
समर्पयामि तत्पानं कुरु श्रीकृष्ण! तापहृत्।।२२।।

ततः आचमनं कारयेत्.
कुरुष्वाचमनं कृष्ण! प्रिययामुनवारिणा।।
स्नेहात्मदन्तसक्तान्यभावापाकरणात्मकम्[२]।।२३।।
स्नेहाद् रतिश्रमजलप्रोञ्छद् राधाकराञ्चलम्।।
स्मृत्वानन्दभरान् नाथ! कुरु श्रीमुखमार्जनम्।।२४।।

ततः ताम्बूलम् समर्पयेत्.
ताम्बूलं स्वप्रियावक्त्रसौरभ्यरससंयुतम्।।
गृहाण गोकुलाधीश! तत्कपोलाभपाण्डुरम्।।२५।।

ततः आरार्तिकं कृत्वा शृंगारार्थं विज्ञाप्य स्नानादिकं कारयेत्.
प्रियांगसंगसम्बन्धिगन्धसम्बन्धतो भवेत्।।
कदाचित् कस्यचिद् भासो ह्यतः स्नानं समाचर।।२६।।
स्नेहात्मगन्धतैलेन प्रियागन्धातिचारुणा।।
अभ्यक्तो मंगलास्नानं कुरु गोकुलनायक!।।२७।।

स्नेहात्मगन्धतैलस्य लेपनाद् गोकुलाधिप!।।
वितरात्यन्तिकीं भक्तिं मयि स्नेहात्मिकां विभो।।२८।।
श्रीसुगन्धोद्वर्तनेन निशाश्रमनिवारिणा।।
उद्वर्तितः कृष्ण! भक्तिदानेन कुरु मे कृपाम्।।२९।।
दिवा त्वद्वनगमनस्मरणात् तापभावनात्/(तापभावतः) ।।
गोपिकास्पर्शनोष्णेन वारिणा स्नापयाम्यहम्।।३०।।
स्नानार्द्रतानिवृत्त्यर्थं प्रोञ्छितांग विभो! मम।।
दूरीकुरुष्व गोपीश! कृपया लौकिकार्द्रताम्।।३१।।
गोपिकावद्विप्रयोगे कालक्षेपाय सर्वथा।।
कृष्णमूर्तिं प्रियां कृत्वा भजेत् तत्तत्स्वभावतः।।३२।।
भावोत्थविप्रयोगेऽपि न स्थातुं शक्यते यतः।।
अतः स्वहृद्गतैर् भावैः भूषयेत् तं मनोमयम्।।३३।।
व्रजेश! रसरूपात्मन् शृंगारं रचयाम्यहम्।।
स्वीकुरुष्व त्वदीयत्वात् स्वप्रियावत् कृतं निशि।।३४।।
कुचकुंकुमगन्धाढ्यम् अंगरागम् अतिप्रियम्।।
श्रीकृष्ण! तापशान्त्यर्थम् अंगीकुरु मदर्पितम्।।३५।।
प्रियांगतुल्यवर्णानि वस्त्राणि व्रजनायक!।।
समर्पयामि कृपया परिधेहि दयानिधे!।।३६।।
भूषणान्यवतारात्मकान्येतान्यर्पयामि ते।।
प्रियांगतुल्यकान्तीनि प्रसीद व्रजसुन्दर!।।३७।।
प्रियानासाभूषणस्थबृहन्मुक्ताफलाकृतिम् ।।
समर्पयामि राधेश! गुञ्जाहारम् अतिप्रियम्।।३८।।
मिलितान्योन्यांगकान्तिचाकचक्यसमं विभो!।।
अंगीकुरुस्वोत्तमांगे मुकुटं केकिपिच्छजम्।।३९।।
गोपस्त्रीदृक्स्थितं श्रीमच्छृंगारात्मकम्[१] अञ्जनम्।।
शोभार्थं मातृवद्दत्तम् अंगीकुरु कृपानिधे[२]!।।४०।।
मुखाब्जमकरन्दाप्तिलोभेन रसभावतः।।
मधुपायितचित्तानि व्रजरत्नानि तानि ते।।४१।।

कुसुमान्यर्पितानीश प्रसीद मयि सन्ततम्॥
कृपासंहृष्टदृग्वृष्ट्या तदंगीकृतिशोभितः॥४२॥
प्रियाकारणदौत्यैकभावेनातिप्रियं सदा॥
वेणुं धृत्वाधरे कृष्ण! पूरय स्वामृतस्वनैः॥४३॥
प्रियानखात्मकादर्शे विलोक्य वदनाम्बुजम्॥
व्रजाधीश! प्रमुदितः कृपया मां विलोकय॥४४॥

एवं शृंगारं कृत्वा सिंहासने उपवेश्य सामग्रीम् अग्रे स्थाप्य ''व्रजस्त्रीकर...''इत्यादिसार्धपद्येन ''भाषणम्''इत्यादिपद्यद्वयेन च विज्ञाप्य

(व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयन्त्रे पात्रे च तन्मयम्।
स्थापितं ते भोजनार्थं भोग्यभोज्यान्नसम्भृतम्॥
भुंक्ष्व भावैकसंशुद्धदधिदुग्धादिमोदकान्।
प्रियं ते नवनीतं च राधया सहितो हरे!॥
भाषणं मा त्यज प्राणप्रिये गोपवधूपतेः।
त्वन्मुखामोदसुरभिभोज्यं भुंक्तेऽधिकं प्रियः॥
राधाधरसुधापातुः किम् अन्यन्मधुरायतिम्।
यन्निवेद्यं तदप्येतत् नामसम्बन्धतो भवेत्॥)

अनेन पद्येन समर्पयेत्.

गोपिकाभावतः स्नेहाद् भुक्तं तासां गृहे यथा॥
मदर्पितं तथा भुंक्ष्व कृपया गोपिकापते!॥४५॥
स्वर्णपात्रे पयःफेनपानव्याजेन सर्वतः॥
अभ्यस्यति प्राणनाथः प्रियाप्रत्यंगचुम्बनम्॥४६॥
गोपार्पितपयःफेनपानं यद्भावतः कृतम्॥
मदर्पितपयःफेनपानं तद्भावतः कुरु॥४७॥

ततः पुनः आचमनादिकं कारयित्वा पायसादिकम् अर्पयेत्.

व्रजस्त्रीकृतशृंगारानन्तरं तद्गृहे यथा।
अभोजि पायसं ताभिः सह भुंक्ष्व तथैव मे॥४८॥

ततः पुनः आचमनादिकं पूर्ववत्.

अमंगलनिवृत्त्यर्थं मंगलावाप्तये तथा॥
कृतम् आरार्तिकं तेन प्रसीद पुरुषोत्तम![१]॥४९॥

ततो अग्रे क्षणं क्रीडार्थम् अक्षादीन् क्रीडोपस्करान् निवेदयेत्.

क्रीडारूपात्मकैरक्षैः क्रीडार्थं स्थापितैः प्रभो!॥
क्रीडां कुरु महाराज! गोपिकाभिश्च राधया॥५०॥

ततो राजभोगं समर्पयेत्.

श्रीमद्राधांगसौगन्ध्यागरुधूपार्पणाद् विभो!॥
भावात्मकृतसामग्री[१] - भोगेच्छां प्रकटीकुरु॥५१॥
दीपः समर्पितो भोग्यरूपान्नार्थप्रदीपने[२]॥
तद्दीपनेन चोद्दीप्तभावो भोजनम् आचर॥५२॥
व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयन्त्रे[३] पात्रं च तन्मयम्॥
स्थापितं ते भोजनार्थं भोग्य[४]भोज्यान्नसम्भृतम्॥५३॥
स्वर्णपात्रेषु दुग्धादि दध्याद्यं राजतेषु च॥
मृत्पात्रेषु रसालाद्यं भोज्यं सद्रोचकादिकम्॥५४॥
राजते नवनीतं च पात्रे हैमे सिता तथा॥
यथायोग्येषु पात्रेषु पायसं व्यञ्जनादिकम्॥५५॥
सूपोदनं पोलिकादि तथान्नं च चतुर्विधम्॥
भुंक्ष्व भावैकसंशुद्धं राधया सहितो हरे!॥५६॥
कम्बुनामातिप्रियश्रीशंखान्तर्गतवारिणा॥
दृष्ट्यादिदोषाभावाय सामग्री प्रोक्षिता विभो!॥५७॥
प्रक्षिप्ता तुलसी तेऽति प्रियगन्धा तथैव च॥
कुरुष्व तेनातितुष्टो भोजनं व्रजनायक॥५८॥

''भाषणं मा त्यज''इत्यादिपद्यचतुष्टयेन समर्पयेत्.

(भाषणं मा त्यज प्राणप्रिये गोपवधूपते:।
त्वन्मुखामोदसुरभिभोज्यं भुंक्तेऽधिकं प्रिय: ।।१।।
राधाधरसुधापातु: किमन्यन्मधुरायतिम् ।।
यन्निवेद्यं तदप्येतन्नामसम्बन्धतो भवेत् ।।२।।
प्रियामुखाम्बुजामोद-सुरभ्यन्नम् अतिप्रियम् ।।
अंगीकुरुष्व गोपीश! तदीयत्वाद् निवेदितम् ।।३।।
निजास्ये नवलास्येऽस्मिन् चारुभोज्यं मदर्पितम् ।।
भुंक्ष्व श्रीगोकुलाधीश! स्वाधिव्याधीन् निवारय ।।४।।)

तत: श्रीमदाचार्येषु समर्पयेत्.

स्वार्थप्रकटसेवाख्यमार्गे श्रीवल्लभप्रभो! ।।
निवेदितस्य मे भोज्यं[१] स्वास्ये कुरु हुताशन! ।।५९।।

ततो यथावद् आचमनादिकं कारयित्वा ताम्बूलम् अर्पयेत्. ततो भोजनपात्रस्थलमार्जनं कुर्यात्.

गोकुलेश तवोच्छिष्टलेपात् त्वत्पात्रमार्जनात् ।।
त्वत्सेवान्तरधर्मेषु रतिर् भवतु निश्चला ।।६०।।

तत: चरणयो: तुलसीं समर्पयेत्.

प्रियांगगन्धसुरभिं[१] तुलसीं चरणप्रियाम्[२] ।।
समर्पयामि मे देहि हरे! देहम् अलौकिकम् ।।६१।।
प्रसीद पूजितो भक्त्या तुलस्या प्रियगन्धया ।।
निष्किञ्चनाधीश! नान्यत् कर्तुं शक्नोमि सर्वथा ।।६२।।

तत: पादपीठिकादिकम् अर्पयेत्.

हृत्पंकजात्मकं स्वर्णपादपीठं समर्पितम् ।
पादौ धृत्वा गोकुलेश! हृत्तापं समपाकुरु ।।६३।।
भक्तार्थाविर्भूतरूपकृष्ण! ते चरणाब्जयो: ।।

सर्वाशुभविनाशार्थं न्यस्त: पुष्पाञ्जलि: शुभ: ।।६४।।

''अमंगलनिवृत्त्यर्थम्''इत्यनेन आरार्तिकं कारयेत्.

अमंगलनिवृत्त्यर्थं मंगलावाप्तये तथा ।।
कृतम् आरार्तिकं तेन प्रसीद पुरुषोत्तम! ।।६५।।

ततो विज्ञप्ति:.

प्रीतो देहि स्वदास्यं मे पुरुषार्थात्मकं स्वत: ।।
त्वद्दास्यसिद्धौ दासानां न किञ्चिद् अवशिष्यते ।।६६।।
एतावदेव विज्ञाप्यं सर्वदा[३] सर्वदैव मे ।।
त्वम् ईश्वरोसि गीतं ते क्षुद्रोहं न विदामि हि ।।६७।।
परमकारुणिको न भवत्पर: परमशोच्यतमो नहि मत्पर: ।।
इति विचिन्त्य सदा मयि किंकरे यदुचितं व्रजनाथ! तथा चर[४] ।।६८।।
कियान् पूर्वं जीवस् तदुचितकृतिश्चापि कियती ।।
भवान् यत्सापेक्षो निजचरणदास्ये बत भवेत् ।।६९।।
अत: स्वात्मानं स्वं निरुपममहत्त्वं व्रजपते! ।।
समीक्ष्यास्मन्नेत्रे शिशिरय निजास्याम्बुजरसै: ।।७०।।
स्वदोषान् जानामि स्वकृतिविहितै: साधनशतैर् ।।
अभेद्यान् त्यक्तुं चापटुतरमना यद्यपि विभो! ।।७१।।
तथापि श्रीगोपीजनपदपरागाञ्चितशिर ।।
त्वदीयोऽस्मीति श्रीव्रजनृप! न शोचामि मुदित: ।।७२।।
प्रियासंकेतकुञ्जीयवृक्षमूलेषु पल्लवै: ।।
कृतेषु भावतल्पेषु क्रीडन् गोचारणं कुरु ।।७३।।
सेवितोऽत्र हरे! रन्तुं गृहे मद्हृदयात्मके ।।
निमीलयामि दृग्द्वारं विलसैकान्तसद्मनि ।।७४।।

ततो वस्त्रप्रक्षालनादिकं कुर्यात्.

वस्त्रप्रक्षालनाद् दुष्टसंसर्गजमनोमलम् ।।

महत्सेवाबाधरूपं मम श्रीकृष्ण! नाशय॥७५॥

ततः चतुर्थप्रहरे प्रसुप्तं प्रबोध्य फलादिकम् अर्पयेत्.

यथा गोवर्धने भुक्तं फलमूलादिकं हरे!॥
रामेण सखिभिः सार्धं पुलिन्दीभिः समर्पितम्॥७६॥
तथा फलादिकं सर्वं भुंक्ष्व भावार्पितं मया॥
पुलिन्दीवद् भावदानात् सार्थकं जन्म मे कुरु॥७७॥

ततो व्रजे आगच्छन्तं विज्ञापयेत्.

बलभद्रादयो गोपा गावश्चाग्रे च पृष्ठतः॥
गोपिकावेष्टितो मध्ये रणद्वेणुर् व्रजागमात्॥७८॥
दिवा विरहजं तापं व्रजस्थानां यथा हृतम्॥
तथा मल्लोचने नाथ! शिशिरीकुरु सन्ततम्॥७९॥

ततो यत्किञ्चिन् मोदकादिकम्[१] अर्पयेत्.

श्रीमन्नन्दयशोदादिप्रेम्णा भुक्तं व्रजे यथा।
भोजनं कुरु गोपीश! तथा प्रेम्णार्पितं[२] हरे!॥८०॥

तत आरार्तिकं कृत्वा शृंगारोत्तारणार्थं विज्ञाप्य उत्तार्य पयःफेनं पयो वा समर्पयेत्.

राधिकाश्लेषान्तरायभूषणोत्तारणात्[१] प्रभो!॥
निशि तत्कृतशृंगारांगीकारार्थं प्रसीद मे॥८१॥
व्रजे स्वानन्दतो दोहं बलेन सह गोपकैः॥
कृत्वा पीतं पयःफेनं तथा[२] पिब व्रजाधिपः!॥८२॥

ततो दीपं निवेद्य निशि दुग्धान्नादि समर्प्य शयनार्थं विज्ञाप्य शयनं कारयेत्.

वासरीयवियोगार्तराधिकास्यावलोकने[३]॥

दीपार्पणाद् गोपिकेश! प्रसीद करुणानिधे!॥८३॥
दुग्धान्नादि यथा भुक्तं रोहिण्युपहृतं निशि॥
व्रजनायक! भोक्तव्यं तथैव हि मदर्पितम्॥८४॥

ततः समये आचमन-ताम्बूलादिकं विधाय आरार्त्तिकं कृत्वा शयनार्थं विज्ञाप्य शयनं कारयेत्.

भावात्मकास्मद्हृदयपर्यंके शेषरूपके॥
रमस्व राधया कृष्ण! शयने रसभावतः॥८५॥
अयि व्रजसखि व्रज व्रजवधूकदम्बाम्बिका-
समर्हणफलीभवच्चरणपंकजस्यान्तिकम्॥
नितम्बमिलदम्बरक्वणितहेमदामांगना-
वृतस्य नलिनावलीप्रतिभटप्रभस्य द्रुतम्॥८६॥
निर्भरं क्रीडतोरालि कुञ्जे विगतवाससोः॥
अन्योन्यप्रभयैवासीद् अन्योन्यस्योचितांशुकम्॥८७॥
रतिश्रमशयानयोर् अलसलोचनाम्भोजयोः॥
कलं किमपि कूजतोरभिमुखं मिथः सस्मितम्॥८८॥
रतांगभरितांकयोर् मिलितजानुसंवाहने॥
पदाम्बुजतलानि मद्धृदि लुठन्तु राधेशयोः॥८९॥
केलिश्रान्तशयानश्रीराधाश्रीशपदसरोजानि॥
कृपया कृतानि मदुरसि कदा नु संलालयिष्येऽहम्॥९०॥
प्रातः कुञ्जगृहाद् बहिर् यदि समागत्य स्थिता त्वं भवस्य-॥
म्भोजाक्षि ददासि चर्वितम् इदं चाकार्य हस्ते ननु[१]॥९१॥
ताम्बूलस्य यदा पुनस्तदिह सच्छिद्रस्य मुक्त्यापि च॥
कार्यं किं सततं प्रसीदसि यदि त्वं स्वामिनीत्थं यदा[२]॥९२॥

श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यम् अत्राव्यभिचारिहेतुः॥
प्रेमैव तस्मिन्नवधोक्तभक्तिस् तत्रोपयोगोऽखिलसाधानानाम्॥९३॥
ततो यदिन्दीवरसुन्दराक्षीवृतस्य वृन्दावननन्दितांघ्रेः॥

सर्वात्मभावेन सदास्यलास्यम् अस्यानिशं सा तु फलानुभूतिः ।।९४।।
श्रीमदाचार्यपादाब्जं भवेद् येषां हृदि स्थिरम् ।।
सदा श्रीराधिकाकान्तस् तत्र तिष्ठति सुस्थिरः ।।९५।।
अतः पितृपदाम्भोजभजनं सर्वथा मतम् ।।
उत्तमानाम् इतो नान्या कृतिः [३] काचन विद्यते ।।९६।।

इति श्रीप्रभुचरणविरचिताः सेवाश्लोकाः
समाप्ताः

।। पाठभेदः ।।

(पृ.१)
१. क ख ब मु.गोप. व.पु.प्र. पाठेषु नोपलभ्यते. २. मु गो पाठः. ३. तु हृत्पद्मरूपम् इति क ब पाठे, सुहृत्पद्मरूपम् इति ख पाठः. गृहीत पाठः मु गो पाठानुरोधेन. ४. पानीयपात्रमिदं क पाठे, पानीयपात्रं ही ख पाठे, पानीयपात्रमिदं हि ब पाठे, पानीयपात्रं हि तथा इति मु गो पाठयोः.

(पृ.२)
१. नमो नमोस्तु ते इति मु.गो, नमस्तेस्तु नमो इति व.पु.प्र, नमो नमस्तेस्तु इति क ब पाठयोः. २. पत्रे इति ब पाठः. ३.नव हास्येऽस्मिन् स्वास्ये ब पाठः.

(पृ.३)
१. इयं कारिका क ब मु.गो पाठेषु नास्ति. २. स्नेहात्मभावसिक्तान्यभाव क ख ब पाठेषु.

(पृ.४)
१.श्रीमत्स्वरूपात्मकम् इति क ब पाठे. २. व्रजाधिप इति क ख ब मु.गो व.पु.प्र. पाठे.

(पृ.५)
१. ख मु.गो पाठएव.

(पृ.६)
१. सामग्र्यां इति क ख ब पाठे. २. भोगरूपार्थात्मप्रदीपने इति क ब पाठः. ३. यत्रे इति ब पाठः. ४. योग्यभोज्यान्न इति क ख ब पाठः. ५. भोग्यं इति क, शेषेषु भोज्यं भोगं पाठोऽपि सम्भाव्यते (सम्पा.).

(पृ.७)
१. प्रियांगगन्धसुरभि इति क आदि सर्वेषु. अन्यत्र क्वचित् संगसुरभि इत्यपि. २. श्रीपत्प्रियां इति क ब पाठयोः, हरिपत्प्रियां इति ख पाठे, ते पदप्रियाम् इति गोपे. ३. सर्वथा इति क ख गोपे. पाठेषु. ४. तद् आचर इति ख ब पाठयोः.

(पृ.८)
१. मोदकादीनि इति ब पाठः. मोदकानि इति क पाठः. मोदकादि इति गोपे.पाठः. २. प्रायः सर्वेषु प्रेमार्पितं क्वचिद् प्रेम्णार्पितं इत्यपि.

(पृ.९)
१. राधाश्लेषान्तराभूतभूषणोत्तारण इति ब पाठः. २. तथात्रापि व्रजाधिप इति ब पाठः. तथा पिब व्रजाधिप इति सर्वेषु अन्येषु. ३. राधिकायाः विलोकने इति क ब पाठः.

(पृ.१०)
१. हस्तेन तु इति गोपे. पाठः. २.तदा मु.गोपे पाठे यदा इति ख. ३. गति इति ब पाठः.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीमत्विट्ठलेश्वरप्रभुचरण विरचिता श्रीगायत्रीव्याख्या ॥
(श्रीमत्पुरुषोत्तमविरचितं विवरणेन सहित)

श्रीकृष्णः स्वात्मनः सर्वम् उत्पाद्य विविधं जगत् ॥
तदासक्तांशबोधाय शब्दब्रह्माभवत्स्वयम् ॥१॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमद्भागवतारम्भे गायत्र्या उपनिबद्धत्वात् तस्याः स्वरूपं बोधयितुं तदर्थं व्याकुर्वन्तो. यथा पुरुषविधब्राह्मणे क्रीडेच्छया रूपसृष्टौ स्वरूपस्य द्वैधीभावेन पतिपत्नीभावसम्पादनोत्तरं नानारूपसृष्टिः ततः स्वतिरोभावेन जीवानां मोहसम्पादने संसारासक्तिः तथा अत्र तदुत्तरं नामसृष्टिः परन्तु मोहनिवारणाय स्वस्य रसरूपत्वबोधनेन आश्रयदानाय इति फलभेदं बोधयितुं एतदेव अभिप्रेत्य नवलक्षणलक्षिताश्रयनिरूपक श्रीभागवतारम्भ उपनिबन्धं च बोधयितुं वेदोत्पत्तिप्रयोजनमादौ आहुः. **श्रीकृष्ण** इत्यादि, अयं प्रकारः, **''स आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** (तैत्ति.उप.२।७) इत्युक्तायामेव सृष्टौ न इतरत्र इति वेदशब्देभ्यो जगन्निर्माणबोधकश्रुतिस्मृतीनां न विरोध इति आशयेन आहुः **स्वात्मन** इति, **शब्दब्रह्मेति ''स एष जीवः''** (भाग.पुरा.११।१२।१७) इत्यत्र उक्तनादात्मा निःश्वसितस्य अवस्थाविशेषरूपः ॥१॥

तत्र सर्गादिभिः क्रीडन् नित्यानन्दरसात्मकः ॥
निजभावप्रकाशाय गायत्रीरूप उद्बभौ ॥२॥

ततो गायत्रि उत्पत्तिम् आहुः **तत्र**इत्यादि, **तत्र**इति स्वात्मके स्वकृते प्रपञ्चे. ॥२॥

सा षड्गुणयुतं सर्ववेदबीजं गुणातिगम् ॥
सर्वावताररूपं हि सर्वतत्त्वोपबृंहितम् ॥३॥

तस्याः प्रणवोत्तरावस्थात्वबोधनाय आहुः **सा**इत्यादि, **सर्ववेदबीजम्** ॐकारः **''स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजम्''** (भाग.पुरा.१२।६।४१) इतिवाक्यात्, तेन यथा तत्र रूपस्य पतिपत्नीभावः तथात्र नादस्य क्रमेण ॐकार-गायत्रीभाव इत्यर्थः, एतेन गायत्रीकल्पादिप्रसिद्धं सगुणत्वम् अत्र न विवक्षितम् इति बोधितम्. तत्र गमकं वक्तुं तद्ब्राह्मणं व्याकुर्वन्तो मन्त्रस्य अक्षरात्मकत्वात् पूर्वं तदक्षरसंख्याप्रयोजनम् आहुः **सर्वे** इत्यादि, क्षराक्षररूपत्वबोधनाय अर्धेन प्रयोजनद्वयम् उक्तम् ॥३॥

शृंगारैश्वर्यसंयुक्तं पुरुषद्वयपूर्णम् ॥
भक्त्या सर्वेन्द्रियाह्लादि चर्तुविंशाक्षरं ततः ॥४॥

तृतीयम् एकेन आहुः **शृंगार**...इत्यादि, शृंगारो द्विधा, एश्वर्यम् अष्टधा, अन्तेन्द्रियं चर्तुधा, बाह्येन्द्रियाणि दशधा, एवं चतुर्विंशन्तिः, पुरुषोत्तमत्व बोधनाय इदं, तत्रापि सर्वान्तर्त्वबोधनाय **'पूर्ण'**पदम् ॥४॥

मार्गत्रयप्रकटनं भावत्रयविवर्धनम् ॥
सच्चिदानंदपूर्णं च त्रिपदेति प्रकीर्त्यते ॥५॥

प्रचारार्थं पदसंख्यातात्पर्यम् आहुः. **मार्ग**...इत्यादि, ज्ञान - कर्म - भक्तिरूप **मार्गत्रयस्य प्रकटनं** यस्माद् इति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः, एवम् अग्रेपि **भावत्रयं** च विभाव - अनुभाव - व्यभिचारिभेदेन ज्ञेयम्, इदं परं गमकम्.

छन्दो मन्त्रस्य गायत्री प्रेमोल्लासाद् अहर्निशम् ॥
गायन्तं त्रायते भावम् आच्छादयति चैव हि ॥६॥

एवं गुणातीतपरिचायनाय द्वयम् उक्त्वा अत:परं तैत्तिरीयश्रुत्युक्तक्रमेणैव उक्तार्थानां पदार्थानां स्वरूपम् आहु: छन्दइत्यादि, **''छादनात् 'छन्द' [२] इत्युक्तम् आकृतेः वाससी यथा आत्मानं छादितं दैवैः मृत्युमितैश्च वै पुरा आदित्यैर् वसुभी रुद्रैः तेन छंदासि तानि वै''** (   ) इति योगीयाज्ञवल्क्योक्तं **''सर्वेषां मन्त्रतत्त्वानां छादनात् 'छन्द' उच्यते''** (   ) इति वाक्योक्तं च, छन्दस्तु अप्रयोजकं रूपम् आहु: **भावम्** इत्यादि॥६॥

विश्वामित्रो जगन्मित्रम् ऋषिरत्र हरिः स्वयम्॥
''मित्रे चर्षा''विति प्रोक्तेः पूर्वाच्चापि प्रतीयते॥७॥

''विश्वस्य जगतो मित्रं विश्वामित्रः प्रजापतिः'' (   ) इति बृहद्याज्ञवल्क्योक्तम् **ऋषिस्वरूपम्** आहु: **विश्वामित्र**इत्यादि लोकिकम् ऋषिं परित्यज्य भगवद्ग्रहणे बीजम् आहु: **मित्र**इत्यादि, इदं हि 'विश्व'शब्दस्य दीर्धविधायकं सूत्रं, इतः पूर्वं तु **''विश्वस्य वसुराटोः''** (पाणि.सू.६।३।१२८) इति, तथाच विश्वराजो विचारे निरङ्कुशं विश्वाराट्त्वं यथा **''सर्वस्य वशी सर्वस्य इशानः सर्वस्य अधिपतिः सर्वम् इदं प्रशास्ति''** (बृह.उप.५।६।१) इति श्रुतिपुराणादिभिः हरौएव सिद्धम्. एवं **''केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे''** (भाग.पुरा.२।२।८) इत्यादि पुराणै **''द्वा सुपर्णा''** (मुण्ड.उप.३।१।१) इत्यादि श्रुतिभिश्च निरङ्कुशविश्वामित्रत्वमपि, तस्य ऋर्षित्वं च **''यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद् विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः''** (महा.नारा.उप.१०।३) इति मन्त्रे तथा पुराणेषु च सिद्धम् अतो अत्र सएव ऋर्षिः इत्यर्थः॥७॥

सविता सर्वबीजाना निजानां देवतास्य हि॥
आचार्यो भगवान् अग्निर् मुखम् अस्य प्रकीर्तितम्॥८॥

''यस्य यस्य तु मन्त्रस्य उद्दिष्टा देवता तु या तदाकारा भवेत् तस्य देवत्वं देवता उच्यते'' (   ) इति याज्ञवल्क्योक्तेः देवतानिष्कर्षम् आहु:. **सविता** इत्यादि, जन्मादि अधिकरणे **''सर्वयोनिषु कौन्तेय!''** (भग.गीता.१४।४) इति गीतायां च तथैव सिद्धत्वात् सएव **देवता**..इत्यर्थः, एतत्त्रयज्ञापनं च अत्यावश्यकं **''ऋचा अविदितार्थेन छन्दो - दैवत - ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति अध्यापयति वा स स्थाणुं वा ऋच्छति गर्तं प्रतिपद्यते''** (   ) इति तदज्ञाननिन्दाश्रुतेः इति, **''अग्निर् मुखम्''** (महा.नारा.उप.१४।३५) इति श्रुतिं विवृणवन्ति **आचार्य** इत्यादि.॥८॥

गतिज्ञानार्थधातूक्त्या नलोपाच्च प्रतीयते॥
लोपस्यादर्शनात्मत्वात् प्राकृतानुकृतिर् मता॥९॥

तदवगतिप्रकारम् आहु: **गति**...इत्यादि, **''अकि अगि गतौ''** (पाणि.धा.भ्वा) इति गत्यर्थो 'गि'धातुः गत्यार्थानां च ज्ञानार्थत्वं प्रसिद्धं, तस्माच्च **''अङ्गेर्नलोपश्च''** (पाणि.धा.उण) इति सूत्रेण नलोपे निप्रत्यये च जाते अग्निरिति भवति, तथा चाङ्गतेर्गत्यात्मकज्ञानाधारो भवति इति अर्थात् धातूक्त्या च अर्थत्वप्रतीतिः इत्यर्थः, **नलोपात्** तत्प्रतीतिप्रकारम् आहु: **लोपस्य** इत्यादि.॥९॥

''ब्रह्मा शिरो'' जगद्बीजं सत्यलोकस्थितेरपि॥
यज्ञात्मको जगद्व्यापि शृंगाररसविग्रहः॥१०॥

''ब्रह्मा शिरो'' (महा.नारा.उप.१४।३५) इति श्रुतिं विवृण्वन्ति **ब्रह्मा**इत्यादि.

''विष्णुर्हृदयम्'' इत्युक्तं हृद्यं हृदयं श्रुतौ॥
तत्तद्धर्मप्रधानत्वात् सर्वं च स्वयमेव हि॥११॥

''विष्णुहृदयम्'' (महा.नारा.उप.१४।३५) इत्येतां विवृणवन्ति **यज्ञात्मक**इत्यादि, **''यज्ञो वै विष्णुः''** (तैत्ति.ब्रा.१।२।५।१) इति श्रुतेः **''विष्लृ व्याप्तौ''** (पाणि.धा.जु) इति धात्वर्थात्, **''रसो वै सः''**

(तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या शृंगाररसात्मकत्वात् स तथा इति उक्तम् इत्यर्थः. हृदये विशेषम् आहुः **हृदि अयम्** इत्यादि. छान्दोग्ये दहरविद्यायां **"स वा एष आत्मा हृदि तस्य एतदेव निरुक्तं हृदि अयम् इति तस्माद् हृदयम्"** (छान्दो.उप.८।३।३) इति, तथाच आत्मत्वबोधनाय अत्र **'हृदय'**पदं नतु अवयवविशेषमात्रबोधनाय इत्यर्थः. ननु प्रायपाठेन अत्र देवताविशेषएव प्रत्याय्यो नतु परः इत्यत आहुः **तत्तद्**इत्यादि, तथाच **"तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोभुद्"** (भाग.पुरा.३।८।१५) इत्यत्र उक्तो भगवद्रूपएव ब्रह्मापि ज्ञातव्य इत्यर्थः, एवं सर्वत्र बोध्यम्॥११॥

"रुद्रः शिखे"ति कथनात् क्लेशात्मा स निरूपितः॥
अहङ्कारो बन्धरूप इति बद्धा शिखा मता॥१२॥

"रुद्रः शिखा" (नारा.उप.अनु.३५।१) इति श्रुतिं द्वाभ्यां व्याकुर्वन्ति **रुद्र**इत्यादि, **क्लेशात्मत्वं "रोदयतीति रुद्रः"** (   ) इति बृहदारण्यके निर्वचनात् ज्ञेयं, **अहंङ्कारत्वं** च **"वैकारिकस्तैजसश्च"** (भाग.पुरा.१०।८५।३) इति दशमस्कन्धे **"शिवः शक्तियुतः शश्वद्"**(भाग.पुरा.१०।८५।३) इति सन्दर्भीयवाक्यात् ज्ञेयम्॥१२॥

मुखस्याग्नित्वकथनात् तज्ज्वाला च शिखा मता॥
लौकिकी दुष्टदाहाय "घोरातनु"रिति श्रुतेः॥१३॥

"घोरा तनुः" (तैत्ति.संहि.२।२।२।३) इति इयं श्रुतिः तैत्तिरीयसंहिताद्वितीयाष्टके **"अग्नये रुद्रवते पुरोडाशम् अष्टाकपालं निर्वपेत् अभिचरन् एषा वा अस्य घोरा तनुर् यद् रुद्र"** (तैत्ति.संहि.२।२।२।३) इति आभिचारिकम् इष्टिविशेषं प्रकृत्य पठिता अस्तीति ततः सर्वस्यैव विवक्षितार्थस्य सिद्धिः॥१३॥

पृथिवी भगवत्कीर्तेर् उत्पत्तेः कारणं मतम्॥
भक्तिबोधाय चरणरेणुरूपत्वकीर्तनम्॥१४॥

"पृथिवी योनिः" (नारा.उप.अनु.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **पृथिवी**इत्यादि, **"प्रथ प्रख्याने"** (पाणि.धा.भ्वा), प्रथनात् **पृथिवी** प्रथनं च **"त्वम् एतद् विपुली कुरु"** (भाग. पुरा.२।७।५१) इत्यादि वाक्यैः सिद्धं, तथा च सैव अत्र विवक्षिता नतु भूतात्मिका इत्यर्थः, श्रवणादीन् प्रति **कीर्तेर्** एतत्व उत्पत्तिहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् तत्कार्यभूत **भक्तिबोधनाय चरणरेणुरूप** पृथिवीत्व**कीर्तनम्** इत्यर्थः॥१४॥

प्रियत्वाय हरेः सर्वप्राणात्मत्वेन वर्णनम्॥
शुक्लभास्वररूपं तु श्वेतवर्णेति कीर्तितम्॥१५॥

"प्राणापानव्यानोदानसमाना सप्राणा" (नारा.उप.अनु.३५।१) इति एतद् व्याकुर्वन्ति **प्रियत्वाय**इत्यादि, प्राणेषु प्रियत्वस्य लोकवेदप्रसिद्धत्वाद् तदात्मकत्वे सति स प्राण इन्द्रप्रतर्दनोपाख्याने सिद्धो य आत्मरूपः प्राणः तत्सहित अतः तथा वर्णनम् इत्यर्थः, **"श्वेतवर्णा"**(नारा.उप.अनु.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **शुक्ल**इत्यादि, **भास्वरत्वं** प्रकाशकचैतन्यरूपत्वात् ज्ञेयम्॥१५॥

भगवद्योग्यतासिद्ध्यै श्वेतः सर्वाधिको मतः॥
सांख्यायनसगोत्रत्वं भगवद्भोगसिद्धये॥१६॥
स हि ब्रह्म परं जीवः सच्चिदानन्दतोभयोः॥
सगोत्रत्वम् अतः प्रोक्तं न वैलक्षण्यम् अण्वपि॥१७॥

"सांख्यायनसगोत्र" (नारा.उप.अनु.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **सांख्यन**इति सार्धेन, हि यतो हेतोः, **स सांख्यनः सांख्यं** पदार्थं संख्यायुक्तं ब्रह्मवादसिद्धं ज्ञानम् **अयनं** ज्ञापकं यस्य तादृश वेदात्मा **ब्रह्म, परं** परन्तु, **जीवः "स एषः जीवः"** (भाग.पुरा.११।१२।१७) इति वाक्यात् प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वेन **जीवः, उभयो** जीवब्रह्मणोः **सच्चिदानन्दता, अतः सगोत्रत्वं प्रोक्तं,** तत्प्रयत्नत्यागेतु **अण्वपि वैलक्षण्यं न** अस्ति, तेन **भोगसिद्धः** इत्यर्थः॥१६ -१७॥

भगा देशादयो वापि शक्तयश्चेन्द्रियाणि च॥
ज्ञानानि खण्डाखण्डानि कुक्षौ सर्वविनिश्चयात्॥१८॥

"**चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदा**" (नारा.उप.अनु.३५।१) इत्यस्य प्रागेव व्याख्यात्वात् "**षट्कुक्षिः**" (नारा.उप.अनु.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **भगा** इत्यादि, **भगा** ऐश्वर्यादयः, **देशादयो** देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माणि, **शक्तयः** कर्मेन्द्रियाणां समनसां सामर्थ्यानि, **इन्द्रियाणि** समनांसि ज्ञानेन्द्रियाणि, **ज्ञानानि खण्डाखण्डानि** एकैकदर्शनैकैकाङ्गजन्यानि खण्डानि, तान्येव गुणोपसंहारेण अन्धहस्तिन्यायेन विशिष्टनिदिध्यासनरूपाणि सन्ति अखण्डानि कुक्षिरूपाणि भवन्ति इत्यतः षट्कुक्षिः इत्यर्थः, तत्र हेतुः **कुक्षौ विनिश्चयाद्** इति, समुद्रवत् कुक्षेः सर्वाधारतया विशेषेण सर्वनिश्चयाद् इत्यर्थः॥१८॥

धामान्यर्था विभावाश्च सर्वोपनिषदः शिरः॥
समीपनयने विष्णोर्विनियोगः प्रकीर्तितः॥१९॥

"**पञ्चशीर्ष**" (नारा.उप.अनु.३५।१) व्याकुर्वन्ति धामानि इत्यादि, श्वेतदीप - अनन्तासन - वैकुण्ठ - ध्रुवस्थान - गोलोकधामानि, अर्थाः तन्मात्राणि धमार्थकाममोक्षभक्तयो वा, 'पञ्चास्य'शब्द इव 'पञ्चशीर्ष'शब्दो विस्तारवाचि इति अभिप्रेत्य पक्षान्तरम् आहुः **विभावा** इत्यादि, तेषां तेषां भगवदीयानां रसानाम् आलम्बन - उद्दीपनविभावाः स्त्र्यादयः ऋत्वादयश्च, सर्वोपनिषदः तत्तद् शाखास्थाः, उपनिषदां शिरस्त्वं तु "**ऋचां मूर्धानं यजुषाम् उत्तमाङ्गं साम्नां शिरो अथर्वणां मुण्डमुण्डम्**" (कौषी.वेदशिर.उप.) इति कौषीतकीये श्रावितं, अन्येषां तु उत्कर्षनियामकत्वाभ्यां ज्ञेयम्, अत्र सर्वं ज्योतिश्चरणाधिकरणोक्तरीत्या वाच्यवाचकाभेदविवक्षया च उपपन्नम् इति न काचिद् अनुपपत्तिः, "**उपनयने विनियोग**" (नारा.उप.अनु.३५।१) इति व्याकुर्वन्ति **समीप** इत्यादि, विनियोगलक्षणं तु योगियाज्ञवल्क्येन उक्तं "**पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च अनेन इदं तु कर्तव्यं विनियोगः स उच्यत दौर्बल्यं याति तन्मन्त्रो विनियोगम् अजानत**" ( )

इति, ब्राह्मणं लक्षणमपि तत्रैव "**निरुक्तस्य तु मन्त्रस्य समुत्पत्तिः प्रयोजनं प्रतिष्ठानं स्तुतिः चैव ब्राह्मणं तदिह उच्यत**" ( ) इति, तत् तु इह "**आयातु वरदा देवि**" (नारा.उप.अनु.३४) इत्यारभ्य श्रुतं, तथापि "**गायत्र्या गायत्री छन्द**" (नारा.उप.अनु.३५।१) इत्यादेः अर्थज्ञानेन पूर्वोक्तं सर्वमेव एतद् अनुगुणी भविष्यतीति एतद् आरभ्यैव व्याख्यातमिति बोध्यम्॥१९॥

सप्त व्याहृतयः प्रोक्ता भूरैश्वर्यम् उदाहृतम्॥
सर्वाधारत्वतस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम्॥२०॥

एतद् अग्रे "**ओम् भूः**" ( ) इत्यादिना प्रणवाभ्यासः **सप्त व्याहृतयः** च उक्ताः, तत्र प्रणवो गायत्रीशिरः समाप्तावपि वर्तते इति तं तत्रैव विवरिष्यन्तोत्र व्याहृतीः एव आहुः **सप्त**इत्यादि, **प्रोक्ता**इति विनियोगोक्त्यनन्तरम् उक्ताः, एतासां व्याहृतित्वं तेनैव निरुक्तं पूर्वं तासां त्रिचतुष्पञ्चसप्तभेदान् उक्त्वा "**भूर्भुवस्स्वः तथा पूर्वं स्वयमेव स्वयम्भुवा व्याहृता ज्ञानदेहेन तेन व्याहृतयः स्मृता**" ( ) इति, विवक्षिता भेदाः तत्रैव उक्ताः इति अनपेक्षित्वाद् अन्य इह उच्यन्ते, तत्र आद्याः सद्वाचकत्वाद् **एश्वर्यम्** एव तया मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यत इति बोधयन्ति **भूरि**त्यादि तत्र हेतुः **सर्वाधारत्वत** इति, भगवदैश्वर्यस्य तथात्वाद् इत्यर्थः, ननु मुख्यार्थपरित्यागेन किम् इत्येवं व्याख्यायते इत्यतः आहुः **तावद्**इत्यादि, गीतायां "**उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः 'परमात्मे'ति उदाहृतः यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्यय ईश्वरः**" (भग.गीता.१५।१७) इति एश्वर्येण **सर्वाधारत्व**बोधनम् अतो भगवतः **तावच्छक्तित्वाद् अस्य** एवं व्याख्यानस्य कुतः केभ्योः न **बाधनं**, व्यासचरणैरेव उत्तरतन्त्रे तथा अङ्गीकारात्, तथाच लौकिकार्थग्रहणएव मुख्यार्थत्यागो वृत्तिसंकोचश्च न तु अत्र इत्यर्थः॥२०॥

अन्तरिक्षत्वकथनाद् भुवो वीर्यं निरूपितं॥
सुवः श्रीःश्रीर्मनुष्यस्य कथनाद् अवसीयते॥२१॥

द्वितीयां विवृणवन्ति **अन्तरिक्ष** इत्यादि, लोकप्रसिद्धविचारे **भुवो** अन्तरिक्षत्वकथनात् **''ते अन्तरिक्षम् अजयन्''** ( ) इति श्रुत्या तस्मिन् रुद्राणां प्रभुत्वात् द्वितीयस्कन्धीयतृतीयाध्याये वीर्यकामानां तद्भजनस्य उक्तत्वात् तत्प्रभुत्वेन **भुवः** पदात् **वीर्यं** निरुपितम् इत्यर्थः, तृतीयाम् आहुः **सुवः** इत्यादि, तैत्तिरीयाणां सप्तमाष्टके द्वात्रींशद् रात्रप्रसंगे श्रावितं **''श्रीर्हि मनुष्यस्य सुवर्गो लोक''** (तैत्ति.संहि.७।४।२।१-६) इति, अतः एवं कथनात् भगवतः **श्रीरेव सुवः** इत्यर्थः ॥२१॥

महो यशः परं प्रोक्तं सुखं तेजस् ततो अत्र हि॥
जनो वैराग्यम् इत्युक्तं तापनाशकता यतः॥२२॥

चतुर्थीम् आहुः **मह**इत्यादि, तत्र हेतुः **यशः परं प्रोक्तम्** इति, लोके शास्त्रे च श्यपेक्षया यशएव उत्कृष्टं प्रोक्तं, **ततो** यशस्त्वादेव **अत्र** महर्लोके **सुखं** स्वर्गापेक्षया अधिकं तेजोबोधक **'महः'** शब्दवाच्यत्वात् **हि** निश्चयेन **तेज** इत्यर्थः, एतेन सर्वप्रसिद्धार्थग्रहणेपि तत्स्वरूपविचारतः तेषां भगवद्धर्मांशताएव स्फुटतीति व्याख्यातः अर्थः सर्वोपि अविवाद इत्यर्थः, पंचमीम् आहुः **जन**इत्यादि, **वैराग्यत्वे** हेतोः **ताप**इत्यादि, **''जनं प्रयान्ति तापार्ता महर्लोकनिवासिनः''** (विष्णु.पुरा.१।३।२३) इति वाक्यात् स लोक**स्तापनाशकता** च **वैराग्य**एव स्फुटेति **जनो वैराग्यम् इत्युक्तम्** इत्यर्थः ॥२२॥

जनतायां तु तन्मुख्यम् अतो जन इतीरितम्॥
यस्य ज्ञानमयं प्रोक्तं तपस्तस्मात् तदेव हि॥२३॥

ननु तत्र अग्नेयएव तापो नाश्यते नतु सांसारिक इति कथं वैराग्यते इत्यत आहुः **जनतायाम्**इत्यादि, **''स्वायम्भुवं ब्रह्मसत्रं जनलोके भवत्पुरा तत्रत्यानां मानसानां मुनीनाम् उद्धर्वरेतसाम्''** (भाग.पुरा.१०।८४।९) इत्यादि वाक्यात् तत्रत्यजनसमूहे मुख्यं वैराग्यम् अतो न संशयः तथात्व इत्यर्थः, षष्ठीम् आहुः **यस्य** इत्यादि **तदेव** इति ज्ञानमेव इत्यर्थः, **हि** हेतौ,

श्रुतिस्तु श्वेताश्वेतरस्था. ॥२३॥

सत्यं परम् इति प्रोक्तं स्वरूपम् इति निश्चितम्॥
लोकवेदप्रसिद्धार्थकथनाय तदीयतां॥२४॥

सप्तमीम् आहुः **सत्यम्**इत्यादि **''सत्यं परं परं सत्यम्''** (महा.नारा.उप.१०।७८) इति श्रुतिः तैत्तिरीयोपनिषदि. अत्र सत्यस्य परत्वेन विधानात् निरंकुशस्य परत्वस्य च स्वरूपएव सत्त्वाद् अत्र तदेव **निश्चितम्** अर्थत्वेन निर्णीतम् इत्यर्थः, एवं सार्धचतुर्भिर्व्याहृतयो व्याख्याताः, अतः परं गायत्र्याः पदानि सार्धसप्तभिः विवृण्वन्ति **लोके**त्यादि, **''अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम''** (भग.गीता.१५।१८) इत्यस्य अर्थस्य **कथनाय**, गायत्रीस्थः **'तद्'**शब्दः, **ईयतां** ज्ञायताम् इत्यर्थः ॥२४॥

द्वादशात्मत्वकथनात् सविता पुरुषोत्तमः॥
रूपम् आसक्तिजनकं वरणीयम् इतीरितम्॥२५॥

द्वादशात्म... इत्यादि, **''द्वादशो हि पुरुषः''** (तैत्ति.संहि.७।४।२१) इति श्रुत्या पुरुषस्य **द्वादशात्मत्वकथनात्** निरंकुशस्य जगज्जनकस्य तस्मिन्नेव पुरुषे सत्त्वात् **'सवितृ'**पदेन अत्र **पुरुषोत्तम**एव उच्यते इत्यर्थः. एतेन **''विश्वामित्र ऋषिश्छन्दो गायत्र्या देवता रविः''** ( ) इति. भारद्वाजोक्तं प्रतीकविषयत्वाद् अनादरणीयम् इति बोधितं, स्मृत्यन्तरे तु **''आदित्यमण्डलासीनं रुक्माभं पुरुषं परं ध्यायन् जपेत् तदित्येतन् निष्कामो मुच्यते द्विज''** ( ) इति तथा **''आदित्यमण्डलान्तःस्थं परं ब्रह्माधिदैवतं छन्दोनिवृत्त्या गायत्री मया दृष्टा सनातनि''** ( ) इति उक्तम्. शैवास्तु **'भर्गः'** शब्दं प्रथमान्तम् **''अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्''** (पाणि.सू.३।३।१९) इतिसूत्रेण घञन्तं च अंगीकृत्य **यो भर्गो नो धियः प्रचोदयात्** **'तत्'**पदं च लुप्तषष्ठीकम् अंगीकृत्य तस्य **सवितुर्** देवस्य **वरेण्यं धीमही** इति अन्वयं वदन्तः शिवपरत्वं शिवस्य परमपुरुषत्वम् अन्यथा

सवितृपदस्य ब्रह्मवाचकत्वे '**य**'इति पुल्लिंगपदेन निर्दिष्टस्य कर्तुः अन्वयापत्तेः इति आहुः, तदसङ्गतम् '**भर्गः**' शब्दस्य शिवासाधारणत्वाभावात्. "**विष्णुसञ्ज्ञम्**" ( ) इति श्रुतेः, "**काचिद् वरेण्यं सवितुर् भर्गं विष्णवभिधं जगौ**" ( ) इति तैरेव उक्तत्वात्. बृहद्योगियाज्ञवल्क्येपि "**हिरण्यगर्भं पुरुषं व्योम्नि तद् 'विष्णु'सञ्ज्ञितं**" ( ) "'**भ'इति भासते लोकान् 'र'इति रञ्जयते प्रजाः 'ग'इति आगच्छते अजस्रं भरगाद् 'भर्ग' उच्यते**" ( ) इति कथनात्. किञ्च आपाततः शिवप्रतीतावपि "**रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः अग्निमध्ये [३] स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्तिथो अच्युत**" (मैत्रा.उप.६।३८) इति मैत्रायणीयोपनिषदि "**रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः अग्निमध्ये स्थितं सत्यं सत्यस्य अन्तःस्थितो अच्युत**" ( ) इति बृहद्योगियाज्ञवल्क्ये च सूर्यान्तः सोमम् उमासहितं शिवम् उक्त्वा ततः सर्वान्तर अच्युतो भगवानेव प्रतिपादित इति सूक्ष्मेक्षिकया विचारकाणां पुरुषोत्तमस्यैव स्फुरणम्. नच मैत्रायणीयएव "**अथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै देवस्ततो योस्य 'भर्गा'ख्यस्तं चिन्तयामि इत्याहुर् ब्रह्मवादिनः**" (मैत्रा.उप.६।७) इत्यत्र **भर्ग**इति सन्धिदर्शनेन तस्यादन्तत्वं शंक्यं, शकन्ध्वादित्वात् टेः पररूपेऽपि एवं प्रयोगसिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्. एतेनैव "**तद्भर्गाख्यं किमपि हि परम्**" ( ) इति साम्बस्तुतिरपि व्याख्याता ज्ञेया. नापि "**कः सविता का सावित्री**" ( ) इति उपक्रम्य "**द्वितीयपादो भर्गमय**" ( ) इति तलवकारब्राह्मणे प्रयोगाद् अदन्तत्वसिद्धिः, पृषोदरादित्वेन 'स'लोपेपि एवं प्रयोगसम्भवात्. अस्तु वा अदन्तत्वं तथापि पूर्वोक्तमैत्रायणीयवाक्ये '**भर्गः**'पदस्य द्वितीयपादएव अन्वयस्य श्रावणात् तस्य च अदन्तत्वपक्षेपि द्वितीयायाः छान्दसत्वेन स्वादेशसिद्धेः तदनादृत्य तस्य तृतीयपादेन अन्वयोररीकरणं मुधैव इति दिक्. इदं सर्वं शैवानां मतं शाक्तानां च मतं मया प्रहस्ताख्ये वादे प्रपञ्च्य दूषितम् अतो नेह प्रपञ्च्यते. अत "**एकएव नारायण आसीन् न ब्रह्मा न ईशानः पुरुषो ह वै नारायणो अकामयत**" ( ) इत्यादिषु परब्रह्मणि पुल्लिङ्गप्रयोगस्य सवितृत्वोपाधावपि दर्शनात् '**पुरुष**'पदप्रयोगस्यापि

तत्प्रकरणे सत्त्वाद् अत्र '**सवितृ**'पदेन पुरुषोत्तम उच्यते इत्येव युक्तम्. '**वरेण्य**'पदं विवृण्वन्ति **रूपम्** इत्यादि. "**तत्सवितुर्वरेण्यम् इति असौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणीय आत्मकामेन इति आहुः ब्रह्मवादिनः**" (मैत्रा.उप.६।७) इति मैत्रश्रुतौ प्रकारवाचिना **एवं**पदेन कामयितव्यात्मधर्मस्य आत्मत्वस्य प्रकारत्वेन परामर्षात् निरुपधिप्रियत्वस्य च वाक्यान्वयाधिकरणे परस्मिन्नेव ब्रह्मणि विचारितत्वात् तथा इत्यर्थः ॥२५॥

वरणे स्वार्थपरता निवृत्त्यै वृणुते यतः॥
अन्योन्यरसबोधाय तथा वा समुदीरितम्॥२६॥

एवं कथनप्रयोजनम् आहुः **वरणे** इत्यादि. **यतो** जीवो यद् भगवन्तं वृणुते तत् प्राकृतत्वात्मकस्य स्वान्यथारूपस्य **निवृत्त्यै वृणुते** अतो **वरणे स्वार्थपरता** जीवपुरुषार्थसाधकत्वं, तथाच जीवपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं वरणीयत्वकथनम् इत्यर्थः तदुक्तं योगिना "**वरेण्यं वरणीयं तु जन्मसंसारभीरुभि**" ( ) रिति पूर्वोक्तश्रुतितएव सिद्धम्. मुख्याधिकारसम्पादकतया मुख्यं प्रयोजनम् आहुः **अन्योन्य**...इत्यादि, यथा मुख्यमहिषीस्थले अन्योन्यचित्तव्यतिषङ्गेन परस्परं वरणं **तथा रसबोधाय वा** वरणीयत्वं **सम्यगुदीरितम्** इत्यर्थः. '**वा**'शब्द एवंभावस्य दुर्लभत्वबोधनाय॥२६॥

भयकामाद्यभावाय भोग्यत्वाय च भर्जनम्॥
दशलीलावबोधाय देवत्वं दुर्लभत्वतः॥२७॥

'**भर्गः**'पदं विवृण्वन्ति **भय**...इत्यादि. पूर्वोक्तमैत्रश्रुतौ एव '**भर्गः**'शब्दस्य द्वितीयपादे अन्वयं बोधयित्वा "**अथ भर्ग इति यो ह वा अमुष्मिन् आदित्ये निहितः तारकोक्षिणीव एष 'भर्गा'ख्यो भाभिर्गतिः अस्य हीति भर्गो भर्जयतीति वै स 'भर्ग' इति रुद्रो ब्रह्मवादिनो अथ 'भ'इति भासयति इमान् लोकान् 'र'इति रञ्जयति इमानि भूतानि 'ग'इति गच्छन्ति अस्मिन् आगच्छन्ति अस्माद् इमाः प्रजाः तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः**"

(मैत्रा.उप.६।७) इत्युक्तत्वात् योगिनापि "**भ्रस्ज पाके भवेद् धातुर् यस्मात् पाचयते ह्यसौ भ्राजते दीप्यते यस्मात् जगच्च अन्ते दहत्यपि कालाग्निरूपम् आस्थाय सप्तार्चिः सह रश्मिभिः भ्राजते स्वेन रूपेण तस्माद् भर्ग इति स्मृत**" (   ) इत्युक्त्वात् श्रुतिस्मृतिव्याख्यातं यद् भर्जनं तद् **भयकामादयो** ये सर्वात्मभावविरोधिनो दोषः तदाभावाय, किञ्च अत्र श्रुत्यादिषु नानानिरुक्तिबोधनेन गुणोपसंहारो बोधितः, तथा सति "**सो अश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह**" (तैत्ति.ब्रह्मवली.१) इति श्रुत्युक्तभोक्तृत्वार्थं जीवस्य **भोग्यत्वाय** च तत्, अतएव स्मृत्यन्तरे "**भर्जयति अखिलां विद्याम्**" (   ) इत्युक्तम्. इदं च अत्र संकर्षणस्य कार्यं, [४]वरणीयत्वं वासुदेवस्य सवितृत्वं प्रद्युम्नस्य लोकवेदप्रसिद्धत्वं अनिरुद्धस्य इति बोधितं, तेन ब्रह्म - विष्णु - हरात्मकत्वमपि उक्तप्रायम् अतो न मैत्रश्रुतेरपि विरोधः. '**देव**'पदं हि विवृण्वन्ति **दशे**त्यादि, "**दिवु क्रीडायाम्**" (पाणि.धा.दि) इति दशविधक्रीडाबोधनाय देवत्वम् उक्तं, तेन लोकवेदातीतरूपता बोधिता. किञ्च द्युस्थानो भवति इत्यपि निरुक्तेः व्यापिवैकुण्ठस्थायित्वेन **दुर्लभत्वम्** अतो **देवत्वम्** इत्यर्थः, एतदेव योगिनापि निरुक्तं "**दीप्यते क्रीडते यस्माद् उद्यते द्योत्यते दिवि तस्माद् देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः**" (   ) इति तेन लोकवेदप्रसिद्धः तदतीतः च पुरुषोत्तमएव अत्र प्रतिपाद्य इति निर्णयाद् अस्या मुख्यविद्यात्वं न तु प्रतीकविद्यात्वं इति बोधितं॥२७॥

दशावस्थावबोधाय प्रीतिर्ध्यानं च कीर्तितम्॥
स्वस्यायोग्यत्वतो बुद्धिप्रेरणं ध्रुववन्मतम्॥२८॥

धीमहीति पदं व्याकुर्वन्ति **दशावस्थ...** इत्यादि, वरणीयपदेन पूर्वं **प्रीतिः**, धीमहीत्यनेन **ध्यानं** च यत् **कीर्तितम्** तच्चक्षुरागादिरूपा या रसस्य दशावस्थाः तदवबोधाय, तथा चैवं मन्त्रार्थम् अवगत्य ध्याने दशाप्यवस्थाः सम्पादीय प्राकृतं रूपं नाशयित्वा तस्य स्वाश्रयप्रत्यापत्तिः भगवता देया
दशावस्थाः तदवबोधाय, तथा चैवं मन्त्रार्थम् अवगत्य ध्याने दशाप्यवस्थाः सम्पादीय प्राकृतं रूपं नाशयित्वा तस्य स्वाश्रयप्रत्यापत्तिः भगवता देया
इति ज्ञापितम्. तृतीयपादं विवृण्वन्ति **स्वस्य** इत्यादिभिः सार्धैः त्रिभिः,

ध्रुववद् इति, तदुक्तं ''**योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम् इमां प्रसुप्ताम्**'' (भाग.पुरा.४।९।६) इति ध्रुवेणैव ॥२८॥

निरोधसिद्धये धीषु बहुत्वं परिकीर्तितम् ॥
जीवे बहुत्वकथनं तत्सम्बन्धिषु सिद्धये ॥२९॥

निरोधसिद्धये इति प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकस्वासक्तिसिद्धये, **धीबहुत्वं** सर्वेन्द्रियोपलक्षकं, तेन तथा इत्यर्थः, **तत्सम्बन्धिषु सिद्धये** इति वृतजीवपरिकरभूतेष्वपि निरोधसिद्धये ॥२९॥

नित्यसम्बन्धसिद्ध्यर्थं षष्ठी जीवेशयोर् मता।
उत्सिक्तभावबोधाय स्वभावत्याजनाय च ॥३०॥

स्वभावत्याजनाय इति पूर्वस्वभावस्य निःशेषनिवर्तनाय ॥३०॥

वाञ्छाधिक्यज्ञापनाय प्रकर्षः परिकीर्तितः।
आशीर् अन्ते पूर्णतायै प्रेरणं सर्वतोऽधिकम् ॥३१॥

ननु आशिषा कथं पूर्णता इत्यत आहुः **प्रेरणं सर्वतो अधिकम्** इति, एवम्प्रकारकभक्तियोगस्य सर्वेभ्यो अदेयत्वेन एवं प्रेरणाभावाद् अतिकृपयैव प्रेरणं, एवं विलक्षणवरणकार्यत्वाद् आशास्यम् अतः तस्यैव सर्वाधिकत्वात् तेनैव पूर्णता इत्यर्थः. एवं त्रिपदा गायत्री व्याखाता, यद्यपि अस्याः चतुर्थः पादः काण्वादीनां बृहदारणयके श्राव्यते तथापि अप्राकरणिकत्वात् स प्रकृतोपयोगी न भवति इत्यतो न व्याख्यातः ॥३१॥

आपः श्रद्धा धर्ममूलं ज्योतिरप्यस्फुटौ परौ।
भावास्त्रयो मन्त्रपूर्तौ प्रोक्ता व्याहृतिभिः स्फुटाः ॥३२॥

अतः परं शिरो व्याकुर्वन्ति **आप** इत्यादिसार्धेन, तच्च षोडशाक्षरं ''**षोडशाक्षरं चैव गायत्र्याश्च शिरः स्मृतम्**'' ( ). ''**ओमापो ज्योतिरित्येष मन्त्रो यस्तु प्रकीर्तित**'' ( ) इति योगियाज्ञवल्क्यात्, तत्र प्रणवस्य अग्रे विवरणीयत्वात् तं विहाय अन्येषाम् अर्थं स्वरूपं च आहुः **आप** इत्यादि. तत्र अपां श्रद्धात्वं छान्दोग्य-बृहदारण्यकयोः पञ्चाग्निविद्यायां सिद्धम् अतः **आपः श्रद्धा,** सा च **धर्ममूलम्** अश्रद्धया कृतस्य असत्त्वात्, ''**अश्रद्धया हुतं दत्तम्**'' (भग.गीता.१७।२८) इति गीतावाक्यात्. **ज्योतिरपि** धर्ममूलं, सूर्याग्निभ्याम् अन्यैश्च ज्योतिभिरेव धर्मप्रवृत्तेः. **परौ** ''**रसो अमृतम्**'' ( ) इति पदाभ्याम् उक्तौ रसामृतपदार्थौ, **अस्फुटौ** गूढार्थौ, तथा च येषां यथा विवक्षितौ तथा तैः ग्राह्यौ इति प्रकृते मुख्याधिकारिणां विवक्षितौ ''**रसो वै सः**'' (तैत्ति.उप.२।७) ''**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्च अहम् अर्जुन!**'' (भग.गीता.९।१९) इति स्मृत्युक्तौ, तत्र धर्मपुरस्कारेण मूलरूपात्मकावेव ग्राह्यौ, **मन्त्रपूर्तौ** शिरोमन्त्रसमाप्तौ, **व्याहृतिभिः 'भूर् भुवः सुवः'** इति तिसृभिः, **त्रयो भावा** राजस-तामस-सात्त्विक-ऐश्वर्य-वीर्य-श्रीकृताः **स्फुटाः** व्याहृतिवाच्यस्वरूपविचारे प्रकटा-एव **प्रोक्ताः** ॥३२॥

दोषाभावाय सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वेन कीर्तनम् ॥
नवीनभावजनक उभयो रतिवर्धनः ॥३३॥
तस्मात्प्रणव इत्युक्तस्याप्यर्थोमेव हि ॥३४॥

तेषु अवादिषु च प्राकृतत्वेन दोषवत्त्वं शंक्येत इति लिंगभूयस्त्वाधिकरणवि-षयवाक्यसिद्धन्यायेन **दोषाभावाय** मध्ये 'ब्रह्म' पदेन **कीर्तनं,** तथाच शिरोमन्त्रेपि प्रकारविशेषेण ब्रह्मैव उच्यते इत्यर्थः. अतःपरं प्रणवं विवृण्वन्ति **नवीन**...इत्यादि. तत्र ॐकारः त्रिवृत् परमात्मवाचकः ''**ततो त्रिवृदोंकारो यो अव्यक्तप्रभवः स्वराट्...स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः**'' (भाग.पुरा.१२।६।३९-४१) इति द्वादशस्कन्धवाक्यात्, ईश्वरं प्रकृत्य ''**तस्य वाचकः प्रणव**'' (पातं.योग.सू.१।१७) इति पतञ्जलिनापि उक्तत्वात् च.

योगिना तु द्वितीयाध्याये तेषां तेषाम् ऋषिणां मतानि उपन्यस्य चतुःषष्टिभेदा उक्ताः, श्रुतिषु च क्वचिदेकमात्रो द्विमात्र इत्येवं षण्मात्रापर्यन्तम् उक्तः, तत्र तत्र अर्थभेदश्च तस्य उक्तः, तत्सर्वम् अनुपयुक्तत्वाद् अत्र न उच्यते, किन्तु **''ओङ्कारः प्रणवे योज्यः प्रणवं ब्रह्मणि न्यसेत् आनन्दं परमं ब्रह्म तत्प्रविश्य अमृतो भवेद्''** ( ) इति योगिवाक्यात् **''ओङ्कारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त आनन्दामृतरूपं प्रणवं षोडशान्त''** ( ) इतितापनीयश्रुतेश्च ओङ्कारप्रणवौ तुल्योच्चारत्वेपि स्वरूपतो अर्थतश्च भिन्नौ, तत्र समात्र ओङ्कारः अमात्रः प्रणवः इति भेदः, आथर्वणानां गोपथब्राह्मणे तथा व्युत्पादनात्. ततश्च आप्तेः अवतेः वा निष्पन्नः समात्रः, अव्युत्पन्नस्तु अमात्र इति फलति, गीतायां तैत्तिरीये च **''ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म''** (भग.गीता.८।१३) इति कथनाद् अमात्रः प्रणवएव प्रकृते विवक्षित इति तस्य अर्थः आनन्दामृतरूपएव इति तत्र प्रकटनीयो यः सर्वात्मभावः सो अन्यत्र अप्रसिद्धत्वात् नवीनः, अयं च मन्त्रः **तज्जनकः** प्रकर्षेण नवः यस्माद् इति. योगिनातु **''प्राणनात् प्रणवः स्मृतः''** ( ) इति निरुक्तं, तदेतद् हृदि कृत्वा आहुः **उभयो रतिवर्धनः** इति, **''को ह्येव अन्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्''** (तैत्ति.उप.२।७) इति तैत्तिरीये ब्रह्मणः प्राणितृत्वं श्रावितं तदत्र उभयरतिवर्धनत्वेनैव अभिप्रेतम् अन्यथा एतद्भावानुदये एकत्रैव उदये वा प्राणनमेव न स्याद् इति द्वारत्वाद् अस्य मन्त्रस्य तथात्वं, अतएव प्रतिव्याहृति प्रतिमन्त्रं च अस्य अभ्यासः सम्पुटीकरणं च अनेन इति, एवंच यथा सामराजमन्त्रव्याख्याने **''एषएव उग्र एष ह्येव व्याप्ततम''** ( ) इत्यादीनां मन्त्रपदोक्तानाम् अर्थानां नृकेसरित्वेन विधानम् उत्तरतापनीये श्राव्यते तथा अत्र सर्वमन्त्रार्थानां प्रणवत्वेन विधानम् इति अभ्यासबीजकथनेन बोधितम्॥३३-३४॥

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ॥
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः॥३५॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरचरणकृताः श्रीगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाः समाप्ताः[५]

ननु अयम् अर्थः सर्वत्र कुतो न प्रसिद्ध इति आकाङ्क्षायां श्वेताश्वतरश्रुतिमेव समाप्तौ पठन्ति **यस्य** इत्यादि, तथाच स्वरूपज्ञानपूर्वकं देवगुरुभजनेन अन्तःकरणस्य वैशद्यरूपे महत्त्वे सत्येव अस्य अर्थस्य प्रकाशे न इतरथा, ज्ञानं च **''यमेवैष''** (कठोप.१।२।२३,मुण्ड.उप.३।२।३) इति श्रुतेः वरणाधीनम् अतः तदभावात् न सर्वत्र प्रसिद्ध इत्यर्थः॥३५॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः॥
यद् अस्फुरत् तद् अलिखत् तद्दासः पुरुषोत्तमः॥१॥
एतेन श्रीविट्ठलेशप्रभवो दीनवत्सलाः॥
प्रसीदन्तु सदा दासबाहिर्मुख्यनिवर्तकाः॥२॥
एष पुष्पाञ्जलिः श्रीमद्बालकृष्णपदाम्बुजे॥
समर्पितस् तद्वचनवनराजिसमुद्भवः॥३॥
तेन प्रसीदतान् नाथो मादृक् कृपणवत्सलः॥४॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तमविचरचितं श्रीमत्प्रभुचरणकृतगायत्र्यर्थप्रकाशकारिकाविवरणं समाप्तम्

॥पाठभेदतालिका॥

१. तदात्मानम् इति अत्र 'स आत्मानम्' इति पाठः क्लृप्त इति दोषम् आरोपयन्तः पश्यन्तु इदम्.
२. उद्दिष्टम् इत्यपि पाठः.
३. 'तेजोमध्य' इत्यपि पाठः.
४. इदम् अधिकं क्वचन.
५. आदर्शग्रन्थेषु 'इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरदीक्षितानां हस्ताक्षरेषु लिखितानि एतानि पद्यानि गायत्र्यर्थोपनिबन्धनानि पूर्णानि'इत्युपलभ्यते.

परिशिष्ट

१. महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यविरचित तेलगुपद

२. महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यविरचित -
तेलगुपदका तेलगुपत्रिकामें विवरण

३. श्रीमत्प्रभुचरणस्वरूपनिर्णयव्याख्यानम्

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यविरचित तेलुगुपद ॥

कनकाचल समधीरं! कामित जन (मंदारम्)
घनकौस्तुभमणिहारं! गोष्टांगण संचारम्!!
कलये गोपकुमारं! गोपीमानस चोरम्!!
(पल्लवि) ॥

भावार्थ: कनकाचल (मेरु पर्वत) के सम धैर्यवान्! भक्तोंके कामितार्थ दाता! कौस्तुभमणिहारधारी! गोष्टांगणसंचारी! गोपकिशोर! गोपीमानसचोर, (श्रीकृष्ण! आपको नमस्कार).

(श्रीरामचंद्रजीका पद)

वंदे श्रीरघुरामं! वंदे जगदभिरामम्!! (पल्लवि)
दशरथराजकुमारं! मुनिमानस संचारम्!!
वननिधिसमगंभीरं! दानवकुलसंहारं!!
अमर भवार्चित वेदं! कमलभवार्चित पादम्!!
सुमधुरमपगतखेदं! विमल निरंतरमोदम्!! ॥

भावार्थ: श्रीरघुराम! मेरा वंदन स्वीकार करो. सर्व जगतके आनंददाता, नमस्कार. दशरथराजकुमार! मुनिमानस संचार! समुद्रके समान गंभीर! सर्व दानव कुलसंहार! आपके अर्चना विधान केवल शिव और देवता ही जानते हैं. ब्रह्मा आपके चरणोंकी पूजा करता है. आपको जानने के बाद ही, आनंदमय स्थितिकी मधुरता मालूम होता है. आपके दर्शनसे अखंड आनंद प्राप्त होता है. ऐसे श्रीराम! आपको प्रणाम करता हुं.

(चंदमामा पाट -- तेलुगु).

(छोटे बच्चोंकी जिद्द छुड़ानेके लिए चंद्रमाको संबोधित यह गीत गाते हैं.)

चंदमामा तेवे! जाबिल्लि तेवे!
कंदुवैन नवखंड! कंडचक्केर तेवे!!
मंदलोन नाड कुंड! वंदडोललु तेवे!!
मुत्तिसरुलु(?) तेवे! मुर्रुजुन्नु तेवे!!
अत्तिन...? तिय्यनि! अट्टुकुलु तेवे..!! ॥

तेलेगु पदका अर्थ:

चंदमामा = जाबिल्लि = चंद्रमा
तेवे = लाओ
कंदुवैन = एकांतप्रदेशमें
नवखंड = ताजा टुकड़े
कंडचक्केर = मिश्री
मंदलोनन् = गोसमुदायमे
(नाडकुंड=)आडकुंड = बिना खेल्के
वंदडोललु = खेल्नेका वस्तु
तेवे = लावो
मुत्तिसरुलु तेवे = मोतियोंका हार लाओ
मुर्रुजुन्नु = (बछडे देनेके बाद तीन दिन तक मिल्ने दूधसे बनानेवाला)क्षरजं
तेवे = लावो
अत्तिन = अत्यंत
तिय्यनि = मीठी
अट्टुकुलु तेवे = पोहा लाओ

भावार्थ: चन्दमामा लाओ, जाबिल्लि लाओ. एकांत स्थलमें स्वादिष्ट

ताजा मिश्रीके बड़े-बड़े टुकड़े लाओ. गायियोंके साथ मत खेलो; खेल्नेकी सामग्री लावो. सुन्दर मोतियोंका हार लाओ. मधुर विशिष्ट 'क्षीरजं' लावो. अत्यंत मीठा पोहा लाओ.

(श्रीविठ्ठलनाथके बारेमें पद -- तेलुगु)

(विठ्ठल भगवान् और वेंकट विठ्ठल पर ताळ्ळपाक अन्नमाचार्यजीने कुछ पद रचे थे. लेकिन इस पदमें वेंकटमुद्र नहीं है. यह पद वल्लभाचार्यजीका हो सकता है.)

शंखु चेत पट्टुकुन्न! स्वामि विठ्ठला!!
(मंकुपट्टदेल नीकु! मानु) विठ्ठला!!
गच्चु मीरगा पिलिचिन (गाचु)विठ्ठला, कळ्ळु
गच्चकाय लाय, नेदुरु - ! - गांचि विठ्ठला!!
म्रोक्केद म्रोक्केद नीकु! मुद्दु विठ्ठला
चक्कनि मा तंड्री! स्वामि विठ्ठला!!
द्वारकानाथुडवय्या! दारु विठ्ठला
श्रीरुकुमिणीपतिवि नीवे श्रीविठ्ठला
श्रीसत्यभमपतिवि(सिरुल) विठ्ठला!!
वासवादिविनुत सार्वभौम विठ्ठला!! ॥

तेलुगु पदका अर्थ:
शंखु चेत पट्टुकुन्न = हाथमें शंख पकड़नेवाला
स्वामि विठ्ठला = विठ्ठल स्वामि
नीकु = तुम
मंकुपट्टदेल = जिद्द क्यों करते हो?
मानु = (जिद्द) छोड़ दो, विठ्ठला
गच्चु मीरगा = (?अनुरागके साथ?)
पिलिचिन = बुलानेपर
(गा)काचु = रक्षा करनेवाला, विठ्ठला

(ने)एदुरु गांचि = इंतज़ार करते हुये
कळ्ळु = आंखें
गच्चकायलाय = दुख रहे हैं
म्रोक्केद म्रोक्केद नीकु = तुमको बार-बार नमस्कार करता हुं
चक्कनि = प्यारे
मा तंड्री = हमारे बाबा (पिताजी) विठ्ठल
द्वारकानाथुडवय्या = तुम द्वारकानाथ हो
दारु विठ्ठला = (काठसे बने हुये?) विठ्ठला
श्रीरुकुमिणीपतिवि नीवे = तुम श्रीरुक्मिणीपति हो श्रीविठ्ठला
श्रीसत्यभामपतिवि नीवे = तुम श्रीसत्यभामापति हो
(सिरुल) विठ्ठला = ऐश्वर्य संपन्न विठ्ठला
वासवादिविनुत = इंद्रादि देवताओंके बिनती स्वीकार करनेवाले सार्वभौम विठ्ठला!

भावार्थ: यह विठ्ठलनाथकी स्तुति है. हाथमें शंख पकड़नेवाले स्वामि! जिद्द क्यों करते हो? तुम्हें प्रेमसे पुकारनेसे रक्षा करते हो. तुम्हारे इंतज़ार करते-करते मेरी आंखें दु:ख रही हैं. प्यारे विठ्ठल स्वामी! मेरे पिता! तुमको बार-बार नमस्कार करता हुं. द्वारकानाथ! दानशील! दीनदयाल! श्रीरुक्मिणीपति! श्रीसत्यभामापति! देवेंद्रविनुत! सार्वभौम विठ्ठला! तुमको मेरा नमस्कार.

(पल्लवि) पंकजनेत्रिकि दंडमया,
तिरुवेंकटेशुनकु! दंडमया
नल्लनि वानिकि! नागरीकुनकु
तेल्लनि नामपु! देवुनिकि!
चल्लनि चूपुल! जानकी पतिकि, श्री
वल्लभुलकु मा! दंडमया!
किंकिणि धरुनकु गिरिधरुनकुनु

शंकरप्रियुनकु! दंडमया!!
लंकरावणुनि! मदमडचिन तिरु
वेंकटेशुनकु! दंडमया!
कनकांबरमुनु! कौस्तुभरत्नमु
(वनमालयु गल)वानिकिनि
पणतिनुरम्मुन (बायक निलिपिन)
पद्मनाभुनकु दंडमया!॥

तेलुगु पद अर्थ:

पंकजनेत्रि कि = पंकजनेत्री लक्ष्मीदेवीको
दंडमया = दंडवत् नमस्कार
तिरुवेंकटेशुनकु = (तिरु = श्री)वेंकटेशको
दंडमया = दंडवत् नमस्कार
नल्लनिवानिकि = श्यामसुंदरको (नल्लनि = काला रंग)
नागरीकुनकु = नागरिकको
तेल्लनि नामपु देवुनिकि = सफेद उर्ध्वपुंड्रधारी भगवान्को
चल्लनिचूपुल = (चल्लनि = अनुग्रह पूर्वक)कृपा दृष्टि (से देखने)वाला
जानकी पतिकि = सीतापति श्रीरामको
श्रीवल्लभुलकु = लक्ष्मीवल्लभको
दंडमया = दंडवत् नमस्कार
किंकिणि धरुनकु = किंकिणिधारीको
गिरिधरुनकु = गोर्वधनगिरिधारीको
शंकरप्रियुनकु = शंकरप्रिय भगवानको
दंडमया = दंडवत् नमस्कार
लंकरावणुनिमदमडिचिन = लंकामें रावणके मदको नाश करनेवाला (श्रीरामको)
तिरुवेंकटेशुनकु = श्रीवेंकटेशको
दंडमया = दंडवत् नमस्कार
कनकांबरमुनु = कनकांबर
कौस्तुभरत्नमु = कौस्तुभरत्न

वनमालयु गल वानिकिनि = वनमालाओंको धारण करनेवाला और
पणथिनुरम्मुन बायक निलपिन पद्मनाभुनकु = (पण(ड)ति = स्त्री) लक्ष्मीदेवीको निरंतर अपने वक्षस्थलमें धारण किये पद्मनाभको
दंडमया = दंडवत् नमस्कार

भावार्थ: पंकजनेत्री लक्ष्मीदेवीको दंडवत् नमस्कार; तिरुवेंकटेशको दंडवत् नमस्कार. श्यामसुन्दरको, नागरिक भगवान्को, सफेद उर्ध्वपुंड्रधारिको दंडवत् नमस्कार. कृपादृष्टिसे देखनेवाले जानकीपति श्रीरामको, लक्ष्मीपतिको दंडवत् नमस्कार. किंकिणि पहननेवाले और गोर्वधनगिरिधारी श्रीकृष्णको दंडवत् नमस्कार. शंकरप्रियको दंडवत् नमस्कार. लंकामे रावणके मदको नाश करनेवाले (श्रीरामको) दंडवत् नमस्कार. श्रीवेंकटेशको दंडवत् नमस्कार. पीतांबर, कौस्तुभरत्न, वनमाला और हृदयमें लक्ष्मीदेवीको निरंतर धारण करनेवाले भगवानको दंडवत् नमस्कार. भगवान पद्मनाभको दंडवत् नमस्कार.

(इस तेलुगु गीतमें 'पल्लवि'के साथ तीन 'चरण' हैं. लेकिन पल्लवि मात्र परिष्कृत हुआ. इन बालकृष्णके गीतमें वेंकटमुद्र (छाप) नहीं हैं. यह श्रीवल्लभाचार्यकी रचना हो सकती हैं.

(श्रीबालकृष्णलालजीके पद)

(पल्लवि) इंतुलाल चेप्परे वी! डेव्वडो गानि
(कंतु)नट्लुन्नाडु! गय्यालवाडु॥

तेलुगु पद अर्थ:

(इंति - स्त्री) इंतुलाल = गोपियों!
चेप्परे = बोलिये
वीडेव्वडोगानि = यह कोई
कंतुनट्लुन्नाडु = मन्मथ जैसे दिखायी देता है
(ग)कय्यलवाडु - झगड़ाखोर

भावार्थ : गोपियां! बोलिये यह कौन है? यह झगड़ाखोर. मन्मथ जैसे दिखायी देता है.

(ग्वाले लोग गानेवाले ऐसे गीतको तेलुगुमें ''एल पाट'' कहते हैं. तिरुपति ताम्र-पत्रोमें ताळ्ळपाक अन्नमाचार्यजीके कुछ 'एल पाटलु' हैं. लेकिन यह एल पाट श्रीवल्लभाचार्यजीका रचना हो सकता हैं.
यह पद ''ओंगोलु'' प्रांतके ''मार्कापुरमु'' (चेन्नकेशव क्षेत्र)में विराजे श्रीकृष्ण पर रचा हुआ हैं. यह बालकृष्णको माखन खिलानेके लिये गोपीयां उन्हें बुलानेका संदर्भमें हैं)

(पल्लवि) नीकु नेनु वेन्न पेट्टेनू!
केलकुल रावि रेका, गळमुन पुलिगोरु,
मोललोन पाल शंखुलु, ओ मुद्दुल गुम्मा! (नीकु)
कल्ललेनि बालकुंडा! कोल्ललाडबोकुर नेनु
नल्लनय्य वेन्न पेट्टेनू! ना मुद्दुलगुम्मा! (नीकु)
''मारकापुरमु''न कोरि कोरि वेलसिन!
मुरळीधरुड कृष्णम्मा!
वेडुकगुम्मा! ना मुद्दुलगुम्मा!! (नीकु) ॥

तेलुगु पद अर्थ:
नीकु = तुम्हें
नेनु = मैं
वेन्न = माखन
पेट्टेनु = खिलाती हुं
केलकुल रावि रेका = (?)
गळमुन = कंठमें
पुलिगोरु = बाघका नाखून वाले हार

मोललोन = कटि प्रदेशमें
पाल शंखुलु = सफेद शंखोंके (सूत्र) (पहना हुआ)
मुद्दुलगुम्मा = प्यारेलाल!
कल्ललेनि = (कल्ल = झूठ लेनि = बिना) सच्चे
बालकुंडा = बच्चा!
कोल्ललाड बोकुरा = हमारे मनको चुरावो मत
नल्लनय्य = (नल्ल = काला) श्यामसुंदर
वेन्न पेट्टेनू = माखन खिलाती हूं
मारकापुरमुन = ''मारकापुरमु''में
कोरिकोरि = स्वयं इच्छासे
वेलसिन = विराजमान हुआ
मुरळीधरुड कृष्णम्मा = मुरलीधर श्रीकृष्ण
वेडुकगुम्मा कृष्णम्मा = प्यारेलाल कृष्ण

भावार्थ : तुम्हें मैं माखन खिलाती हुं. कंठमें बाघके नाखूनका हार, कटिमें सफेद शंखुवाले कटि सूत्र पहननेवाला श्रीकृष्ण लाल, तुमको मैं माखन खिलाती हुं. सच्चे बालक! झूठ न बोलना; श्यामसुंदर, तुम्हें मैं माखन खिलाती हुं. स्वयं संकल्पसे मारकापुरमुमें विराजमान हुआ मुरळीधर, कृष्णम्मा! मेरे प्यारेलाल! तुम्हें मैं माखन खिलाती हुं.

गोपकन्याओंकी जलक्रीडा, उनकी चीरहरण, बादमें उनके उपर श्रीकृष्णके अनुग्रह होना इस गीतका इतिवृत्त है. इस गीतमें २५ चरण हैं. लेकिन, परिष्कृत हुआ चरण मात्र दिया गया हैं. इस गीतमें

(१) ''नाचारम्मा कट्टिनपाट नाम संकीर्तनमु'' मुद्रा हैं. इसीलिये इसको नाचारम्माके 'मूल'गीतके आधारपर परिष्कृत किया गया हैं. इसमें कुछ 'वचन' और कुछ 'पद्य' हैं.
(२) हर एक चरणमें ''दो पाद'' हैं.

(३) यह गीत तेलुगु छंदस् द्विपद रूपमें रचा गया हैं.
(४) इन सुमधुर चरणोंमें 'यति' और 'प्रास' होता हैं.

(गोपकन्यायें पानीमे नंगे होकर, गीत गाते नृत्य करते, खेलते खेलते स्नान कर रही थी.)

(पल्लवि) शृतुलनु मीरक पाडेद मर्दळ -
गतुलकु धिमि धिमि दिद्धिमि यनगा!
जतुलनु मानक लीलग नंदलि -
गतुलकु धळांकु धळ धळ्ळनगा!

भावार्थ : मृदंगकी "धिमि, धिमि, दिद्धिमि", "धळांकु, धळ, धळ" गतियोंके अनुसार हम शृति बद्ध गीत गायेंगी.

वेणुनादप्रिय परमाणुरूपा -
विनुमहो गोपीनाथा!
वीणनु मीटुचु पाडेदमोहन
किणिकिणिकिंकिणि किणिकिणि यनगा! ॥

भावार्थ : वेणुनादप्रिय! परमाणुरूप! गोपीनाथ! श्रीमोहनकृष्ण! सुनो. "किणि, किणि, किंकिणि" शब्दयुक्त वीणावादन करते हुए, हम गायंगी.

एडद कंचुक मेडय नेवरु रारेदुटिकि
कडिदिमकुरु मानु कंतुडा!
मिडिमेलम्मुन मिडिकि मायेड नीवु
वेड विनोदमु लेमि याडेवु!! ॥

भावार्थ : (वक्षस्थल ढ़कनेवाली) कंचुक अपने स्थानसे फिसलजाने पर किसी स्त्रीके आगे, कोइ भी नहीं जाता हैं. तुम्हारा चुगलीपन छोडो.

मनोरंजनके लिये, हमारे साथ क्रीडा क्यों करना चाहते हों?

(गोपकन्यायें पानीमेंसे बाहर आकर अपनी साडियोंको नहीं देखी.)

जलक्रीड चालिंचि - बिलबिल मनि स्त्रीलु
कोलनिगट्टुन वलु - वलु गट्टगा वच्चि
चेलुवैनयट्टि तम - चीरलगानक
वेल वेल मुखमुलु - व्रेलि चिन्नयि पाय!! ॥

भावार्थ : सब के सब गोपियां वस्त्र पहननेके लिये ह्रदसे बाहर (तीरको) आगयी. उन्होने अपने वस्त्र नहीं देखे. वे नीचेकी तरफ देख रही थी. उनके चहरे छोटा और बेरंग हो गये.

(गोपियोंने अपनी साडियोंको देनेके लिये श्रीकृष्णुसे प्रार्थना की)

मड्डुगुलेरि तानु वरदुडै तेच्चिच्चे
तडयक श्रीहरि तक्षणमिय्यकोनरे
मडुगुलु कावुगदा वेलसिन मैलवे माकिय्यरा
मडुगुलु माकेलरा अच्युत चीरले इय्यरा!! ॥

भावार्थ : वरदाता! श्रीहरि! हमारे वस्त्र हमें शीघ्र देनेको अंगीकार करो. हे कृष्ण! अच्युत! हमारे वस्त्र परिशुद्ध नही होनेसे उन मैली हुयी वस्त्र हमें देदो. हमारी साडियां हमे देदो.

वनमुनंदुन्नारमु माकु ना वलिकिरानु सिग्गुरा
कोनिन चीरलनिय्यराकट्टेदमु गोविंद मडुगु लेमु
मच्चे कूर्म वराहावतारुडा अच्युतुड चीरलंदीर
वामनुंड इय्यरा चीरलु वासुदेव इय्यरा!! ॥

भावार्थ : हम पानीमें (नहा रही) हैं. बाहर आनेमें हमको शरम आती है. गोविंदा! जो साडियां आप ले गये हो उन्हें हमें देदो. हमे उनको पहनना हैं.

(चीरलु सिग्गुले) स्त्रीलकलंकारमु शृंगारमयुड नीविय्यरा
वारिजनाभुडा वासुदेवा हरि वनमाला प्रिय (इय्यरा) ! ॥

भावार्थ : हे शृंगारमय! साडियां और शर्मीलापन ही हमें (स्त्रीयोंके लिये) आभरण होती हैं. हमारी साडियां हमें देदो. वारिजनाभ! वासुदेव! हरि! वनमालप्रिय! हमारी साडियां हमें देदो.

(साडियोंका वर्णन)

सन्नदाटुल चीरे ओयक्का -
चाळ्ळु पोसिन चीरे ओयक्का
विन्नदनमुल चीरे विनुमोयक्का
गोविंद कूनचीरे ओयक्का

करकंचुल चीरे ओयक्का -
कस्तूरि मल्लि चीरे ओयक्का
ओरयु दंतुल चीरे ओयक्का
उदय रागमु चीरे ओयक्का

अंदमद्दिनयट्टिदोयक्का
आवपूवन्ने चीर ओय्यका
अंदमुग मुत्यालु वेंडितो -
हंस चिलकल चीरे ओयक्का !!

चिंताकु वन्ने चीरे ओयक्का मोगलि
चिगुरु वन्ने चीरे ओयक्का
चेंद्रकावि चीरे ओयक्का
पोगड (सिरि) वन्ने चीरे ओयक्का !!

पगटु पट्टु चीरे ओयक्का नीलि -
(वन्ने) कांतुल चीरे ओयक्का
निग निग मेरिसेटिदोयक्का -
नीलि मेघपु चायदोयक्का !! ॥

भावार्थ : इस गीतके इन चरणोंमें, प्रत्येक गोपी दुसरी गोपीकी माध्यम मानते श्रीकृष्णसे साडियोंके रंग और रूपको वर्णन करती है. "ओ (अक्का!) दीदी! मेरी साडी फलाना रंगकी है फलाना रंगकी है."

(श्रीकृष्णका उत्तर)

ओंदु चेतनु म्रोक्किते चीरेलु ओयक्क इच्चेदनु !
रेंडु चेतुल म्रोक्किते वलुवलु रक्षणमय्येनु ! ॥

भावार्थ : श्रीकृष्णने उत्तर दिया : हे गोपियां, आपलोग मुझे एक हाथसे अभिवादन करनेसे साडियां कैसे मिलेंगी? दोनो हाथ जोडके आप मुझे प्रणाम करनेसे आपको साडियां मिलेंगी और आपकी लज्जाका रक्षण होगा.

(गोपकन्याओंसे श्रीकृष्णकी स्तुति, श्रीकृष्णका वरदान)

किंकण स्वरमुलु गौळस्वरमुलु म्रोयगानु

कोंकोक चेतुलु विडिचि पेट्टि गोविंद हरि यनरे!!॥

भावार्थ: गोविंदा! हरि! बोलते, लज्जा अनुभव करते, कर्धनीकी आवाजके साथ, दोनो हाथ उठाकर गोपियोंने श्रीकृष्णको नमन किया और साडियां मांगी.

सुरलु पूलवान कुरियगानु
सुरदुंदुभुले म्रोय सागेनु
हरि अच्युतुंडपुदु वच्चि
वर(मुलिच्चे निच्च) मेच्चि!॥

भावार्थ: उस समय आकाशसे पुष्प वृष्टि हुई. दुंदुभी बजाइ गयी. (अच्युत हरि श्रीकृष्ण) गोपियोंकी प्रशंसा करते हुए, उन्हें साडियां देदी और कामित वरभी दिया.

माटलेरुगकुन्न मातो (नाट)लाडे
(मधुनि)कुंज प्रियुडु हरिये!
(पेटंचु चीरेल पेर्मिनि)मा स्वामि
पेट्टे माकोंगोट्लु(सरिये)!॥

भावार्थ: गोपियां एक शब्दभी बोल न सकी. मधुनिकुंजप्रिय श्रीकृष्ण तब गोपियोंकी पहने हुए साडियों पकडके उनके साथ खेलने लगा.

(फलश्रुति)

नाचारम्मा कट्टिन पाटा नामसंकीर्तनमु
वाचवुलार चदिविन विनिना पाडिना पुण्यम्मु!॥

भावार्थ: नाम संकीर्तन रूपवाला यह नाचारम्माका गीत जो प्रीतिसे गाता है या सुनता है उसे पुण्य प्राप्त होगा.

सुप्रभातम्मुन शुभगा यशोदा
विप्रुल पिलिपिंचि विनयम्मुतोनु
बालकृष्णम्म शुभचंद्र तारा
बलमुल (मरि) लग्न (बल) मुलनड्डुग॥

तेलुगु पद अर्थ:
सुप्रभातम्मुन = सुप्रभातसमयमें
शुभगा यशोदा विप्रुल पिलिपिंचि = ब्राह्मणोंको बुलाकर
विनयम्मुतोनु = सविनय
बालकृष्णम्म = शिशुबालकृष्णके बारेमें
शुभचंद्र तारा बलमुल मरि (मरियु) = और
लग्न (बल) मुलनड्डुग = लग्नबलके बारेमें पूछा

भावार्थ: शुभगा यशोदाने पंडितोको प्रात:कालमें बुलाकर उन्हें विनयपूर्वक अपने शिशु श्रीकृष्णके शुभचंद्र, ताराबल, लग्नबलोंके बारेमें पूछा.

नल्लन्नि कस्तूरि तेल्ल कप्पुरमु
(चल्लनि)गंधमु सरिपडजेसी,
अल्ल श्रीगंधम्मु सरिपडजेसी
मेल्लन अन्नकु मेयि पूत पूसि
लेक-(नल्लनि अन्नकु नयनमु तेलुपे)?॥

तेलुगु पद अर्थ:
नल्लन्नि कस्तूरि = काली कस्तूरि
तेल्ल कप्पुरमु = सफेद कपूर

(चल्लनि)गंधमु = ठंडा चंदन
सरिपडजेसी, = जैसे अच्छा हो वैसे
अल्ल श्रीगंधम्मु = श्रीचंदन
सरिपडजेसी = जैसे अच्छा हो वैसे
मेल्लन = सुकुमारताके साथ (या धीरे धीरे)
अन्नकु = श्रीकृष्णको
मेयि पूत पूसि = शरीर पर लेपन करके
(लेक = या)
नल्लनि अन्नकु = काले रंगके श्रीकृष्णके
नयनमु = आंखे
तेलुपे = सफेद

भावार्थ : काली कस्तूरि, सफेद कपूर, ठंडा (ठंडक पहुंचानेवाला) श्रीचंदन इन सबको अच्छे प्रकारसे (जैसे अच्छा होता है उस प्रकार) श्यामसुंदर श्रीकृष्णको लेपन किया.

कांचनमयमैन गज्जेल्लु म्रोय
नंचनडकल (वच्चिरतिव)लंदरुनु
मोलनूलु गंटलु मुरवैरि कटिनि
तुललेनिपतकालु तोडगिरातोडवु * ॥

* "तोडगिरातोडवु" यह "पादांतमकुटम" है.

तेलुगु पद अर्थ:
कांचनमयमैन = सोनेसे बने हुए
गज्जेल्लु = घुंघुरू
म्रोयनंचनडकल = **म्रोयनु + अंचनडकल**
म्रोयनु = आवाज करते हुए

अंचनडकल = हंसकी चाल चलते हुए
वच्चिरतिवलंदरुनु = वच्चरि + **अतिवलु + अंदरुनु**
वच्चरि = आयीं
अतिवलु = स्त्रीयां (गोपीयां)
अंदरुनु = सबके साथ
मोलनूलु = कटिसूत्र
गंटलु = छोटी घंटियां
तुललेनि = तोल न सके
पतकालु = आभरण
तोडगिरातोडवु = ये सब (अच्छी तरह) पहनाया

भावार्थ : सोनेकी घुंघुरोंकी आवाज करते हुए, सब व्रजवासी गोपीयां वहां आयी. मणिमयोसे सजे हुए, सुंदर घुंघुरूवाला और छोटी घंटीयोंकी हलकी आवाज करनेवाला कटिसूत्र, श्रीकृष्णको उन्होंने पहना दिया.

(इस गीतमें श्रीकृष्णको गोदमें लेनेके लिए गोपीयां "मुझे दो मुझे दो" बोलती हुई मांगती थी.)

(पल्लवि) आवला ईवला वनितलु पाड
आवलिंचेने श्रीवल्लभुडु
जो जो जो जो॥

तेलुगु पद अर्थ:
आवला ईवला = उस तरफ, इस तरफ
वनितलु = स्त्रीयां (गोपियां)
जो, जो, जो, बोलते
पाड = (लोरियां) गाते समय
आवलिंचेने = (नींद आनेसे श्रीकृष्णजी) जंभाई लिया.

भावार्थ : दोनो तरफसे गोपियां (झूले) पालनेको झुलाते, लोरियां (गीत) गा रहीं थीं. लोरियां सुनते-सुनते श्रीवल्लभ श्रीकृष्णको नींद आ गयी.

इव्वंडे कृष्णाम्मनु, गोर्वधनुण्णि
इव्वंडे कृष्णाम्मनु नारायणुन्नि
इव्वंडे कृष्णाम्मनिंतुलचेतुलकु
इव्वंडे पन्नुंड तोट्ल यशोदोम्मकुनु
इव्वंडे !॥

तेलुगु पद अर्थः
कृष्णाम्मनु = कृष्णको
गोर्वधनुण्णि = गोर्वधनधारिको
इव्वंडे = देदो
कृष्णाम्मनु = कृष्णको
नारायणुन्नि = नारायणको
इव्वंडे = देदो
कृष्णाम्मनिंतुलचेतुलकु = कृष्णाम्मनु + इंतुल + चेतुलकु
कृष्णाम्मनु = कृष्णको
इंतुल = स्त्रीयों (गोपियों)के
चेतुलकु = हाथोंमें
इव्वंडे = देदो
पन्नुंड = सुलानेके लिये
तोट्ल = पालना पर
यशोदोम्मकुनु = यशोदामायीको
इव्वंडे = देदो

भावार्थ : श्रीकृष्णको गोदमें लेनेके लिये गोपियां एक दूसरेसे मांग रही थी. 'गोर्वधन, नारायण' आदि नामोंको लेते हुए उन्हे (श्रीकृष्णकों) एक दूसरेसे ले रही थी. श्रीकृष्णको नींद आ रही थी. वे लोग उन्हें सुलानेके लिये यशोदामायको देना चाहती थी.

मलहरी, श्रीमालवी गौळ,
ललित, गुज्जरि, रामक्रियल,
ललितमैन श्री रागमुतोनु,
(वलगोनि) कूडरे पाडरे वच्चि आवला !॥

तेलुगु पद अर्थः
मलहरी, श्रीमालवीगौळ, ललित, गुज्जरि, रामक्रियल, ललितमैन श्री
रागमु = सबके सब रागोंमे
वलगोनि = कृष्णके चारों ओर घेरनेके लिये
वच्चि = आकर
कूडरे = इक्कठा हो जाइये
पाडरे = गीत गाइये

भावार्थ : गोपियां एक दूसरे को बुलाते श्रीकृष्णको सुलानेके लिये वहां आई. श्रीकृष्णको घेरकर वे मलहर, मालवीगौळ, ललित, गुज्जरि, रामक्रिय और श्री आदि कई रागोंमें गीत गा रही थी.

(पल्लवि) पवलिंचरा पूल पानुपु मीद
नवनीतचोरा ! चिन्नारि गोपाला !॥

तेलुगु पद अर्थः
पवलिंचरा = सो जाओ
पूल = फूलोंके

पानुपु = शय्याके
मीद = उपर
चिन्नारि = छोटा

भावार्थ : छोटा नवनीतचोरा! गोपाला! (हे श्रीकृष्ण!) फूलोंकी शय्या पर सो जाओ.

वेदमुल कंबमुलु वीलुगा निलिपि
आदिपुराणमुय्यालगा गट्टि
आ दशावतारिनुय्याललो बेट्टि
आदिवराह! पाडेदमु इटु वच्चि
पवळिंचरा!॥

तेलुगु पद अर्थ:
वेदमुल = वेदोंके
कंबमुलु = खंबे
वीलुगा = अपने अपने स्थलमें (अच्छी तरह)
निलिपि = खडे करके
आदिपुराणमु = आदिपुराणको
उय्यालगा = पलना (झूला)
ग(क)ट्टि = बांधकर (या बनाकर)
इटु वच्चि = यहां आकर
आ = वह
दशावतारिनि = दशावतार(वाले) भगवानको
उय्याललो = पलनेमें (झूलेंमें)
बे(पे)ट्टि = लेटाकर
पाडेदमु = (हम) गा रहें हैं

भावार्थ : वेदोंको खंभ बनाकर और पुराणोंको पालना (झूला) बनाकर, झूलनेवाले दशावतारी श्रीकृष्णभगवानको गोपियोंने पालने (झूले)में लेटा दिया. आदिवराह आदि नामोंसे उन्हें संबोधित करते वे गा रही थी.

पालमुन्नीटिलो फणिराजशयना
(ओलि)नुय्यालूगु ओ जलधिशयना
(चालि) नवरत्नमुत्याल जालरुलु
(पालवेल्लिनि मीरु) पट्टुपुट्टमुलु
पवळिंचरा!॥

तेलुगु पद अर्थ:
पालमुन्नीटिलो = **पाल + मुन्नीटिलो**
पाल = क्षीर
मुन्नीटिलो = समुद्रमें
फणिराज शयन = शेषशयन!
(ओलि)नुय्यालूगु = ओलिन् + उय्याल + ऊगु
ओलिन् = अच्छी तरह
उय्याल = झूला
ऊगु = झूलने वाला
चालि नवरत्नमुत्याल जालरुलु = सुंदर मोतियों सहित नवरत्नोंसे सजाये हुए कंठाभरण (नेकलेस)
पालवेल्लिनि = पाल + वेल्लिनि
पाल = क्षीर
वेल्लिनि = समुद्रसे
मीरु = अधिक (सफेद, सुंदर)
पट्टु = रेशमी
पुट्टमुलु = वस्त्र (धारण किया हो)

भावार्थ : क्षीरसमुद्रसे अधिक सफेद वस्त्र, मोतियों सहित नवरत्न कंठाभरण धारण करके, क्षीरसमुद्रमें फणिराज शेषनाग पर लेटकर झुला झूलनेवाला महाविष्णुरूप श्रीकष्णभगवानको 'आदिवराह' आदि नामोंसे संबोधित करते गोपियां गीत गा रही थी.

पट्टुपुट्टम्मुलु बागुगा जुट्टि,
(पेट्ट)नाभरणालु पेनुपोंदबेट्टि
इष्ट सखुलेल्लरु निंपुगाजुट्टि
पट्टूचिरि यशोदपट्टि चेपट्टि
पवलिंचरा॥

तेलुगु पद अर्थः

पट्टुपुट्टम्मुलु = रेशमी वस्त्र
बागुगा = शृंगार रीतिसे अच्छी तरह
जुट्टि = (लपेटकर) पहनाकर
पेट्टनाभरणालु = धारण करने योग्य आभरण
पेनुपोंदबेट्टि = अच्छी तरह अलंकृत करके
इष्टसखुलेल्लरुन् = इष्ट + सखुलु + एल्लरुन्
इष्ट = इष्ट
सखुलु = सखियां
एल्लरुन् = सब
इंपुगाजुट्टि= इंपुगा + चुट्टि
इंपुगा = अच्छी तरह
चुट्टि = (पलनेको) घेरके
पट्टूचिरि = पट्टि + ऊचिरि
पट्टि = (पलनेको पकडकर)
ऊचिरि = झूला झूल रही थी

भावार्थ : श्रीकृष्णको रेशमी वस्त्र पहनाकर, अनेक प्रकारके जेवरसे उन्हे अलंकृत करके, सारी गोपियां पलनेमें लेटे हुए यशोदाके लाला श्रीकृष्णको चारों ओर से घेरकर पलना झुलाते सुला रही थी.

(छोटे बच्चोको सुलानेके लिये ''जो, जो'' कहते गानेवाली लोरीको तेलुगुमें ''जोलपाटा'' कहते हैं. इस गीतमें भगवानके नाम हैं)

गोकुलपति जो जो! गोविंद जो जो!
रुक्मिणीपति माधव जो जो!
पद्मनाभा पुरुषोत्तमा जो जो!
श्रीमदनसुंदर दामोदरा जो जो!
कृष्ण परमानंदरूप गोविंदा!
गोकुलापति जो जो! गोविंद जो जो!॥

भावार्थ : इस लोरीमें गोपियां श्रीकृष्णको भगवानके अनेक नामोंसे पुकारते, जो जो, कहते सुला रही थी. इस चरणमें वे श्रीकृष्णको ''गोकुलपति, गोविंद, श्रीरुक्मिणीपति, माधव, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम, मदनसुंदर, दामोदर, कृष्ण, परमानंदरूप, गोविंद, जो जो, कहते गा रही थी.

अज्ञानतिमिरम्मुनणगिंचिनाडे
सुज्ञानदीपम्मु चूपिंचिनाडे
निर्गुण रूपमु* (नेरि) निल्पिनाडे
सागरम्मनुदोट्ल शयनिंचिनाडे
वटपत्र शयनुडै पवळिंचिनाडे
(नटन) गोपालुडे (ना) पालि गुरुडु॥

* - तत्त्वमु

तेलुगु पद अर्थ:

अज्ञानतिमिरम्मुनणगिंचिनाडे = अज्ञानतिमिरम्मुनु + अणगिंचिनाडे
अज्ञानतिमिरम्मुनु = अज्ञानांधकारको
अणगिंचिनाडे = नीचे दबा दिया है
सुज्ञानदीपम्मु = सुज्ञानरूप ''दीये''को
चूपिंचिनाडे = दिखाया है
निर्गुणरूपमु (तत्त्वमु) = निर्गुणतत्त्व(रूप)को
नेरि निल्पिनाडे = अच्छी तरह खडा कर दिया है
सागरम्मनुदोट्ल = सागरम्मु + अनु + तोट्ल
सागरम्मनु = समुद्ररूप
तोट्ल = पालनेमें
शयनिंचिनाडे = शयन किया है
वटपत्र शयनुडै = वटपत्रको शय्य करके
पवळिंचिनाडे = सोया है
नटन गोपालुडे = एसे नटन करनेवाला गोपाल ही
ना पालि गुरुडु = मेरा गुरू है

भावार्थ : हे श्रीकृष्ण! आपने सुज्ञान दीपको दिखाकर अंधकाररूपी अज्ञानका निवारण किया है. निर्गुण (रूपको) तत्त्वको स्थापित किया है. आप क्षीरसमुद्रको पालना बनाकर वटपत्रको शय्या करके सोते हैं. ऐसे नटन गोपालरूपमें आप मेरे गुरु है. गोकुलपति जो जो, गोविंद जो जो.

(छोटे बच्चोंको सुलानेके लिये ''लालि लालि'' कहते गानेवाली लोरीको तेलुगुमें ''लालिपाट'' कहतें हैं.)

(पल्लवि) लाली लालम्म लालि लाली!
उय्याललोनि बालुनूचरम्म लाली!॥

तेलुगु पद अर्थ:

उय्यललोनि = पालनेमें लेटे हुये; **बालुनूचरम्म** = बालुनि + ऊचरम्मा **बालुनि** = बालकको
ऊचरम्म = झुलायिये

भावार्थ : (पल्लवि) लाली! लाली! लालम्म लाली! पालनामें लेटे हुए बालकको लालम्म लाली.

धातकु तातयैन तंड्री लाली
भूतकीनि मट्टु पेट्टिन पुत्र लाली!
लालम्म लाली!॥

तेलुगु पद अर्थ:

धातकु = ब्रह्माका
तातयैन = पिता
तंड्रि = हे पिता (संबोधन)
भूतकिनि = पूतनाको
मट्टु पेट्टिन = मारनेवाला
पुत्र = बेटा, लाली.

भावार्थ : सृष्टिकर्ता ब्रह्माके पिता को लाली. राक्षसी पूतनाको मारनेवाले श्रीकृष्णको लाली.

वंतुलेनियट्टि रूपवंत लाली!
श्रीकंतूगन्नट्टि तंड्रि कन्न लाली!
लालम्म लाली!॥

तेलुगु पद अर्थ:

वंतुलेनियट्टि = जिसके रूपको किसी से तुलना नहीं हो सकती है उस

रूपवंत = रूपवाला श्रीकृष्ण

श्रीकंतुगन्नट्टि = श्रीकंतु + कन्नट्टि **श्रीकंतु** = मन्मथको

कन्नट्टि = उत्पन्न किये

तंड्रि = पिता, (भगवान)

कन्न! (संबोधन) = मेरे लाला! लालि.

भावार्थ: जिनके रूपकी किसीसे भी तुलना न कर सकते हैं, उन श्रीकृष्णको लाली, (शृंगार रूपधारि) मन्मथका पिता, श्रीकृष्णको लाली.

अपुरूपमैन चिन्नियन्न लाली!
कृपजूडुमय्य श्रीकृष्ण लाली!
लालम्म लाली!।।

तेलुगु पद अर्थ:

अपुरूपमैन = अपूर्वरूपवाला

चिन्नियन्न (संबोधन) = चिन्न + अन्न

चिन्नि = छोटा

अन्न = (भाई) लाला

कृप = कृपा करके

जू(चू)डुमय्य = देखो (हम पर कृपा दिखाओ), श्रीकृष्ण! लालि.

भावार्थ: अपूर्वरूपवाला श्रीकृष्णलालाकी लाली. हे कृष्ण! तुम्हारी कृपा हम पर दिखाओ. पालनामें लेटे हुए श्रीकृष्णको झुलाइऐ.

(यह गीत श्रीतिरुमल वेंकटेश्वरस्वामीकी स्तुति करते रचा गया है. इस गीतमें, श्रीताळळपाक अन्नमाचार्यजीके संकीर्तनोंका प्रभाव दिखाई

पडता है. शायद यह गीत श्रीमहाप्रभुजीका होगा. श्रीअन्नमाचार्यजी श्रीवल्लभाचार्यजी से बडे थे. लेकिन समकालीन थे इस गीतके पदोंमें और श्रीअन्नमाचार्यजीके एक संकीर्तनके पदोंमें बहुत समानता है. श्रीअन्नमाचार्यजीका यह संकीर्तन श्रीशेषाचार्यजीके एक अमुद्रित लिखित प्रतिमें है. श्रीवेटूरि प्रभाकर शास्त्रीजीके ''अन्नमाचार्य चरित्र''में इसे देख सकते हैं.)

(पल्लवि) (कंटि) निलुवु चक्कनि मेनु दंडलु!
नंटुजूपुलु चूचु नवमदन देवुनि! कंटि कंटि।।

तेलुगु पद अर्थ:

कंटि = देखा

निलुवु = नीचेसे उपर तक

चक्कनि = सुंदर

मेनु = शरीर

दंडलु = (और) भुज

अंटजूपुलु = प्रेमास्पद आकर्षण करनेवाले वीक्षणसे

चूचु = देखनेवाला

नवमदन = बहुत सुंदर

देवुनि = भगवानको

कंटि कंटि = अच्छी तरह देखा

भावार्थ: जिसको नवमन्मथ सुन्दर देह और भुज हैं, जिसके विक्षणसे प्रेमके साथ वे आकर्षित करते हैं, उस भगवानको मैंने अच्छी तरह देखा.

कनकपु जरणालु गज्जेलंदेलुनु,
घनपीतांबरमु पैकट्टु कटारि
(मोनसियोड्डाणमुनु) मोगपुल मोलनूलु,
(ओनर नाभी) कमल (मुदरबंधमुलु)
कंटी कंटी!।।

तेलुगु पद अर्थ:

कनकपुजरणालु = सोनेके चरण

गज्जेलंदेलुनु = पायल और नूपुर

पीतांबर पैकट्टु = (उनके उपर) पीतांबर पहना है

कटारि = खड्ग (धारण किया है)

मोनसियोड्डाणमुनु = सुंदर मेखला

मोगपुल = सुंदर दिखनेवाला

मोलनूलु = कटिसूत्र

ओनर नाभीकमलमु = नाभीप्रदेशमें कमल(पद्म)

उदर बंधमुलु = उदरबंध

कंटि = मैनें देखा.

भावार्थ : (भगवानको) श्रीवेंकटेश्वरस्वामीको मैने देखा. उनके सोनेके चरणके उपर पायल और नुपूर हैं. वे पीतांबर धारण किये हैं. उनके कमर पर सुंदर मेखला है. उस मेखलाके नीचे कटिसूत्र पहना हुआ है. ऐसे सुंदर नव मन्मथाकार भगवान (श्रीवेंकटेश्वरस्वामी)को मैने देखा, मैने देखा.

गरिमनभयहस्त कटिहस्तमुलुनु,
सरस किंकिणी शंख चक्र हस्तमुलु ,
तरुणि यलिमेल्मंग ताळिपद्मलुनु ,
उरमुन कौस्तुभमोप्पैन हारमुलु,
कंटि! कंटि!॥

तेलुगु पद अर्थ:

गरिमनभयहस्तकटिहस्तमुलुनु = गरिमनु + अभयहस्त + कटि हस्तमुलुनु

(भगवानके) गरिमनु = महत्वपूर्ण

अभयहस्त कटिहस्तमुलुनु = अभय हस्त और कटि हस्त

सरस = सुंदर

किंकिणी = कर्धनी (सहित)

शंख चक्र हस्तमुलु = शख और चक्र (धारण किये गये) हस्त

तरुणि = तरुणी (अलिमेल्मंगके)

ताळि = मंगळसूत्र

पद्मलुनु = और उनके चरणपद्म

उरमुन = (भगवानके) छाती पर

कौस्तुभमोप्पैन = कौस्तुभमु + ओप्पैन

कौस्तुभमु = कौस्तुभमणि

ओप्पैन = सुंदर

हारमुलु = कंठहार

कंटि = मैं ने देखा

भावार्थ : भगवानके चार हस्त इस प्रकारके हैं : अभयहस्त, कटिहस्त, किंकिणी सहित शंख और चक्र धारण किये गये दो हस्त (कुल चार हस्त). भगवानके छाती पर अलमेल्मंगाके मंगळसूत्र और उनके चरणपद्म, कौस्तुभ और कंठहार शोभा दे रहे हैं. ऐसे श्रीवेंकटेश्वरस्वामीको मैं ने देखा! मैं ने देखा!

कंटिनि कंठसरुलु घनभुजकीर्तुलु
कंटि नेन्नुदुट सिंगार नाममुनु,
(कंटिश्रीवेंकटेशु कर्णपत्रमुलु
कंटि शिरसुन नमरु घनकिरीटमुनु)
कंटि! कंटि!॥

तेलुगु पद अर्थ:

कंटिनि = मैं ने देखा

कंठसरुलु = कंठमे धारण किये हार

घन = बहुत सुंदर
भुजकीर्तुलु = भुजपर अलंकृत आभरण
नेन्नुदुट = कालप्रदेशमें
सिंगार = शृंगार
नाममुनु = ऊर्ध्वपुंड्र
कर्णपत्रमुलु = कर्णपत्र
शिरसुनन् = शिरपर
न(अ)मरु = शोभा देने वाला
घनकिरीटमुनु = श्रेष्ठ किरीट
कंटि कंटि = देखा, देखा

भावार्थ : भगवान श्रीवेंकटेश्वरस्वामीके गलेमें कंठाभरण है. उनके बाहोंपर बाजुबंदु (भुजकीर्ती) हैं. उनके फालभागमें सुंदर तिलक (उर्ध्व पुंड्र) है. ''कर्णपत्र'' उनके कर्णोंपर अलंकृत किया गया है. उनके सिरपर शोभायमान उत्तम किरीट है. ऐसे श्रीवेंकटेश्वरस्वामीको मैने देखा!

వల్లభాచార్యుల తెలుగు పాటల వ్రాతప్రతిలో మరికొన్ని కొత్త పాటలు

– ఆచార్య వేటూరి ఆనందమూర్తి

1.0 ముంబైలోని వల్లభాచార్య పీఠాధిపతి పరమ పూజ్య శ్రీశ్యామమనోహర పాటలున్న తొమ్మిది పుటల ప్రాచీన కాగితపు వ్రాతప్రతిని పరిశీలించి డిసెంబరు 2007 రసమయి పత్రికలో ప్రకటించిన నా వ్యాసాన్ని చూచి అనుకూలంగా స్పందించిన ఆ పీఠాధిపతులు మరో 44 పుటల వ్రాతప్రతిని డా॥ బలజపల్లి వేంకట శ్రీరామచంద్ర మూర్తి గారి మూలంగా పరిశీలనార్థం నాకు పంపించారు. అది పూర్వపు వ్రాత ప్రతి కన్నా మేలైన వ్రాతతీరు గలది. లిపి నాగరిలిపి. పాటలూ ఎక్కువగా తెలుగుపాటలే. అవీ వారు 16 తరాలుగా తమ పీఠంలో భద్రపరచుకొంటూ వస్తున్న వారసత్వపు నిధులు. ఇవి వల్లభాచార్యులవారు సమకూర్చుకొన్న వ్రాతప్రతి మాతృకలకు ఎన్నో తరం పుత్రికలో తెలియదు కానీ చాలా శిథిలమైన భాషరూపాలతో ఉన్నవి. భాషా తెలుగని స్పష్టమవుతున్నా అందులోని భావసౌష్ఠవం గానీ, భాషచ్ఛందోరూపాలు గానీ గుర్తింపనలవి కానంతగా రూపు చెడి ఉన్నవి. ఎంతో జాగరూకతతో పరిశీలించి పరిష్కరిస్తేనో, పూరిస్తేనో కానీ, వాటి స్వస్వరూపం తెలియరానట్లుగా ఉన్నవి. అట్టి కృషిని తెలుగు వారి బాధ్యతగా స్వీకరించి, స్వామి అనుగ్రహంతో వాటి నేనాటికైనా ఒకదారికి తెచ్చి తెలుగు వారికి సమర్పించగల్గుదుము గాకని కోరుతున్నాను. ఈ విషయమై వల్లభ పీఠం వారు వహించిన శ్రద్ధకు, ఆ నిధిని అందించడంలో చూపిన ఔదార్యానికి వారికి జోహారు లర్పిస్తున్నాను.

2.0 సంశ్లిష్టంగా ఉన్న ఈ 44 పుటల వ్రాత ప్రతిలో ఇప్పటికి నేను చూచినంతలో చిన్న, పెద్ద పాటలన్నీ కలుపుకొని ఇంచు మించు 42 పాటలున్నట్లుగా గుర్తించాను. గుర్తించిన మేరకు ఆ పాటల పట్టికను కూడా ఈ వ్యాసంలోనే జతచేస్తున్నాను. వల్లభ పీఠం వారు భావించినట్లుగా ఇందులో అనేకం వల్లభాచార్యుల వారి తెలుగు పాటలే కావచ్చును. కాని సోపపత్తికంగా ఇతరులవిగా గుర్తింపదగిన పాటలు మరికొన్ని కూడా ఈ వ్రాతప్రతిలో కాలాంతరాన చేరుతూ వచ్చినట్లున్నవి. ఉదాహరణకు – పుట 12–పాట 12– 'కంటి కంటి' అనేది తాళ్లపాకవారిది. రసమయి డిసెంబరు 2007లో ప్రకటితము; పు.42–పా.40 –'ఇట్టిముద్దులాడి' అనేదీ; పు. 37 –పా.38– 'మురహర నగధర' అనేదీ కూడా అన్నమాచార్యుల వారిదే. ఇవి మూడూ తిరుపతి ప్రతులలో ఉన్నవి. ఇక పు. 38 –పా. 35 'నల్లని మేనుకు'; పు. 42–పా.39 'ఇంతులాలా'; పు. 30 – పా 30 'శంకు చేతపట్టుకొన్న'; పు.20–పా. 18 'కనకాచల సమధీరం'; పు–21 – పా.15 'వందే శ్రీ రఘురామం' అనేవి కొన్ని తాళ్లపాక వారి రచనలుగా అనుమానింపదగినవి; వల్లభాచార్యుల వారివి కావడంలోనూ ఆశ్చర్యం లేదు. తాళ్ళపాక వారి పాటలకు ఒక సమగ్ర బృహదకారాది పట్టిక అందుబాటులో లేని కారణంగా ఇవి తిరుపతిలోని రేకులలోనో ఇతర వ్రాతప్రతులలోనో ఉన్నవో లేవో వెంటనే తఱచి పరిశీలించే అవకాశం నాకు కలగనందుకు చింతిస్తున్నాను. ఇక ఇందులోని పు. 37 – పా.31 'శ్రీకృష్ణం కలయసఖి' అనేది శ్రీమన్నారాయణ తీర్థుల వారి తరంగం. అట్లే పు. 24–పా.21 చాలా ముఖ్యమైన జలక్రీడల పాట "నాచారమ్మా కట్టిన పాటా నామా సంకీర్తనమూ" అనే రీతిగా ముద్రాంకితమై ఉన్నది. కనుక ఈ పాట వల్లభుల వారిది కాదు. దీనిని గూర్చిన సంగ్రహ సమీక్ష ఈ వ్యాసంలోనే చూడగలరు. ఈ వ్రాత ప్రతిలోని మరో పాట ఏల పాట. "గులే వారీ యేరా(లా)లు=గొల్ల వారియేలలు)" పు. 36–పా.34 అనేది మార్గాపురమున వెలసిన వెన్నముద్దల చిన్ని కృష్ణుని గూర్చిన ఏల పదము. "నా ముద్దుల-చిన్నారీగుమ్మా॥ నా చక్కని-చిన్ని కృష్ణమ్మా!" అనే సంబుద్ధులతో ఏలా లక్షణముతో, శిథిల రూపాన ఉన్నది. పు. 32–పా.32 – "చందమామ తేవే (రావే) జాబిల్లి తేవే (రావే)" అనే పాతపాట మట్టులో గల చందమామపాట "కందువైన నవఖండ కండ చక్కెర తేవే" అనే ప్రాసబద్ధమైన పల్లవి పాదంతో రుచికరంగా ఉన్నది కానీ పాట మొత్తం శిథిల రూపంతో భ్రష్టమై మధ్య మధ్య మరో ఏల పాటతో కలసిపోయినట్లు కానవచ్చింది. తాళ్లపాకవారూ ఏలలు రాశారు. వల్లభులవారూ వ్రాసి యుండవచ్చు. వల్లభ పీఠం వారు దేశవ్యాప్తంగా ఉన్న తమ పీఠాలలో ఇలాగే ఎక్కడో మరో చోట జాగ్రత్త చేసి యుంచుకొన్న ప్రత్యంతరమో పాఠాంతరమో లభిస్తే తప్ప ఇలాటి పాటల పూర్ణ స్వరూపమెట్టిదో, కర్తలెవరో ఎరుగరాదు. ఈ విషయంలో అన్ని వల్లభ పీఠాలవారి సహకారాన్ని అపేక్షిస్తున్నాను.

3.0 పుష్టి మార్గానికి మూలపురుషులైన శ్రీమద్వల్లభాచార్యులవారి పుత్ర పౌత్ర సంతతితో వర్ధిల్లిన ఈ వంశం వారి చరిత్రను, సంప్రదాయాన్నీ, ఏడు పీఠాలుగా విస్తరిల్లిన వారి వంశావళినీ, సమగ్రంగా గుర్తించి పరిశీలించడానికి ఆచార్యుల వారి మౌలిక రచనలు, వారి రచనలపై శ్రీమూలచంద్ర తెలివార్ (1887–1927) ది వ్రజ ఎఫిలియేట్ రిసెర్చి ప్రాజెక్ట్ అనే సంస్థ పక్షాన జరిపిన తొలి విశిష్ట కృషి, (విశేషాలకు చూ. గూగుల్ సైట్) ఇంకా వల్లభ పరంపరలోని ఈ ఏడు పీఠాలవారూ తమ వద్ద జాగ్రత్త చేసి ఉంచుకొన్న వ్రాత ప్రతులు ప్రధాన ఆకరాలు. వీటిల్లో క్రీ. 1559 ప్రాంతాలలో ఆచార్యుల వారి పౌత్రుడే అయిన యదునాథ్‌జీ రచించిన తాత గారి జీవిత చరిత్ర "శ్రీమద్వల్లభ దిగ్విజయ" మనే చంపూ కావ్యం చాలా ప్రధానమైనది. వీటితో పాటు దైవ కృపవలన మన కీనాటికీ శ్రీ మద్వల్లభాచార్యుల వారి తెలుగు పాటలుగా వెల్లడై గుర్తింప దగినవి కొన్నైనా లభించటం తెలుగు వారు చేసుకొన్న సుకృతమే.

4.0 క్రీ.శ. 15, 16 శతాబ్దుల కాలంలో మహాకవులై, గురువులై, పదకవులై, పండితులై, మహామహులై, విఖ్యాతి కెక్కిన తాళ్లపాక పద కవిత్రయం వారి కించు మించు సమకాలికులై వర్ధిల్లిన ఆచార్య పురుషులలో కాలక్రమాన అన్నమాచార్యులు (జననం 1424), వ్యాస యోగి వర్యులు (జ.1446), వల్లభాచార్యులు (జ.1479) ప్రముఖులు. వీరిలో తొలి వారైన అన్నమాచార్యుల వారి జీవిత చరిత్రను తెలుగులో ద్విపదచ్ఛందంలో రచించి అలాటి చారిత్రక జీవిత కావ్య రచనా ప్రక్రియకు శ్రీకారం చుట్టిన వాడు కథా పురుషుని పౌత్రుడే అయిన తాళ్లపాక చినతిరువేంగళనాథుడు (చిన్నన్న నామకుడు) కాగా, ఆ స్ఫూర్తి నంది పుచ్చుకొన్నట్లు వల్లభాచార్యుల వారి జీవిత చరిత్రను శ్రీమద్వల్లభ దిగ్విజయమనే పేరున సంస్కృత భాషలో కావ్య బద్ధం చేసిన వాడు ఆచార్యుల వారి పౌత్రుడైన యదునాథుడే. అలాగే వ్యాసరాయలుగాను, వ్యాస యోగిగాను ప్రసిద్ధులైన ఆచార్యవర్యుల జీవితాన్ని వ్యాసయోగి చరితమనే చంపూ కావ్యంగా సంస్కృతంలో రచించినవాడు సోమనాథ కవీశ్వరుడు. క్రీ.శ. 1537కి పూర్వమే అన్నమాచార్య చరిత్రను

రచించిన తిరువేంగళనాథుడు, 1559 ప్రాంతాల్లో వల్లభ దిగ్విజయాన్ని కూర్చిన యదునాథుడు, వ్యాసయోగి చరిత్ర (1535) కర్త సోమనాథుడు అనే "నాథకవిత్రయం" ఆచార్య పురుషత్రయమైన అన్నమాచార్య, వల్లభాచార్య, వ్యాసాచార్యుల జీవన సందేశాలను చిత్రించిన కవి చరిత్రకార త్రయంగా గుర్తించ వచ్చును.

4.1 ఈ మూడు గ్రంథాలూ కూడా వాటి అవతరణం తర్వాత చరిత్ర గర్భంలో కొన్ని శతాబ్దుల పాటు ఆయా కుటుంబాల, పీఠాల వారి పరిరక్షణ లోనే దాగియుండి 20వ శతాబ్దంలో వెల్లడి కావడం మరొక దైవ ఘటన. ఈ మూడు గ్రంథాలూ సమర్థుల చేతుల్లో సుపరిష్కృతాలై విలువైన పీఠికలతో వెల్లడి కావడం ఆ మధ్యయుగంలో తెలుగు నాట వెల్లివిరిసిన భక్తి భావ వైభవానికీ పదకవితా ప్రాభవానికీ ఎత్తిన వైజయంతీ పతాకలనవచ్చు. ఈ గ్రంథాలు మూడు అన్ని భాషలలోనికి అనువదింప బడి ఇతర చారిత్రక గ్రంథాలతో తులానాత్మకంగా పరిశోధింప బడాలని నా ఆకాంక్ష. సాళ్వ నరసింహ రాయని ఉదంతం తర్వాత దేవబయకారులైన తాళ్లపాక పదకవులను సత్కరించసాహసించని విజయనగర ప్రభువులు తమ అవచారాన్ని దిద్దుకొన్నట్లుగా తక్కిన యిద్దరు ఆచార్య పురుషులను అపూర్వంగా సమ్మానించినట్లు చరిత్ర చెబుతున్నది. వ్యాస యోగి వర్యులకు రాయసింహాసనాన్నిచ్చి రత్నాభిషేకం చేసి వ్యాసరాయ నామాన్ని సుప్రతిష్ఠితం చేసినట్లే, కాస్త ముందు వెనుకలుగా వల్లభాచార్యుల వారికీ తమ ప్రేరణతో, 27 రోజుల పాటు సాగిన పంచమతాచార్యుల చర్చా గోష్ఠితో, పాలికేళ్లు నిండని శ్రీమద్వల్లభాచార్యుల వారిని విజేతగా ప్రకటించి కనకాభిషేక గౌరవాన్ని కల్గించిన ఘనత కూడా నాటి విజయనగర ప్రభువులదే. రాయలవారి ఆముక్త మాల్యదలోని సంవాద విజయకథా ఘట్టాలకు, దాసరిగాన కైంకర్య కథా సన్నివేశాలకు ఇలాటి చారిత్రక సన్నివేశాలే స్ఫూర్తినిచ్చినవేమో! వ్యాసయోగి సమక్షంలో వల్లభాచార్యుల వారికి జరిగిన కనకాభిషేక సందర్భంలో కుమ్మరించిన మాడల్లో లాంఛనంగా ఒకటి పుచ్చుకొని ఆ సొమ్ముతో హంపిలోని విఠలాలయ ప్రాదుర్భావానికి దోహదం చేసిన వల్లభులవారు తక్కిన సొమ్మునక్కడి సామాజికుల శ్రేయస్సుకే వెచ్చించారని చారిత్రక సంప్రదాయ కథనమున్నది. "A snapshot of the time when Sri Vyasaraya was the chancellor of the university of vijayanagar is preserved in Goda's sampradaya kula Dipika in the third prakarana, where it is said that vyasa thirtha presided at an assembly when vallabhacharya visited vijayanagar in the time of Sri Krishna Devaraya" (See Para 84 of the Madras Epigraphical Report for 1922-23) Appendix Page 16 Sri vyasayogi charitam The life of Vyasaraja- Pub. 1926.

5.0 ఇప్పుడిక వ్రాతప్రతిలోని కొన్ని పాటల పరిశీలనం. వ్రాతప్రతిలోని క్లిష్టతను, రూపు చెడిన పాట వైఖరిని సూచించడానికి అన్నమాచార్యుల సంకీర్తనంగా గుర్తించబడిన "ఇట్టి ముద్దులాడి బాలుడేడ వాడే" (క్రొత్త.5-148) అనే పాటను ఉదాహరిస్తున్నాను (చూ.వ్రాత ప్రతి నకలు). "గ్రాంమిడి తాననవచ్చీ కాంగె ఇట్టీ పాలలోనె చింమకూల కడియాల చేతఃవిట్టి॥ చీమ గోటే నన్నే తన్నాచి కీటగన్నీల గార అహో చేలవీడకింతు ఉద్దీచునే॥ ఇంటి ముద్దు లాడీ బాలల గలడమలా ఈవీ ముద్దులాడీ బాలలగలడుమ లాందీడ పటే తిచే పోటే నిడా పాల పోయరే॥" తేకు పాఠం లేక పోతే అసలీ పాట నర్థయుక్తితో ఉద్ధరించి "సంస్కరించడం సాధ్యమయ్యే పనేనా?! మొత్తం పాటలోని వ్రాత తప్పులు, శిథిల భ్రష్ట రూపాలు అటుంచి "అపూడ ఈనా వింకటాద్రి = అప్పుడైనా వేంకటాద్రి" ముద్రతో పాటు "అపుడ ఈ నా గోవర్ధనాద్రీ హస్తమల్లా

'గ్రాంమిడి తానన వచ్చీ..' పాట వ్రాత ప్రతి నకలు

నోచేనమా వాలల్లోలో కూడ ఆడపోయ అడనే" అనే ముద్రాంతర పాఠాంతరాల చేరిక వ్రాత ప్రతిలోని క్లిష్టతను, శిథిల రచనా రూపాన్ని సూచిస్తున్నది. పరిష్కృతములైన తేకు పాఠాలెంత మెరుగైనవైనా 'అసవాలకుడుగాన', 'తప్పకుండ బెట్టి (బట్టి?) వాని తలకెత్తరే' వంటి చోట్ల ఇంకా స్పష్టత లేదనిపిస్తున్నది. ఈ వ్రాతప్రతి పాఠం అస్పష్టంగా ఉన్నది. తేకులోని "అసపాలకుడు" గాన అనే పదం నిఘంటువుల కెక్కినట్లు లేదు. శక్తి సామర్థ్యాలు కలవాడు అనే అర్థాన్ని ప్రశ్నార్థకంతో నా పరిశోధనా వ్యాసంలో (1976) సూచించాను. ఇది వరకు పేర్కొన్నట్లు (రసమయి - డిసెంబరు, 2007 పు. 16), తిరుపతి పాఠంలో లోపించిన ఒక పాదాన్ని పూర్తిగా అందించిన వల్లభాచార్యుల వారి వ్రాతప్రతి ఈ సన్నివేశంలో అంత సహాయకారి కాకున్నది. అయినా ఈ పాటకు పశ్చిమ భారతంలో ఎంత ప్రచారం లభించినదో ఈ వ్రాత ప్రతిలోని సంకీర్తన పాఠం వెల్లడిస్తున్నది. ఇట్లా దేశంలోని పలు ప్రాంతాల వారైన భక్తుల వాగ్వ్యవహారంలో చొచ్చుకుపోయినట్లే అందమైన ఈ పాటలోని భావ సంపద నాటి శిల్పుల్నీ ప్రభావితం చేసినట్లున్నది. "కాగేటి వెన్నలోన (పాలలోన) చేమ పూవు (పూల) కడియాల చేయివెట్టి" అనే సన్నివేశాన్ని చెక్కిన విజయనగర స్తంభ శిల్పాన్నొక చోట చూశాను. (అదియిప్పు డెక్కడున్నదో! నా గుర్తులోనూ లేదు). తిరిగి ఆ శిల్పం ఉనికిని వెదికి పట్టుకోవాలి!

5.1 ముగ్ధ మోహన మైన ఈ పాటను గురించి చెప్పుకోవలసిన చమత్కార మొకటుంది. తిరుపతి రేకుల్లోని యీ పాట రాళ్లపల్లి వారి పరిశీలనలో పొరపాటున జారిపోయి, గౌరిపెద్దివారి సూక్ష్మ దర్శనంలో ఎలా బయటపడి గ్రంథస్థమైనదో తెలుసు కోవాలనే కుతూహలం గలవారు సంపుటం 12-148, క్రొత్త 5-పీఠిక చూడదగుదురు. వ్రాతప్రతిలో ఈ పాట, చరణంతో ఆరంభించి, పల్లవినందు కొనే పాట పరిపాటి చొప్పుననే వ్రాయబడి ఉండడం గమనార్హం.

6.0 అన్నమాచార్యుల వారి పాట ఎత్తుగడలూ పలుకుబడులూ గలవీ, వల్లభాచార్యుల వారి రచనలూ కాదగినవీ ఈ వ్రాత ప్రతిలో మరి కొన్ని ఉన్నవి. ఇలాటి పాటలన్నీ సుపరిష్కృతములై విడిగా ఒక మోనోగ్రాఫ్ రూపాన ప్రకటించవలసినవే గానీ ఒక చిన్న వ్యాసంలో ఇమిడే అంశాలు కావు. అయినా కొన్నింటినిక్కడ పేర్కొంటాను. అక్కడక్కడ "వల్లభ", "శ్రీవల్లభ" నామం కానవచ్చినా అదే వీరి ముద్రాంకితమని చెప్పడానికి వీలులేకుండా ఉన్నది. శ్రీవల్లభ = శ్రీకృష్ణ పర్యాయంగానూ భావించ వచ్చును. ఈ వ్రాత ప్రతిలోని జోజో పాటల వంటిదే (రసమయి-డిసెంబరు 2007) "బాలక్రీడలు" అనే పాట ఒకటి "స్త్రీల పౌరాణికపు పాటల సంకలనం"లో ఉన్నది. (చూ.పు. 58-61). పాట చివరన "శ్రీ వల్లభ జోజో.. మంగళకర జోజో మా వల్లభ జోజో; స్థిరముగాను సిరులిచ్చి-ఎప్పుడు-కావవయ్య కృష్ణా!" అని ఉన్నది. ఇక్కడి శ్రీ వల్లభుడు, మా వల్లభుడు శ్రీ కృష్ణుడే. ఒక వేళ శ్రీవల్లభ పదమై ఉంటే స్వామి నామంతో పాటు స్వనామ ముద్ర కూడా ఉన్నదను

కోవచ్చునేమో!

(6.1) పు.1-పా.4 "వేదముల కంబములు వీలుగా నిలిపి" (చూ. రసమయి 12/07) ముద్రితము.

(6.2) 20-18 గోపకిశోరుని గూర్చిన సంస్కృత రచన. వేంకటముద్రలేనిది.

"కనకాచల సమధీరం । కామిత జన (మందారం)
ఘన కౌస్తుభ మణిహారం । గోష్ఠాంగణ సంచారం॥
కలయే గోపకుమారం । గోపీ మానస చోరం ॥
॥పల్లవి॥..."

(6.3) 2-15 శ్రీరాముని మీది సంస్కృత కీర్తనం. వేంకట ముద్ర లేనిది.

"వందే శ్రీరఘురామం- వందిత జగదఖి రామం"
॥పల్లవి॥
దశరథ రాజకుమారం-మునిమానస సంచారం
వననిధి సమగంభీరం - దానవకుల సంహారం॥౧॥
అమర భవార్చిత వేదం-కమల భవార్చిత పాదం
సుమధుర మపగత ఖేదం - విమల నిరంతర మోదం
॥౨॥

తెలుగువారి సంస్కృత రచనల్లో యతి ప్రాసలుంటాయి. ఈ పాటలోని మొదటి చరణంలో యతి ప్రాసల నియతి పాటింప బడక పోయినా రెండో చరణంలో ప్రాసయతి కానవస్తున్నది. పల్లవిలోనూ ప్రాసయతి ఉన్నది. తొలి చరణంలో లేకపోవడం రచనా శైథిల్యానికి సూచకమేమో!

(6.4) చందమామపాట 32-31?

"చందమామ తేవే-జాబిల్లి తేవే
కందువైన నవఖంద కండ చక్కెర తేవే॥
మందలోన నాద కుంద - వందదోలలు తేవే॥
ముత్తి సరులు (?) తేవే-ముఖ్ఖజన్ను తేవే
అత్తిన...? తియ్యని - అటుకులు తేవే॥..."

(6.5) విట్ఠలునిమీది పదము 35-30 వేంకట ముద్రలేనిది.

శంకు చేత పట్టుకున్న - స్వామి విటలా
(మంకుపట్టదేల నీకు-మాను) విట్ఠలా॥
గచ్చుమీరగా పిలచిన (గామ)విట్ఠలా, కళ్ళ
గచ్చకాయ లాయ నెదురు-గాంచి విట్ఠలా॥
మ్రొక్కెద మ్రొక్కెద నీకు-ముద్దు విట్ఠలా
చక్కని మాతండ్రీ - స్వామి విట్ఠలా॥
ద్వారకానాథుడవయ్య - దారు విట్ఠలా
శ్రీరుకుమిణి పతివి నీవె - శ్రీవిట్ఠలా॥
శ్రీసత్యభామా పతివి- (సిరుల) విట్ఠలా
వాసవాది వినుత సార్వ-భౌమ విట్ఠలా॥

పండరంగి విఠలుని మీదను, వేంకట విఠలుని మీదను గల తాళ్ళపాకవారి పదములు కూడా కొన్ని ఉన్నవి. వల్లభముద్రలేకున్నా విఠలకృష్ణుని మీది పదమిది వల్లభాచార్యులదే కాబోలును.

(6.6.) 39-36

"నల్లని వానికి - నాగరీకునకు
తెల్లని నామపు - దేవునికి
చల్లని చూపుల-జానకీ పతికి, శ్రీ
వల్లభులకు మా - దండమయా ॥౧॥
పంకజనేత్రికి దండమయా,
తిరు - వేంకటేశునకు దండమయా॥ ॥పల్లవి॥
కింకిణీ ధరునకు - గిరి ధరునకును
శంకర ప్రియునకు - దండమయా॥
లంక రావణుని-మదమడచిన తిరు
వేంకటేశునకు-దండమయా ॥౨॥
కనకాంబరమును-కౌస్తుభరత్నము
(వనమాలయుగల) వానికిని
పణతి నురమ్మున (బాయక నిలిపిన)
పద్మనాభునకు - దండమయా ॥౩॥

(6.7) పు. 41 - పా.39

బాలకృష్ణుని మీది పాట - వేంకటముద్ర లేనిది.
"ఇంతులాల చెప్పరే వీ-డెవ్వడో గాని
(కంతున)ట్లున్నాడు - గయ్యాలవాడు ॥పల్లవి॥

పల్లవి, మూడు చరణాలతో నిండుగా ఉన్నది. వల్లభాచార్యుల వారిదే కాబోలును.

(6.8) పు.36-పా.34 తాళ్లపాకవారి ఏలపాటలు కొన్ని తిరుపతి రేకులలోనూ ఉన్నవి. ఇందులోని "గొల్లవారి యేలలు" కొన్ని, శిథిల రూపంలో దక్కినవి. వల్లభాచార్యుల వారి రచన కావచ్చు నేమో! "గులే వారీ ఏలాలు (= గొల్లవారి యేలలు) పాడెదము" అంటూ ముద్దులగుమ్మ, బాలకృష్ణమ్మ అనే సంబుద్ధులతో గల ఈ యేలపాట పంక్తు లివి మచ్చుకి.

"చిలకుల (?) రావి రేకా, నొసటన చిన్న పోలి గోలూ, పాల శంఖోలూ మేమూ దినసనలోనే అంమ్మా నీకు నేను వెన్న ముద్దా చీకీ కూకున్నా నీకు నిన్నూ విన్నెపిట్టేనూ రారా వేడి కా గుంమ్మా॥

"ఇదీ వ్రాత ప్రతిలోని వ్రాత తీరు.

"కెలకుల రావిరేక, గళమున పులిగోరు, మొలలోన పాలశంఖులు - ఓ ముద్దుల గుమ్మా!
చాలినంత వెన్న పెట్టేనూ - వేడుక గుమ్మా!
నీకు నేనూ వెన్న పెట్టేనూ....
కల్ల లేని బాలకుండా - కొల్లలాడబోకుర నేను
నల్లనయ్యా వెన్న పెట్టేనూ॥ నాముద్దుల గుమ్మా!
మారకాపురమున - కోరి కోరి వెలసిన - మురలీధరుడ
కృష్ణమ్మా! వేడుక గుమ్మా! నా ముద్దుల గుమ్మా!

అనే తీరుగా సుందరమైన ఈ ఏలపాటను సవరించి పాడుకోవలసియున్నది. మార్కాపుర సంబంధమిందు గుర్తింప దగిన అంశము. నేటి ఒంగోలు ప్రాంతంలోని చెన్నకేశవ క్షేత్రము.

(7.0) ఈ వ్రాతప్రతిలో విశిష్టంగా చెప్పు కోవలసినది శ్రీ కృష్ణుని జలక్రీడలకు సంబంధించిన పాట. ఇంచుమించు పాతిక చరణాలు గలది; అతి శిథిల రూపాననున్నది. శ్రుతులతో జతులతో పాడుకుంటూ ఆడుకుంటూ గోపాంగనలు జలక్రీడలకు రావడము, కృష్ణుడు వారి వస్త్రాలను దోచి దాచడము, చీరలిమ్మని వేడగా చేతులెత్తి మ్రొక్క మనడము, తుదకు వారి ననుగ్రహించడము ఇందులోని ఇతివృత్తము. దీని మాతృక యెట్టిదో కానీ రెండేసి పాదాలు గల ద్విపదుల రూపాన యతి ప్రాసలతో కూడుకొన్న సుందరమైన రచనగా ఉండునని తోచును. ఇట్టిదే మరొక రచన "చెన్నరంగ వాసా! పన్నగట-శయన రంగధామా!, కన్నెలు క్రీడలాడ కృష్ణుడు-చిన్నెలు గావించీ" అనే ఆరంభంతో ఆడువారి వాగ్వ్యవహారంలో నలిగినపాట కృష్ణశ్రీ సంకలనం చేసిన స్త్రీల పౌరాణికపు పాటలలో ఉన్నది (పు. 88-92). అది యీ పాట కన్నా పెద్దది. రచనల్లో సంవాద మున్నది. తులనాత్మకంగా పరిశీలించవలసినది. వల్లభాచార్యుల వారి వ్రాత ప్రతిలో అతిశిథిలమై కానవస్తున్న పాట యిది, వారు సేకరించి గ్రంథస్థం చేసుకొన్న పాతపాటే కానీ, యీ రచన వారిది కాదనీ, వారెరిగిన సన్నిహితుల దెవరిదో కాదగుననీ తోస్తున్నది. పాట చివరన "నాచారమ్మా కట్టిన పాటా నామా సంకీర్తనము" అని గేయకర్త్రి పేరుండడం ఈ ఊహకు కారణం. ఈ పాట కట్టిన "నాచారమ్మ" ఎవరన్న జిజ్ఞాసతో పరిశీలించగా వల్లభులవారి వంశావళిలో ఇట్టి పేరున్న స్త్రీ లెవరూ కానరాలేదు. తాళ్లపాక వారి నెరిగిన వారే వల్లభుల వారు. వారి పాటలు కూడా వీరి వ్రాతప్రతులలో చేరి యున్నవని మనమిది వరకే గుర్తించాము. ఈ దృష్టితో పరిశీలించగా తాళ్లపాక వారి వంశంలో నాచారమ్మ పేరుగల వనిత ఒక్కరే కానవచ్చారు. ఆమె ఎవరో కాదు అన్నమాచార్యుల వారి పెద్ద కోడలు. "పాడజెప్పగవర్ణ పద్ధతి నీడు జోడు లేదని సభ జొచ్చి వాదించి పరగినధీశాలి" నరసమాచార్యుని భార్య, నారాయణయ్యకు తల్లి, ప్రథమాంధ్ర కవయిత్రి అయిన తాళ్లపాక తిమ్మక్కకు కోడలు. ఈ నాచారమ్మ కూడా కవయిత్రి కాబోలును. ఈ పాట ఆమె రచన యగునా అని తోచెను. ఈ యూహ కుపబలకముగా తాళ్లపాక వాగ్గేయకారుల శిలా శిల్పాలుగా గుర్తింపదగిన వాటిలో కొన్ని స్త్రీ మూర్తుల శిల్పాలు గానదండెతో సూచీహస్తంతో ఉన్నవి కలవు. అట్టివేవైనా తాళ్లపాక తిమ్మక్కవో, నాచారమ్మవో కావచ్చునన్న ఊహకు బలాన్నిస్తున్నవి. ఇంతకూ ఈపాటలో "నాచారమ్మ కట్టిన పాట" అని ఉండడమూ, అది వల్లభాచార్యుల వారి వ్రాతప్రతి కెక్కియుండడము, అట్టి వాగ్గేయకారిణుల శిల్పాలుండడము ఇందుకు బలమైన కారణాలు. కనుక ఇది తాళ్లపాక నృసింహకవి భార్యయైన నాచారమ్మ కట్టిన పాటయనీ, ఆమె ఆ కుటుంబంలోని రెండవ కవయిత్రియనీ, తాళ్లపాక తిమ్మక్క తొలి తెలుగు

కవయిత్రికాగా నాచారమ్మ ద్వితీయాంధ్ర కవయిత్రిగా గుర్తింప దగిన రచయిత్రియనీ నేటికి లభ్యమైన ఆధారాలను బట్టి పేర్కొనవచ్చు.

తాళ్లపాక తిమ్మక్క రచించిన సుభద్రాపరిణయ మనే పెండ్లి పాట ఆడువారి గాన వ్యవహారంలో ప్రచారం పొంది రూపాంతరాలతో స్త్రీల పాటలకెక్కినట్లే ఈ నాచారమ్మ కట్టిన పాట కూడా లోకవ్యవహారంలో నానా రూపావతారాన్ని పొందినట్లున్నది.

7.1 తాళ్లపాక వారికిని, చుందుపల్లి వారికిని, వల్లభాచార్యుల వంశం వారికిని, తరిగొండ వేంగమాంబ వంశం వారికిని వివాహ సంబంధ బాంధవ్యాలున్నట్లు మన మిది వరకు (రసమయి03/08) గుర్తించిన అంశమే. కనుక వారి వారి వంశావళులను, ఇచ్చి పుచ్చుకొన్న ఆడపడుచుల పుట్టి నింటి వారి పేర్లను, పరిశీలించి చూస్తే మరికొంత సమాచారము లభ్యము కాగలదు. ఆ దిశగా సాగే పరిశీలనకు దైవమనుకూలించును గాకనీ, ఆయా కవి కుటుంబాల వారి యిండ్ల నుండీ, పీఠాల నుండీ తగిన సహకార ముందును గాకనీ కోరుకొందాము. ఇలాటి వంశావళులలో సాధారణంగా ఆడువారిని గూర్చిన వివరణ అధికంగా లేకపోవడము, ఉన్న వంశావళుల లోనూ కారణాంతరాలచేత సమగ్రత లేకపోవడము అనే లోట్లు ఇట్టి పరిశీలనలో ఎదురయ్యే ప్రతిబంధకాలనక తప్పదు. కనుక ఇట్టి సమస్యలను జాగ్రత్తగా పరిశీలించి పరిష్కరించుకోవలసియున్నది.

7.2 వ్రాతప్రతిలోని ఈ పాట పాదా లనేకం కలగాపులగంగా కలిసిపోయినట్లున్నవి. మాదిరికి ఇక్కడ నాచారమ్మ కట్టిన నామ సంకీర్తనపు పాటలోని కొన్ని ద్విపదుల్ని రచనలోని గతివైవిధ్యానికీ, ఇతి వృత్తానికీ సూచికలైన వాటిని పేర్కొంటాను. యతి ప్రాసలలోనూ చరణాల, అంకెల గుర్తింపులోనూ కొన్ని తడబాట్లున్నవి. గుర్తించి సవరించిన మేరకు వరుస క్రమంలో ఉదహరిస్తున్నాను.

"శ్రుతులను మీరకపాడెద మర్దళ -
గతులకు ధిమిధిమి దిద్ధిమి యనగా
జతులను మానక లీలగ నందలి -
గతులకు ధళాంకు ధళ ధళ్లనగా॥
వేణునాథ ప్రియ పరమాణు రూపా -
వినుమహో గోపీనాథా!
వీణను మీటుచు పాడెద మోహన -
కిణికిణికింకిణి కిణికిణి యనగా॥
ఎదద కంచుక మెదయ - నెవరు రాదెదుటకి
కడిది మకురు మాను - కంతుదా
మిడిమేలమ్మున - మిడికి మాయెద నీవు
వెదవినోదము లేమి - యాదేవు॥

* * *

జలక్రీడ చాలించి - బిల బిల మని స్త్రీలు
కొలనిగట్టున వలు - వలు గట్టగా వచ్చి
చెలు వైనయట్టి తమ - చీరెల గానక
వెలవెల ముఖములు - వ్రేలి చిన్నయి పాయ॥

* * *

మడుగులేరి తాను - వరదుడై తెచ్చిచ్చె
తదయక శ్రీహరి - తక్షణ మియ్య కొనరె
మడుగులు కావుగదా వెలసిన - మైలవెమా కియ్యరా
మడుగులు మాకేలరా అచ్యుత - మా చీరలే ఇయ్యరా॥

* * *

వనమునందున్నారము మాకు నా - వలికి రాను సిగ్గురా
కొనిన చీరల నియ్యరా కట్టేము-గోవింద మడుగు లేము
(అ) మచ్చె కూర్మ వరాహావతారుడా -
అచ్యుతుడ చీరలందీర
వామనుండ యియ్యరా చీరెలు - వాసుదేవ యియ్యరా॥
(చీరెలు సిగ్గులె) స్త్రీల కలంకారము -
శృంగారమయుడ నీవియ్యరా
వారిజ నాభుడా వాసుదేవాహరి -
వనమాలా ప్రియ (యియ్యరా)॥

* * *

సన్న దాటుల చీరె ఓ యక్కా -చాళ్లు పోసిన చీరె ఓయక్కా
విన్నదనముల చీరె విను మోయక్కా గో -
విందకూనచీరె ఓయక్కా॥
కరకంచుల చీరె ఓయకా -
కస్తూరి మల్లి చీరె ఓయకా
ఒరయు దంతుల చీరె ఓయకా -
ఉదయ రాగము చీరె ఓయకా॥
అందమద్దిన యట్టి దోయక్కా -
అవపూవన్నె చీరె ఓయక్కా
అందముగ ముత్యాలు వెండితో -
హంస చిలకల చీరె ఓయక్కా॥
చింతాకు వన్నె చీరె ఓ యక్కా మొగలి -
చిగురు వన్నె చీరె ఓ యక్కా
చెంద్రకావి చీరె ఓ యక్కా -
పొగడ (సిరి) వన్నె చీరె ఓ యక్కా॥
పగటు పట్టు చీరె ఓ యక్కా నీలి -
(వన్నె) కాంతుల చీరె ఓ యక్కా
నిగ నిగ మెరిసేటి దోయక్కా -
నీలి మేఘపు చాయ దోయక్కా॥

* * *

ఒందు చేతను మ్రొక్కితే చీరెలు - ఓ యక్క యిచ్చెదను
రందు చేతుల మ్రొక్కితే వలువలు - రక్షణ మయ్యేను॥

* * *

కంకణ స్వరములు - గౌళ స్వరములు మ్రోయగాను
కొంకక చేతులు విడిచి పెట్టి - గోవింద హరి యనరె॥
సురలు పూలవాన కురియగాను -
సురదుందుభులే మ్రోయ సాగెను
హరి అచ్యుతుందపుడువచ్చి -
వర(ము లిచ్చే నిచ్చు) మెచ్చి॥
మాట లెరుగకున్న మాతో (నాట)లాడె (మధుని)కుంజ ప్రియుడు హరియే
(పేటంచు చీరెల పేర్మిని) మా స్వామి -
పెట్టె మాకుంగోట్లు (సరియే)॥
నాచారమ్మా కట్టిన పాటా - నామా సంకీర్తనము
(వాచవులూర చదివిన వినినా - పాడిన పుణ్యము॥)

(నాచారమ్మ కట్టిన పాట వ్రాతప్రతినకలులో మచ్చుకు కొంత భాగం)

7.3 అన్నమాచార్యుల వారి సంతతి వారు అరిండ్ల వారై విస్తరిల్లినట్లే వల్లభాచార్యుల వారి సంతతి కూడా ఏడు పీఠాలుగా ఏర్పడినవని చరిత్ర, సంప్రదాయము చెబుతున్నవి. లభ్యమైనంత వరకు వారి వారి వివరాలివి.

నాటి తాళ్లపాక వారి అరిండ్లు ఇవీ -

1) ఊటుకూరివారు - తాళ్లపాక శేషాచార్యులు - సంకీర్తన సేవకై నేడు తిరుపతిలో నెలకొన్నవారు.

2) మడితాడు వారు - తాళ్లపాక సూర్యనారాయణయ్య - అన్నమాచార్య చరిత్ర ద్విపద కావ్యాన్నీ, అన్నమాచార్యులు తమ యింట పూజించిన పంచలోహ విగ్రహాదులను తిరుపతికి చేర్చిన వారు వీరే. పెద తిరుమలాచార్య దంపతుల బంగారు విగ్రహము నందించిన వారును వీరే (చూ. రసమయి 02/08).

3) పెద్దినేని కాల్వ గ్రామం మజరా బూడిదేటి పల్లెవారు - మహాదేవయ్య - వీరు ముదుం పాదుకి తరలివెళ్లిరి.

4) మాచనూరి వారు - తాళ్లపాక సుబ్బారాయుడు.

5) కమలాపురం తాలుకా రాజు పాలెం వారు - తాళ్లపాక లక్ష్మీ నరసయ్య.

6) వాయల్పాడు తాలూకా ఎఱ్రవారి పాళెం - తాళ్లపాక వేంకట్రామయ్య.

(ఆకరము - తాళ్లపాక సూర్య నారాయణయ్య గారు 1949 ఏప్రెలులో జరిగిన అన్నమాచార్య వర్ధంతి ఉత్సవ సభలో సమర్పించిన ప్రసంగ పత్రము. తి.తి.దే. వారు ప్రకటించిన నాటి నివేదిక చూచునది.)

7.4 వల్లభాచార్యుల వారి సంతతి వారు నెలకొల్పిన ఏడు పీఠాల వివరాలివి -

1. గిరిధర్‌జీ - విఠలనాథ్‌జీ పెద్ద కుమారుడు
2. గోవిందరాయజీ - విఠలనాథ్ జీ రెండవ కుమారుడు
3. బాలకృష్ణజీ - విఠలనాథ్‌జీ మూడవ కుమారుడు
4. గోకులనాథజీ - విఠలనాథ్‌జీ నాల్గవ కుమారుడు
5. రఘునాథ్‌జీ - విఠలనాథజీ ఐదవ కుమారుడు
6. యదునాథజీ - విఠలనాథజీ ఆరవ కుమారుడు
7. ఘనశ్యామజీ - విఠలనాథజీ ఏడవ కుమారుడు

(వీరిలో ఆరవ పీఠానికి చెందిన యదునాథజీయే శ్రీమద్వల్లభ దిగ్విజయకర్త). మొదటి పీఠాధిపతియైన

వల్లభాచార్య పరంపరలోని కొందరు పీఠాధిపతులు
(నారాయణదాజీ (ప్రకటించిన) వల్లభాచార్య మహారాజాస్ - గురూస్ ఆఫ్ వల్లభాచార్య సెక్ట్ - బాంబే 1863 (చూ. ఎస్‌సిబి వారు ప్రచురించిన గ్రంథము)

గిరిధర్‌జీ సంతతిలో 16వ తరానికి చెందిన నేటి పీఠాధిపతి పూజ్యశ్రీ ఘనశ్యామజీ మహారాజ్ వారే వల్లభాచార్యుల వారి వ్రాతప్రతులను, వంశావళిని మనకందించిన వారు)

8.0 మనకిప్పటి వరకు ఆ మహనీయులైన మూలపురుషులకు సంబంధించి లభించిన సాధనసామగ్రి ఆయా శాఖల వారు సమకూర్చి లోకాని కర్పించినవే. తాళ్లపాక అన్నమాచార్యుల మనుమల తరం నుండీ వారు ఆరిండ్ల వారై విస్తరిల్లినట్లే వల్లభాచార్యుల వారి మనుమల తరం నుండీ వారూ ఏడిండ్ల వారై దేశంలో విఖ్యాతి కెక్కినారు. వీరిలో అన్నమాచార్యుల మనుమడు తాళ్లపాక చిన తిరువెంగళనాథుడు అన్నమాచార్య చరిత్ర వ్రాయకపోయినా, దానిని చిన్నన్న వంశం వారైన సూర్యనారాయణయ్య జాగ్రత్త చేసి తిరుపతికి చేర్చకపోయినా, దానిని ప్రభాకరశాస్త్రి గారు పరిష్కరించి దేవస్థానం వారి చేత ప్రకటింప జేయక పోయినా మనకీనాడు అన్నమాచార్యుల ప్రఖ్యాతి ఇంతగా తెలియకనే పోయేది. అలాగే వల్లభాచార్యుల వారి మనుమడైన యదునాథుడు వల్లభ దిగ్విజయం వ్రాయకుండినా, వారి పీఠంవారు ఆ గ్రంథాన్ని జాగ్రత్త చేసి వెల్లడించక పోయి వుండినా వల్లభాచార్యుల వారి జీవనరేఖ మనకీ మాత్రమైనా తెలిసి ఉండేది కాదు. అట్లే సోమనాథ కవి వ్యాసతీర్థుల చరిత్రను గ్రంథస్థం చేయకపోయినా మైసూరు వారో, మాధ్వ గురుపీఠం వారో, దానిని సంపాదించి ప్రకటింపక పోయి వుండినా వ్యాసయోగి కథ అందదుకులు గానే ఉండేదని చరిత్ర పరిశోధకులనడంలో సత్యం లేకపోలేదు. కనుక మరిన్ని విశేషాలు అట్టి వ్యక్తులనుండీ, సంస్థల నుండీ క్రమక్రమంగా నైనా తెలియ రాగలవని ఆశిద్దాము.

9.0 వ్రాతప్రతిలోని పాటల పట్టికయిది. జాగ్రత్తగా పరిశీలించి పరిష్కరించి ప్రకటింప వలసిన ఇలాటి కీర్తనలన్నీ వెలుగులోకి రావడానికి మరికొంత కాలం పట్టగలదు కనుక ఈ లోగా చవులూరించే వాచవి యిది.

పుట.	పాట సంఖ్య	పాటమొదలు	సూచన
1.	3	లాలిజోజోజోజో॥	ఇది పాట ముగింపు; పూర్వ భాగము లుప్తము
	4	వేదములకంబములు	
	5	పట్టుపట్టమ్ములు	
2	?	హే దయాలంకార	
	15	గోపాలపతి	
3	?	శృంగారముల కెల్ల శృంగారమైనట్టి	-
	?	జోజో కులరత్నమా	
4	16	నవరత్న ఖచిత	
5	8	దొంగిలిన యీ వేళ	
6	18	నదవది చూచటి(?)	పెద్దపాట
8	9	శేషతేత శేషశాయి	
	?	శ్రీరామభద్ర సాయమ్మ లాలి	పెద్దపాట
	?	ప్రసన్న వేంకట ముద్రతోగల పాట	
10	10	ధాతాకు తాతయైన తండ్రిలాలి	
	11	గోపిదేవి నీసుతుడు కొల్లకాదమ్మా	
11	?	ఏమని చెప్పేదమ్మా	
	?	ఇంద రారా గోవింద రారా	
12	12	కనకంపు చరణాలు -	తాళ్లపాక వారి పాట (రసమయి 12/07)
13	13	నిగనిగ మనోహర -	పెద్దపాట
15	?	శతకృత (?)	
15	14	చెంజి వెంకట నాథరమణు	చెంజి వెంకట రమణ ముద్ర?
	?	అతిముదమున నేనూచెద	పెద్ద పాట
16	?	బాల గోపాలకృష్ణ జోజో	
17	15	ఉయ్యాలా జంపాలా ఊగునా తండ్రీ	(ముద్రితము రసమయి 12/07)
18	16	వేడిపాల దొంగ వెన్న ముద్దల దొంగ	
19	17	అజ్జుకు అజ్జుకు	
20	14	కనకంపు రత్నాలు ఘల్లు ఘల్లున	
	18	కనకాచల సమధీరం -	సంస్కృతం
21	15	వందే శ్రీరఘురామం -	సంస్కృతం
22	20	బ్రహ్మాజా (?) -	సంస్కృతం
23	?	ప్రేమ మూదామతీ	
24	21	శ్రుతులను పీరక -	నాచారమ్మ కట్టిన పెద్దపాట
29	25	మేలైన రత్న	
30	31	గజ్జలు ఘల్లన కలికి నవ్వుల తోను-గోకుల తెలుంగు రాయ రావయ్య	తెలుంగు రాయడు?
31	26	చిన్నారి పొన్నారి చిన్ని - గోపాల... పరగంగ గౌళ పాదేర జోల	గౌళలోజోల! గౌళరాగ ప్రస్తావన ఇందధికముగా కలదు.
32	32	వారిజ లోచన?	
	?	చందమామ తేవే జాబిల్లి తేవే	చందమామ పాట
33	38	పిన్న బాలుండయి వచ్చిని	
34	33	పాలలో చెయి ముంచీ	
	?	నల్లని మేఘచ్ఛాయవాడే	
35	30	శంఖుచేత పట్టుకున్న - స్వామి విఠలా	విఠలపదం
36	34	నాముద్దుల చిన్నారీ గుమ్మా ... గొల్ల వారీ యేలలు - పాడెదమనరే	ఏలపదం
37	31 ?	శ్రీ కృష్ణం కలయసఖీ మురహర నగధర (చూ.పు. 39)	(శ్రీమన్నారాయణ తీర్థుల తరంగం)
38	34?	సుందరులందరు	
39	35	నారాయణతే నమోనమో	తాళ్లపాక వారి పదం
	36?	నల్లని వానికి నాగరీకునకు	వేంకట ముద్ర కలదు
40	36?	కంకణ రవములు ఘల్లని మ్రోయగ	
41	38	మొలనూలు ఘంటలు మ్రోయకుండ	
42	39	ఇంతులాలా చెప్పరే వీడెవ్వడో కాని	
43	40	గామిడి తనానవచ్చి -	(తాళ్లపాక వారి పాట)
44	39?	పిన్నవాడు మాయింటికి వచ్చినాడు	
	41	ఎప్పుడూ వేదనయ్యా ॥పల్లవి॥	పల్లవి మాత్రమే కలదు

(ఇంతవరకే ఈ పాటలు దొరికినవి అని అందించిన వారి సూచన)

వల్లభ పీఠం వారు పంపిన వంశావళిని స్థలాభావం వల్ల ఇక్కడ ప్రచురించలేకపోతున్నాము. 15"X9" సైజులో వున్న ఆ చార్టును 'రసమయి' పేజీ సైజు (7½" X 5")కు కుదించి ముద్రిస్తే నాగరిలిపిలో అసలే చిన్నవిగా వున్న అక్షరాలు కనిపించే అవకాశం లేదు. - సం॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमत्प्रभुचरणस्वरूपनिर्णयव्याख्यानम् ॥

(गोस्वामिश्रीगिरिधरात्मजश्रीमथुरानाथकृतम्)

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान्।
सप्तात्मजयुतान् श्रीमद्दामोदरमहाशयान्॥१॥
श्रीविट्ठलधनान् श्रीमद्वल्लभांस्तत्सप्ततत्सुतान्।
श्रीमद्गिरिधरं श्रीमद्विट्ठलेशं तदात्मजम्॥२॥
द्वारकेशं गिरिधरं नमस्कृत्य पुनःपुनः।
सायं कुञ्जालयस्थेति श्लोकस्य तु विचारणम्॥३॥
कृपाबलमुपाश्रित्य क्रियते नान्यथा मया॥
अतो विचारे साहाय्यं कुर्वन्तु विमलाशयाः॥४॥
न स्वाध्यायबलं न यागजबलं नो वा तपस्याबलम्।
न वैराग्यबलं न योगजबलं नाप्युक्तभक्तेर्बलम्॥
नैव ज्ञानबलं नचान्यदपि यत्किञ्चिद्बलं मेस्ति किं।
अद्यश्वोपि यदा तदा तव कृपाकूतेक्षणं मे बलम्॥५॥

अथ श्रीमद्रघुनाथचरणाः स्वपितृचरणान् ध्यायन्तः तत्स्वरूपं वर्णयन्ति -

सायं कुञ्जालयस्थासनमुपविलसत्
स्वर्णपात्रं सुधौत्रं राजद्यज्ञोपवीतम्
परितनुवसनं गौरमम्भोजवक्त्रं ॥
प्राणानायम्य नासापुटनिहितकरं
कर्णराजद्विमुक्तं वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं
मृगमदतिलकं विट्ठलेशं सुकेशम् ॥१॥

'सायम्'इति **'प्रातर्'**इति वा पाठः. काले इति शेषः. उभयसामयिककर्म-

णाम् अत्यावश्यकत्वम् अव्ययत्वाद् द्योतितमिति पुष्टिमार्गीयमर्यादायाः श्रुतिसिद्धत्वं ज्ञापितम्. विद्वनमण्डनभाष्ययोः निरूपितानि साधनानि फलरूपाणि **''तस्माद् अस्माभिरेवोक्तं...''**इत्यारभ्य **''गोपीशसंसेविनाम्''** इत्यन्तम्. निबन्धेपि **''वर्णाश्रमवतां धर्म श्रुत्यादिषु यथोदितः तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्यन् जीवता.''** (त.दी.नि.२।२२३) बालबोधेपि **''स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा''** (बा.बो.१९) श्रीमद्भागवतेपि **''मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः. वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत्''** (भाग.पुरा.११।-१०।१) बाह्यतोपि मर्यादा न पुष्टिः इति सिद्धम्. **''कर्मापि एकं तस्य देवस्य सेवा''** (त.दी.नि.१।४) इति जगदीशवचनात् पुष्टि वाटिकायाः देशाद्यधिकरणस्यापि उत्तमत्वम् आहुः **'कुञ्ज'**इति कौ = पृथिव्यां जाताः कुञ्जाः वृक्षाः पृषोदरादित्वात् नुम्. नानात्वेन तेषां पुष्पाणां महासौरभ्यवत्त्वेन कुञ्जत्वं सिद्धम्. **''वैष्णवा वै वनस्पतयः''** (बोधा.गृह्य.सू.३।८।४) सर्वत्र प्रवेशयुक्तस्य सेवाकरणे पत्रमूलफलच्छायादिभिः स्वामिन् उपयोगिपदार्थान् सम्पादयन्त्येव सर्वेषां पक्षीणाम् उपकारित्वे सति **''अहो एषां वरं जन्म''** (भाग.पुरा.१०।१९।३३) इति कुञ्जरूपं यद् आलयं तत्स्थम् आसनं यस्य तं कुञ्जालय स्थासनम्. उपकरणस्यापि समीचीनत्वम् आहुः **उपेति**. आसनस्य समीपे मज्जनादि विलसद् देदीप्यमानं स्वर्णमयं पात्रं यस्य तम्. परिधृतानामपि उत्तमत्वम् आहुः **सुधौत्रम्** इति. सुष्ठु शोभनं धौत्रं कटिवस्त्रं यस्य तम्. भूमिरूपकटौ मायारूपस्य आच्छादनस्य शोभनत्वकथनेन शरणागतेषु माया न व्यामोहिकी इति सूचितम्.

वेदरूपस्यापि उत्तरीयवस्त्रस्य उत्तमत्वम् आहुः **राजद्** इति. राजद् देदीप्यमानं यज्ञोपवीतवद् उपरितनं वसनं यस्य **''वासश्छन्दोमयं पीतम्''** (भाग.पुरा.१२।११।११) इति वाक्यात् वासस्य वेदरूपत्वाद् उभयोः वाससोः अत्यावश्यकत्वम् वेदविदां सर्वकाले. **'राजद्'**पदेन मनोमलिन्यनाशकत्वं प्रकाशत्वं च. उपरितनत्वकथनेन सर्वासां शक्तीनाम् इच्छाशक्त्यधीनत्वम्.

वर्णस्यापि उत्तमत्वम् आहुः **गौरम्** इति गौरवर्ण यस्य तम्. अंजसोः

अभास्वरभास्वरयोः वर्णयोः स्वरूपप्रापकत्वं शोधकत्वं च प्रसिद्धम् .

नेत्रवक्त्रयोरपि समीचीनत्वम् आहुः **अंभोजेति.** अम्भोजवत् नेत्रे अम्भोजवद् वक्त्रं वा यस्य इति. अम्भोजं हि जले रूपसौगन्ध्यादिना शोभाजनकं भवति तथा रूपसागरे नेत्रे शोभाजनके भवतः. तेन भक्तानां तापनाशकत्वम् कृपादयादिना मनोहारित्वं च. नेत्रयोः शशिसूर्यत्वेन भक्तानां आह्लादकत्वम् भक्तद्विट्दाहकत्वं च. गौराम्भोजशब्दयोः सन्निहितत्वेन यथा नीलपंकजे श्यामगौरतादर्शनं, यथा मेघे विद्युद्दर्शनं क्वचित्, यथा सन्ध्ययोः रक्तपीताभादर्शनं, यथा चित्ताकर्षणेन शोभया दृष्टिखलं(?) वर्ते(?) तथा तद्भवत्येव भावुकस्य. **वक्त्रम्** इति पाठे मुखं यस्य सर्वांगेषु श्रेष्ठत्वेन फलरूपम् अम्भोजनेत्रं वक्त्रं वा. भक्तिदानार्थं वागमृतस्रावित्वं भक्तियोगवितानार्थं हेतुहंसनिरूपणं टीकानिबन्धवाक्यानां टिप्पणी च तथाविधा यथा सूर्यः स्वगोभिः मोक्तुम् आरेभे पर्जन्यकालागते तथानुग्राहकालस्य स्वेच्छाधीनत्वात् पूर्वं सत्त्वेपि यदैव इच्छा भवति तदैव कृपया वृष्टिः जायते पश्चाद् बीजवपनं वृद्धिश्च फलादिरसग्रहणं च भवत्येव न अन्यथा इति विनिश्चयः. **नेत्रे** इति पाठे **''श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिते''** (हारित.) अत्रैव ब्रह्मवेद्यत्वम् प्रकाशत्वं च. **'अम्भोज'**पदेन वेदवेदान्तार्थरूपमकरन्दविस्रा-विणः तादृग्दर्शनकर्तृणाम् अनुभवैकवेद्यत्वं दामोदरदासादीनां वार्तायां **''भो प्रभो! स्वगृहप्रेक्षणं कुरु''** इति प्रार्थने तथानुभवसिद्धिः. यद्वा श्रीमदाचार्याणां भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डत्वे हि तदात्मजत्वेन हि **''आत्मा (वै जायते पुत्रः) वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्''** (शतपथब्राह्मण. १४।९।४।२६) **''सूर्य आत्मा दृगीश्वर''** (भाग.पुरा.५।२०।४६) इत्यादि कथनात् तेजसः सकाशाद् अंशवः प्रसृताः भवन्तु इति **'कर्मजाड्यभिदुष्णांशु'**त्व कथनं पश्चाद् **'भक्तनेत्रसुधाकर'**त्व (नाम.स्तो.३१,३२) कथनं नामरत्नेपि शशिसूर्यनेत्रत्वेन सर्वेषां चक्षुप्रकाशकत्वं तथैव स्वात्मजानां स्वदासानां भगवल्लीलागानादिकरणेन अनुभववैद्यत्वं कुंभनदासादिषु, मायावादिनां निराकरणं विष्णुदासादिषु.

एवं ज्ञानशक्तेः उत्कर्षम् उक्त्वा क्रियाशक्तेः उत्कर्षम् वदन्तः नृस्वरूपस्थितेः **'आद्'** उत्कर्षम् आहुः **प्राणानायम्य नासापुटनिहितकरम्** प्राणानाम् आयमनम् एकीकरणं पूरककुम्भकरेचकैः इति सन्ध्यासमये ध्यानार्थं तथा निरूपितं श्रीमत्प्रभुचरणैरेव स्वामिनीप्रार्थनायां **''त्रिषवणमिह भवदंघ्रिप्रणतिः सन्ध्या''** (स्वा.प्रा.स्तो.३) प्रकृष्टदैन्येनेति तेन आदौ सर्वदैव तत्करणं द्योतितम्. एकादशे भगवदाज्ञापि **''सम आसन आसीनः''** (भाग.पुरा.११।१४।-३२) इत्यादिना प्राणानाम् आसन्यानाम् आदौ यमनम् ईषद् उपरमणं कृत्वा लोके तत्क्रियाप्रदर्शनार्थं नासापुटे निहितः करो येन तम्. प्रातः सायम् इति पाठ द्वयेन प्रत्यहं सन्ध्या संदंशन्यायेन वा माध्याह्नसन्ध्यापि गृहीता. अतएव **''त्रिषवणम् ...''** (स्वा.प्रा.स्तो.३)इति वाक्यम्.

सामीप्यमुक्तिभाजां पुरुषाणाम् उत्कर्षं निरूपयन्तः सांख्ययोगयोः स्वरूपम् आहुः **कर्णराजद् विमुक्तम्** इति कर्णयोः राजन्ति विमुक्तानि यस्य तम्. दिग्रूपयोः कर्णयोः राजन्ति मध्ये आरक्ताणि सहितानि विमुक्तानि अलम्बमानानि यस्य. यद्वा विशेषेण मालादिभिरपि शोभितां जातः लोकदृष्ट्यापि. वस्तुतस्तु अलौकिकभूषणयुक्तः. अतएव **''श्रुतिसूत्रादिमणिभिः जटितं युक्तिमौलिकैः ग्रथितं कुरुते विद्वन्मण्डनं विट्ठलः सुधिः''** (विद्व.मण्ड.) इति स्वेनैव उक्तम्. **''अप्राकृताखिलाकल्पभूषितः''** (सर्वो.स्तो.१०३) **''रत्नधातमम्''** (ऋक्.संहि.१।१।१।१) **''श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभू-षितामूर्तिः''** (स्फु.स्तो.२) इति. अतः सारूप्यं प्राप्ताः ते भगवतो अत्र तारासु लीनाः तदर्थं अर्धोन्मीलिताक्षः. यदि पूर्णोन्मीलिताक्षः स्यात् तदा पूर्णज्ञानेन ते एकत्वं प्राप्नुयुः सेवां न कुर्युः. यदि मीलिताक्षः तिष्ठेत् तदा पूर्णज्ञानाभावाद् बहिर्मुखा भवेयुः. अतो अर्धोन्मीलिताक्षः तिष्ठति. तेन यथा सुखं सेवामेव कुर्वन्तो न एकतां गताः अबहिर्मुखाः वा भवन्ति.

भालशोभां वर्णयन्ति **मृगेति.** मृगमदस्य कस्तुरिकायाः तिलकं यस्य तम्. अत्र **'मृग'**पदेन मृगलोचन्यो लक्ष्यन्ते तासां मदः सौभगमदः स

एव तिलकं यस्य तच्च सहजम् . अतएव श्रीहरिरायाः ''**सहजकस्तूरिकातिलका-न्विताय नमः**'' (श्रीविट्ठल.अष्ट.नाम.१०८) इति पेठुः

अतः परं विशेष्यं मुख्यं नाम आहुः '**श्रीविट्ठल**' इति. क्रिया ज्ञानेन ठाः शून्याः तान् लाति इति विट्ठलः स च असौ ईशश्च ते ईष्टे ऐश्वर्यं घटयति इति स्वामी तम्, ईशः भक्तानां, कालः; अभक्तानां तम् .

श्रृंगारं वर्णयन्ति **सुकेशम्** इति. शोभनो केशः श्रृंगारो यस्य. सहजकस्तूरिकातिलकेनैव महासुवर्णत्वं, भूषणेरपि.

यद्वा ''**अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्**'' (भाग.पुरा.३।२९।३२) इति सुकेशत्वम् . यद्वा अर्धोन्मीलिताक्षेण कृपावलोकनं स्वीयेषु पूर्णोन्मीलिताक्षेण तु स्वस्मिन्नेव सुकेशम् इति ''**लावण्यं केशधारणम्**'' (भाग.पुरा.१२।२।६)इति मानसिकसर्वदोषवर्जितं भगवत्सेवायाम् उपयोगिनं ''**स्त्रीयो वा पुरुषो वापि भतृभावेन केशवं हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः**'' ( ) इत्युक्तरूपं पूर्वं फलत्वेन कथनेपि केषाञ्चिद् अधिकारित्वेन तत्समयेपि अंगीकारः पुनः तत्र अवशेषाणां स्वमार्गीयज्ञानशून्येष्वपि कृपां कृत्वा अस्मदादिसदृशामपि स्वकीयप्रतिज्ञया ''**अस्मत्कुलं निष्कलंकम्**'' (श्रीललि.त्रि.स्तो.१) इति कथनात् कलंको अत्र भगवद्वैमुख्यं तेन राहित्यकरणं स्वात्मसात्कृत्वा करोति. भवान् सर्वं करोति कारयति करिष्यति अकरोत् कर्ता च इति निश्चयः. ''**श्रीविट्ठलः कृपासिन्धुर्भक्तवश्योतिसुन्दरः**'' (नाम.स्तो.१ - ४) इति पुष्टिमार्गीयधर्मादिसि-द्धिरूपत्वेन.

इति श्रीगिरिधरात्मज - श्रीमथुरानाथकृता
'**सायं कुञ्जालय**'श्लोकविवृत्तिः सम्पूर्णा.

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

(अ - आ)

इ - ई

उ - ऊ

ऋ - ॠ

ए - ऐ

(ओ - औ)

(क - ङ)

(च - ञ)

(त - न)

(प - म)

(य - व)

(श - ह)